आचार्य श्री तुलसी
जीवन-दर्शन

आचार्य श्री तुलसी : जीवन-दर्शन

लेखक

साहित्य-परामर्शक मुनिश्री बुद्धमल्लजी

सम्पादक

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

मुनिश्री मोहनलालजी 'शार्दूल'

प्रस्तावना

श्री जैनेन्द्रकुमार

प्रकाशक
सोहनलाल बाफणा
संचालक,
साहित्य निकेतन
४०९३, नयाबाजार, दिल्ली-६

●

प्रथम संस्करण, अगस्त १९६२
द्वितीय संस्करण, सितम्बर १९६३

मूल्य : ३ रु० ५० न० पै०

मुद्रक
.। प्रेस, किंग्सवे, दिल्ली

सरलमना मुनिश्री दुलीचदजी (सादुलपुर) को
जिन्होने निष्काम भाव से अपना सम्पूर्ण जीवन
आचार्यश्री की व्यक्तिगत सेवा में
समर्पित कर रखा है ।

प्रस्तावना

सन्त तुलसी भारत के प्रेरक पुरुषों में से हैं। किन्तु सन्त से प्रथम वह आचार्य हैं, तेरापंथ जैन सम्प्रदाय के गुरुपदासीन अधिष्ठाता हैं। ऋषि और सन्त परीक्षा और प्रयोग के व्यक्ति हुआ करते हैं। आचार्य को शासन-गुरु की मर्यादा के संरक्षण और पालन का भी दायित्व लेना पड़ता है। ऋषि अपने जीवन और अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में मुक्त और निर्द्वन्द्व हो सकते हैं। आचार्य के पीछे एक परम्परा रहती है और उन्हें अनुगामियों के साथ चलने और उन्हें चलाने के कर्तव्य का निर्वाह करना होता है। तुलसी जी की यह कुशलता है कि अपने उदाहरण से वे इन दोनों स्थितियों और गुण-स्थानों के बीच समन्वय साधते चलते हैं।

यह कठिन साधना है। भविष्य के निर्माण-स्वप्न में जो रहते हैं, वे मर्यादा के विचार में असावधान हो जाते हैं। परम्परा से मानों उन्हें विमुखता धारण करनी होती है। उधर जो अतीत के प्रति आस्था और निष्ठा रखना चाहते हैं, वे भविष्य के आह्वान के प्रति उतने सचेत और सवेग नहीं रह पाते। प्रगति और परम्परा के बीच यह घर्षण चला ही करता है। प्रगति के विचार को लेकर जो क्रांतिकारी बनते हैं, वे किसी धर्म-विचार अथवा नीति-विचार के लिए रुकना नहीं चाहते। वर्तमान की त्रुटियों के प्रति अधीर होने का वे अपना हक मानते हैं। विश्लेषणपूर्वक वे प्रतिपादन करते हैं कि अतीत से जड़ित रहने के कारण ही वर्तमान भावी के प्रति सही गति नहीं कर पाता। इसलिए अमुक को (व्यक्ति अथवा रीति अथवा व्यवस्था को) गिराने और उखाड़ने की वे अनिवार्यता देखते हैं। वे उस धर्म को सहना नहीं चाहते जो असहिष्णु होना नहीं सिखाता।

तुलसी जी को निकट से देखने का मुझे अवसर मिला है। उसको मैं अपना सद्भाग्य ही गिनता हूं। उनकी सजगता और तत्परता के प्रति मेरे मन में सराहना जगी है, तब उनकी विषम स्थिति पर सहानुभूति भी उपजी है। वह अपने पथ की गद्दी के नवम शास्ता आचार्य हैं। इस प्रकार लाखों श्रद्धालुओं का एक सम्प्रदाय उनके निरीक्षण और नियंत्रण में है। अमुक सिद्धान्त और शास्त्र के सहारे वह आम्नाय चलता है। लगभग वह समुदाय उस शास्त्र-व्यवस्था पर ही आश्रित है। उस संघ की श्रद्धा को विचलित नहीं किया जा सकता, शास्त्र के सूत्र की व्याख्या में अन्तर नहीं डाला जा सकता। फिर भी वह संघ समय की गति के साथ आए और आगे चले, यह कार्य कठिन है और महाप्राण पुरुष के ही योग्य है। तुलसी उस अग्नि-परीक्षा में जूझ रहे हैं।

उनको मध्यम मार्ग से चलना पड़ता है। इस प्रयास और साधना में दोनों ओर का असन्तोष उन्हें झेलना होता है। परम्परा से लगकर चलने वाले इस पर रुष्ट होते हैं कि कुछ नूतन लाया जा रहा है, पुरातन की अवहेलना हो रही है। उधर सुधारकों और प्रगतिवादियों का वर्ग इसलिए असन्तुष्ट रहता है कि रूढ़ि से चिपटकर चला जा रहा है, जिसका अर्थ है कि चला ही नहीं जा रहा, बल्कि समाज को विवश गतिहीन जकड़ में रखा जा रहा है। तुलसी इन दोनों दिशाओं के अतिवादों को झेलते हुए बड़े प्रत्यय और बड़े कौशल से चलने की कला साध सके हैं। इसको जीवन-कला कह सकते हैं, चाहे तो कूटनीतिज्ञता भी कह सकते हैं।

मेरा उनसे पहला साक्षात्कार रुचिकर नहीं हो पाया। मुझे पंथ में या गुरु में दिलचस्पी नहीं है। प्रथम साक्षात्कार उन्हीं से और उसी मात्रा तक रहा। बाद में अणुव्रत के विचार और अभियान को लेकर वह दिल्ली आये। मैं अरुचिपूर्वक उनसे मिलने को तैयार न था। अधिक आग्रह पर मैंने अपने साथ तर्क किया कि जिज्ञासु में अभिमान और

अवज्ञा कैसे रह सकती है? और शिष्टाचारवश एक अन्तरंग कही जाने वाली गोष्ठी में गया। उस भेंट में मैंने व्यक्ति के दर्शन पाए और देख सका कि वह व्यक्ति खरा है और उसमें आग है। मैंने तभी पूछा, आप आचार्य हैं और सब जन समाधान के लिये आपकी ओर देखते हैं। आप में भी तो प्रश्न उठते होंगे, कभी समस्याएं घेर लेती होंगी। दूसरे लोग तो आपके पास आ जाते हैं,आप अपने उस कष्ट को लेकर कहाँ जाते और क्या करते होंगे?'

तुलसी ने कहा—'हाँ, उस कष्ट को मैं कहीं डाल जो नहीं सकता, वही मेरी परीक्षा है। वही कीमत है जो इस पद के लिए मुझे हर घड़ी चुकानी होती है। इसलिए यह कोई गौरव और श्रेष्ठता की ही जगह नहीं है, घोर यातना की भी है। उस मर्म को मैं ही जानता हूं। लेकिन यह क्यों समझते हो कि ये सब मेरे शिष्य हैं? नहीं, ये साथी भी हैं।'

उस वार्तालाप से मैं देख सका कि तेरापंथ के एकमात्र गुरु और शास्ता होने पर भी जिज्ञासु और साधक उनमें जगा हुआ है। वह साधनाशील पुरुष किसी प्रमाद के अधीन नहीं है। वह जागरूक है और अपने को कसता रहता है।

तेरापंथ एक अद्‌भुत संगठन है। उसके केन्द्र में नितान्त अपरिग्रह है। उसकी सत्ता के साथ सम्पदा का स्पर्श नहीं है। नींव में न स्थान है, न संस्था है, न संस्थान है; फिर भी वह सत्ता अक्षुण्ण देखी जाती है। जैनों का कोई दूसरा सम्प्रदाय इतना सुगठित नहीं है। आचार्य तुलसी के प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप यह भी मैं कह सकता हूं कि इस सम्प्रदाय का श्रावक और मुनि वर्ग, उसका साकार भाग तो अवश्य, विज्ञान-व्यवहार की आधुनिक गति-मति से अधिक ही अवगत है, कम नहीं।

यह संगठन यदि सबसे अधिक पुष्ट और दृढ़ है तो कभी यह प्रश्न और विस्मय का भाव उत्पन्न करती है। यदि उस

व्यक्तित्व के उस मर्म की भी झाँकी उससे मिल पाती है। इसके लिए मुनि बुद्धमल जी की दृष्टि और शैली की सराहना करनी होगी। वह निर्मल और प्राँजल है। यदि उस में समीक्षा के तत्व पर्याप्त नहीं है तो उसे त्रुटि नहीं माननी चाहिये। उनके साथ मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' और मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' का सम्पादकीय अध्यवसाय अभिनन्दनीय है।

१४ अक्टूबर '६३
दिल्ली

—जैनेन्द्रकुमार

भूमिका

आचार्यश्री तुलसी वर्तमान के जैनाचार्यों में सबसे अधिक चर्चित आचार्य हैं। उनके आचार्य-काल को इस समय २१ वर्ष सम्पन्न हो चुके हैं।[1] उन्होंने अपने इस महत्त्वपूर्ण समय का पूर्वांश मुख्यतः तेरापंथ की प्रगति में और परिचमांश जन-कल्याण में लगाया है। साधारणतया ये दोनों कार्य समवलित रूप से चलते रहे हैं।

जनता के पास श्रद्धा की कमी नहीं है। विशेषतः भारतीय जनता इस विषय में गाँठ की पूरी है। पर वह गाँठ सरलता से नहीं; कठिनता से और हर एक के लिए नहीं; किसी विशेष के लिए ही खुला करती है। आचार्यश्री के लिए वह खुली है। उन्होंने जनता से असीम श्रद्धा प्राप्त की है। परन्तु प्रकृति के नियमों में शायद यह बात मान्य नहीं है कि कोई केवल श्रद्धा ही प्राप्त करे। वर्षा की बूँदें जहाँ गिरती हैं; वहीं आँधी उठाने का भी प्रकृति ने कोई विशिष्ट प्रबन्ध कर रखा है। जब जनता की अयाचित श्रद्धा उन पर बरसने लगी तो विरोध और विद्वेष की आँधी का उठना भी स्वाभाविक ही मानना चाहिए। वे श्रद्धा और अश्रद्धा के इस सम्पुट में रहकर निर्लिप्त भाव से अपना कर्तव्य किये जा रहे हैं। न उन्हें श्रद्धा पर आसक्ति है और न अश्रद्धा पर आक्रोश। श्रद्धा के प्रसून और अश्रद्धा के हलाहल को समभाव से पचाते हुए अपना कर्तव्य करते रहने का ही उन्होंने लक्ष्य निर्धारित किया है।

आचार्यश्री के जीवन का अध्ययन करते रहने का सुअवसर मुझे मेरे बाल्य-काल से ही प्राप्त है। मेरा विद्यार्थी-जीवन उनकी देख-रेख में ही बीता है। यद्यपि मेरे लिए उनका बाल्य-जीवन और अधिकांश मुनि-जीवन केवल श्रवण का ही विषय रहा है; पर उनके मुनि-जीवन के कुछ वर्ष

---

1. इस समय उनके आचार्यत्व का सत्ताईसवां वर्ष चल रहा है; जो भाद्रपद शुक्ला नवमी को पूर्ण होगा।

तथा आचार्य-जीवन के गत १६ वर्षों से सम्पर्क के निकट रहे हैं। मेरी आँखों ने इन वर्षों में उनको काफी निकटता से देखा है, मस्तिष्क ने यथाशक्ति स्पष्टता से परखा है और मन ने अपनी ग्रहण-शीलता से उनके विषय में अनेक निष्कर्ष निकाले हैं। यहाँ उन्हीं निष्कर्षों को शब्दांकित करने का प्रयास किया गया है।

व्यक्ति की आकृति को कागज पर उतारने में जितनी कठिनाइयाँ होती हैं, उससे कहीं अधिक उसके व्यक्तित्व को कागज पर उतारने में होती हैं। आकृति सरूप होती है; उसे किसी एक ही क्षेत्र और काल के आधार पर चित्रांकित कर लेना पर्याप्त हो सकता है; परन्तु व्यक्तित्व अरूप होता है, साथ ही वह व्यक्ति के सम्पूर्ण क्षेत्र और काल में व्याप्त रहता है। इसलिए उसे शब्दांकित करने में अपेक्षाकृत दुरूहता और भी अधिक बढ़ जाती है। उसके विषय में कही गई प्रत्येक बात को जनता बड़े ध्यान से मापती-जोखती है। अपने निष्कर्षों से लेखक के निष्कर्षों का मिलान करती है। यदि उनमें कहीं समानता नहीं हुई तो उसका भी उत्तर चाहती है। किन्तु यह निश्चित है कि सबके निष्कर्ष एक समान नहीं हो सकते। उनमें तरतमता रहती ही है। यद्यपि वह तरतमता निष्कारण नहीं होती। विभिन्न मानसिक स्तर, पूर्व-संकल्प तथा परिस्थितियाँ उसे उत्पन्न करती हैं। फिर भी शब्दांकन करते समय लेखक के लिए यह आवश्यकता तो हो ही जाती है कि वह न केवल अपने ही निष्कर्षों को आधार बनाये; अपितु दूसरों के निष्कर्षों से भी अभिज्ञ रहे तथा आवश्यकता हो तो उनके विषय में मीमांसा भी करे। मैंने इस बात का आद्योपांत ध्यान रखने का प्रयास किया है।

यह प्रायः समग्र पुस्तक मैंने अपने गंगाशहर चातुर्मास (सं २०१८) में ही लिखी है। इसके लेखन में मैंने मुख्यतः 'ख्यात' का तथा जैन भारती के विभिन्न अंकों का उपयोग किया है। इनके अतिरिक्त आचार्य तुलसी, समय-समय पर उनके कार्यक्रमों से सम्बन्धित निकलने वाले बुलेटिनों तथा कुछ अन्य पत्रों आदि का भी सहयोग लिया है।

यद्यपि यह जीवनी आचार्यश्री के धवल-समारोह के अवसर पर भारत

के वर्तमान राष्ट्रपति (तत्कालीन उपराष्ट्रपति) डॉ० राधाकृष्णन् द्वारा आचार्यश्री को जो अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया गया था, उसमें द्वितीय अध्याय 'जीवनवृत्त' के रूप में प्रकाशित हो चुकी है, फिर भी स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में इसका अधिक उपयोग सम्भव है। इसका प्रायः मैटर तो वही है; जोकि अभिनन्दन ग्रन्थ में दिया गया है। केवल तीन परिशिष्ट और जोड़े गये हैं जोकि धवल-समारोह, जन्म-कुण्डली, चातुर्मासों और मर्यादा-महोत्सवों की सूची, उद्धृत ग्रन्थों की सूची तथा व्यक्तियों और गाँवों के नामों से सम्बद्ध हैं।

प्रथम परिशिष्ट के अतिरिक्त शेष परिशिष्ट मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' के परिश्रम का फल है। सामग्री चयन करने में मुनि राजकरणजी, मुनि मांगीलालजी 'मुकुल', मुनि चन्दनमलजी (श्रीडूंगरगढ़) तथा मनोहरलालजी का बहुत बड़ा सहयोग रहा है। सम्पादन का कार्य मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' और मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' ने किया है।

किसी भी महापुरुष के जीवन का सर्वांगीण दर्शन कर लेना सहज नहीं है। उनके सर्वतोमुखी जीवन को देखने के लिए दृष्टि की भी सर्वतोमुखता अपेक्षित होती है। मुझे यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं है कि प्रस्तुत जीवन-दर्शन सर्वांगीण नहीं है। आचार्यश्री के जीवन-विषयक अनेक प्रसंग इसमें छुए तक नहीं जा सके हैं। अनेक प्रसंगों का संक्षेप भी किया गया है। इसकी परिपूर्णता मैं नहीं कर पाया हूँ, इसका मुझे तनिक भी खेद नहीं है, क्योंकि मैं मानता हूँ कि किसी भी महापुरुष के जीवन का अध्ययन अथवा दर्शन 'इति' रहित ही होता है। उसमें केवल 'अथ' ही होता है। आचार्यश्री के विगत जीवन के अवशिष्ट प्रसंगों तथा भावी-जीवन में प्रस्तुत होने वाले नवीन प्रसंग अनेक द्रष्टाओं तथा अध्येताओं की अपेक्षा रखते ही रहेंगे। मेरा यह परिश्रम उन भावी द्रष्टाओं तथा अध्येताओं के लिए सहायक हो सकेगा, ऐसी आशा करता हूँ।

जयपुर
चन्दन महल, चौड़ा रास्ता
वि०सं० २०१९ आषाढ़ पूर्णिमा

—मुनि बुद्धमल्ल

द्वितीय संस्करण की

भूमिका

द्वितीय संस्करण के अवसर पर मैंने इसका आद्योपान्त पुनर्निरीक्षण कर लिया है। प्रथम संस्करण में 'विहार-चर्या और जन-सम्पर्क' जहाँ एक अध्याय था। यहाँ इस बार उन्हें दो स्वतन्त्र अध्यायों में विभक्त कर दिया है। 'जीवन-शतदल' अध्याय के अन्तर्गत जिन कई घटनाओं को अभिनन्दन-ग्रन्थ में संक्षेप के लिए छोड़ दिया गया था। उन्हें यहाँ पुनः संयुक्त कर दिया गया है। अनेक अध्यायों में कुछ उपशीर्षकों का परिवर्तन किया गया है तो कुछ नये भी दिये गये हैं।

धवल-समारोह के बाद की घटनाओं को इस संस्करण में और जोड़ देने की इच्छा होते हुए भी मैं वैसा नहीं कर पाया हूँ। उसमें समयाभाव, वर्तमान में एतद्विषयक सामग्री – उपलब्धि की कठिनता और पुस्तक की तात्कालिक माँग आदि अनेक कारण रहे हैं।

अजमेर
वि० सं० २०२० आषाढ़ शुक्ला पंचमी

—मुनि बुद्धमल्ल

सम्पादकीय

आचार्यश्री तुलसी विविधताओं के धनी हैं। उनके एक ओर जहाँ आचार्यत्व की शालीनता है, वहाँ साधक की मृदुता भी। वे जहाँ कवित्व की रस-लहरी में निमज्जन करते हैं, वहाँ दर्शन की शुष्क तथा उलझन भरी गुत्थियाँ भी सुलझाते हैं। जन-जन को आकृष्ट करने वाले वाग्मी हैं, तो एकान्त-वासी मौनी भी। वे परिषद् के बीच बैठकर शिष्यों के अध्यापन के द्वारा एकत्व का और एकान्त में बैठकर काव्य-सर्जन के द्वारा बहुत्व का अनुभव सहज ही करते हैं। वे एक सम्प्रदाय के आचार्य हैं तो अणुव्रत जैसे आन्दोलन के प्रवर्तक होने से नैतिकता के महामन्त्र के उद्गाता भी। अतः किसी एक ही कोण से देखकर उन्हें परखने का प्रयत्न करना वस्तुस्थिति के साथ न्याय नहीं होता।

"जिनके जीवन में न तेज होता है, न प्रवाह और न बहा ले जाने का सामर्थ्य, उनका व्यक्तित्व शब्द में छिपकर रह जाता है और जिनमें ये विशेषताएँ होती हैं, उनके व्यक्तित्व में शब्द छिपकर रह जाता है।" साहित्य-विभाग-परामर्शक मुनिश्री बुद्धमल्लजी की यह अनुभूति सत्य की अतलस्पर्शी गहराई की ओर संकेत करती है। आचार्यश्री तुलसी का प्रसरणशील व्यक्तित्व इसका जीवन्त प्रमाण है। वे कहीं शब्दों में नहीं बँधे हैं, अपितु शब्द स्वयं सिमिट-सिमिट कर उनसे प्रवाहित हुए हैं।

मुनिश्री ने, आचार्यश्री तुलसी के जीवन में जो तेज, प्रवाह व बहा ले जाने का त्रिवेणी-संगम है; उसे शब्दों में इस प्रकार से समाहित किया

है कि यहाँ शब्द मूक न होकर स्वयं व्यक्त बन गये हैं और पाठक आचार्यश्री के जीवन का साक्षात् अनुभव करने लगता है। इस कार्य में मुनिश्री असाधारण रूप से सफल हो पाये हैं। उनकी लेखनी उनके विचारों का पूर्णतया अनुगमन करती है और विचार शृंखला में आबद्ध होते हुए भी अपनी गति में द्विगुणित होकर प्रस्तुत होते हैं। इस जीवन-दर्शन की सबसे अनूठी विशेषता तो यह है कि मुनिश्री लगभग तीस वर्षों से आचार्यश्री की विविधताओं का अध्ययन कर चुकने के अनन्तर इस कार्य में प्रवृत्त हुए हैं। मुनिश्री ने बहुत वर्षों तक आचार्यवर को एक छात्र की स्थिति में रहकर देखा और इसके अनन्तर आचार्यवर की बहुमुखी व क्रांतिमूलक प्रवृत्तियों में निरन्तर सहयोगी रहकर उन्हें देखते रहे। अब जब कि आचार्यवर ने उन्हें साहित्य-विभाग के परामर्शक के रूप में नियुक्त कर दिया है, वे आचार्यवर को परखने में और भी निकट हो गये हैं। आचार्यवर की विविधताओं का लेखा-जोखा मुनिश्री जैसे विविध दृष्टिकोणों से आचार्यवर को देखने वाले व्यक्ति ही कर सकते हैं।

मुनिश्री बुद्धमल्लजी आशुकवि हैं, वाग्मी हैं तथा दर्शन के धरातल पर विचरने में तर्क-प्रवण भी। उन्होंने अपने बाल्य-जीवन के दश वर्ष गृह-जीवन में बिताये, छः वर्ष अपने श्रद्धेय गुरु आचार्यश्री कालूगणी के चरणों में साधना-रत रहते हुए तो उससे अगले छब्बीस वर्ष आचार्यश्री तुलसी के सान्निध्य में साहित्य-साधना, अध्यापन व अणुव्रत-विस्तार आदि विविध प्रवृत्तियों में। उन्होंने अपनी पदयात्राओं से पंजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश आदि में नैतिक जागरण की अलख जगाई है तो दिल्ली में उनका षड्वर्षीय प्रवास वहाँ के सार्वजनिक व साहित्यिक जगत में तथा राजनैतिक वर्ग में आज भी मुखर हो रहा है। उनकी काव्य-वाटिका के कुसुम साहित्यिक क्षेत्र में पराग लुटाने के साथ ही जन-साधारण को भी सौरभित करते रहे हैं और भविष्य उनसे और अधिक पाने की

हम सम्पादक द्वय कृतकृत्य हैं, जिन्हें ऐसी साहित्यिक कृति, जिसका हृदय आचार्यश्री तुलसी का जीवन-दर्शन है; सम्पादन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। हम मुनिश्री से अब तक बहुत कुछ पाते रहे हैं। हमारा सम्पादन उनके प्रति एक विनम्र श्रद्धांजलि भी बन सका तो वह हमारे लिए परम आह्लाद का विषय होगा।

९ अगस्त, १९६२

— मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'

— मुनि मोहनलाल 'शार्दूल,'

अनुक्रम

उपोद्घात

आचार्य श्री तुलसी तेरापंथ के नवम आचार्य हैं। उनके अनुशासन में रहते हुए वर्तमान में तेरापंथ ने जो उन्नति की है, वह अभूतपूर्व कही जा सकती है। प्रचार और प्रसार के क्षेत्र में भी इस अवसर पर तेरापंथ ने बहुत बड़ा सामर्थ्य प्राप्त किया है। जन-सम्पर्क का क्षेत्र भी आशातीत रूप में विस्तीर्ण हुआ है। संक्षेप में कहा जाए तो यह समय तेरापंथ के लिए चतुर्मुखी प्रगति का रहा है। आचार्यश्री ने अपना समस्त समय संघ की इस प्रगति के लिए ही अर्पित कर दिया है। वे अपनी शारीरिक सुविधा-असुविधा की भी परवाह किये बिना अनवरत इसी कार्य में जुटे रहते हैं। इसीलिए आचार्यश्री के शासन-काल को तेरापंथ के प्रगति-काल या विकास-काल की संज्ञा दी जा सकती है।

आचार्यश्री का बाह्य तथा आन्तरिक—दोनों ही प्रकार का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक और महत्वपूर्ण है। मँझला कद, गौर वर्ण, प्रशस्त ललाट, तीखी और उठी हुई नाक, गहराई तक झांकती हुई तेज आँखें, लम्बे कान व भरा हुआ आकर्षक मुखमण्डल—यह है उनका बाह्य व्यक्तित्व। दर्शक उन्हें देखकर महात्मा बुद्ध की आकृति की एक झलक अनायास ही पा लेता है। अनेक नवागन्तुकों के मुख से उनकी और बुद्ध की तुलना की बातें मैंने स्वयं सुनी हैं। दर्शक एक क्षण के लिए उन्हें देखकर भाव विभोर-सा हो जाता है।

उनका आन्तरिक व्यक्तित्व उससे भी कहीं बढ़कर है। वे एक धर्म-सम्प्रदाय के आचार्य होते हुये भी सभी सम्प्रदायों की विशेषताओं का आदर करते हैं और सहिष्णुता के आधार पर उन सब में सैक्य स्थापित करना चाहते हैं। वे मानवतावादी हैं, अत: समस्त मानवों

के गुणग्राही को जगाकर भूमण्डल में अनैतिकता और दुराचार को हटा देने के स्वप्न को साकार करने में जुटे हुए हैं। अथक परिश्रम उनके मानस को अपार तृप्ति प्रदान करता है। वे बहुधा अपने भोजन तथा शयन के समय में से भी कटौती करते रहते हैं। अगाध साहस, चिन्तन की गहराई, दूसरे के मनोभावों को सहजता से ही ताड़ लेने का सामर्थ्य और अयाचित स्नेहार्द्रता ने उनके आन्तरिक व्यक्तित्व को और भी महत्त्वशील बना दिया है।

उनका बाह्य व्यक्तित्व जहाँ सन्देहों से परे है; वहाँ आन्तरिक व्यक्तित्व अनेक व्यक्तियों के लिए सन्देह-स्थल भी बना है। कुछ लोगों ने उनमें द्वैध-व्यक्तित्व की आशंकाएं की है। उनका व्यक्तित्व किसी को सम्प्रदायातीत मालूम दिया है तो किसी को अपार साम्प्रदायिक। किसी ने उनमें उदारता और स्नेहार्द्रता के दर्शन किये हैं तो किसी ने अनुदारता और शुष्कता के। तात्पर्य यह है कि वे अनेक व्यक्तियों के लिए अभी तक अज्ञेय रहे हैं। वे समन्वयवाद को लेकर चलते हैं, अतः अपने आपको बिलकुल स्पष्ट मानते हैं। परन्तु उनमें भयंकर अस्पष्टता का आरोप करने वाले व्यक्ति भी मिलते हैं। वे अहिंसक हैं, अतः अपने लिए किसी को अमित्र नहीं मानते, फिर भी अनेक व्यक्ति उनको अपना भयंकर विरोधी मानते हैं।

भारत के प्रायः सभी प्रमुख पत्रों ने तथा कुछ विदेशी पत्रों ने भी जहाँ उनको तथा उनके कार्यों को महत्त्वपूर्ण बतलाया है तो कुछ छोटे पत्रों ने उनको जी-भर कर कोसा भी है। इतना ही नहीं, किन्तु उन्होंने उनकी तथा उनके कार्यों की निम्नस्तरीय आलोचनाएं भी की हैं, पर वे उन सबको एक भाव से देखते रहे हैं। न स्वयं उन विरोधों का प्रतिवाद करते हैं और न अपने किसी अनुयायी को करने देते हैं। वे सत्य-शोध के लिए विरोध को आवश्यक समझते हैं और उसे विनोद की ही तरह सहजभाव से ग्रहण करते हैं। अपनी इस भावना को उन्होंने अपने एक पद्य में यों व्यक्त किया है :

जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझें विनोद ।
सत्य: सत्य-शोध में, तब ही सफलता पाएँगे ।

अनेक विचारक व्यक्तियों ने उनके विचारों का समर्थन करने वाला तथा अनेकों ने खण्डन करने वाला साहित्य लिखा है। उस उच्चस्तरीय आलोचना तथा खण्डन का उन्होंने उसी उच्चस्तर पर उत्तर भी दिया है। वे 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध'. को एक बहुत बड़ा तथ्य मानते हैं। वे आलोचनाओं से बचने का प्रयास नहीं करते, किन्तु उनके स्तर का ध्यान सदैव रखते है। उच्चस्तरीय आलोचना को उन्होंने सदैव सम्मान की दृष्टि से देखा है और उस पर उनकी भावनाएँ मुखर होती रही है, जबकि निम्नस्तरीय आलोचना पर वे पूर्णत मौन धारण करते रहे हैं।

इस प्रकार उनके व्यक्तित्व के विषय में विविध व्यक्तियों के विविध विचार हैं, पर यह विविधता और विरोध ही उनके व्यक्तित्व की प्रखण्डता और प्रशंसनीयता का परिचायक है। वे समन्वयवादी है, अत: जहाँ दूसरों को असद्-विरोध का आभास होता है, वहाँ उनको समन्वय की भूमिका दिखाई पड़ती है। उनके दर्शन की इस पृष्ठभूमि ने उनको विविधता प्रदान की है और उनके विरोधियों को एक उलझन।

ऐसे व्यक्तियों को शब्दों में बाँधना बहुत कठिन होता है, परन्तु यह भी सत्य है कि ऐसे व्यक्तित्व ही शब्दों में बाँधने योग्य होते हैं। जिनके जीवन मे न तेज होता है, न प्रवाह और न बहा ले जाने का सामर्थ्य; उनका व्यक्तित्व शब्द मे छिपकर रह जाता है और जिनमें ये विशेषताएँ होती हैं, उनके व्यक्तित्व में शब्द छिपकर रह जाता है। समस्या दोनों जगह पर है, परन्तु वह भिन्न-भिन्न प्रकार की है। आचार्यश्री के व्यक्तित्व को शब्दों में बाँधने वाले के लिए यही सबसे बड़ी कठिनाई है कि उसे जितना बाँधा जाता है, उससे कहीं अधिक वह बाहर रह जाता है। शब्द उनके सामस्त्य को अपने में बटा नहीं पाते, उनके व्यक्तित्व की गुरुता के सम्मुख शब्दों के ये बाट बहुत ही हलके पड़ते हैं।

: १ :

बाल्यकाल

जन्म

आचार्यश्री तुलसी का जन्म वि० स० १९७१ कार्तिक शुक्ला द्वितीया, राजस्थान (मारवाड) के लाडणू शहर मे हुआ था। उनके पिता का नाम झूमरमलजी तथा माता का नाम वदनाजी है। वे ओसवाल जाति के खटेड गोत्रीय हैं। छ भाइयो मे वे सबसे छोटे हैं। उनके तीन बहिने भी हैं। उनके मामा हमीरमलजी कोठारी उन्हे 'तुलसीदासजी' कहकर पुकारा करते थे। वे यह भी कहा करते थे कि हमारे 'तुलसीदासजी' बडे नामी आदमी होगे। उनकी यह बात उस समय तो सम्भवत प्यार के अतिरेक से उद्भूत एक सरल और सहज कल्पना ही मानी गई होगी, परन्तु आज उसे एक सत्य घटित होने वाली भविष्यवाणी कहा जा सकता है।

घर की परिस्थिति

आचार्यश्री के ससारपक्षीय दादा राजरूपजी खटेड काफी प्रभावशाली तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वे सिराजगज (अब यह पूर्वी पाकिस्तान मे है) मे राजबहादुर बाबू बुधसिहजी के यहा मुनीम थे। वहाँ उनका बहुत बडा व्यापार था और उसकी सारी देखभाल राजरूपजी के ऊपर ही थी। वे व्यापार मे बडे निपुण थे, अत उस क्षेत्र मे उनका काफी सम्मान था। रहन-सहन भी उनका बड़ा रौबीला था।

स० १९४४ मे सेठ बुधसिहजी के पौत्र इन्द्रचन्दजी आदि विलायत यात्रा पर गये तो लौटने पर वहाँ एक सामाजिक झगडा चल पड़ा था।

उनके विरोधी-पक्ष ने उनको तथा उनसे सम्बन्ध रखने वालों को जाति-बहिष्कृत कर दिया था। उस झगड़े में श्रीसंघ के पक्षपाती होने के कारण राजरूपजी ने उन्हें वहाँ से नौकरी छोड़ दी और घर आ गये। पहले कुछ दिनों तक वे वहीं अन्यत्र नौकरी प्राप्त करने का प्रयास करते रहे, परन्तु जिस सम्मान और रौब से वे सिराजगंज में रह चुके थे; उससे कम में रहना उन्हें पसन्द नहीं था। उनका कहीं मिल नहीं सका; अतः वे तब से प्रायः घर पर ही रहने लगे। उनके पुत्र झूमरमलजी एक सरल स्वभावी व्यक्ति थे। वे व्यापार में अधिक सफल नहीं हो सके। आय साधारण रही और परिवार बड़ा होने से व्यय अधिक रहा, अतः धीरे-धीरे आर्थिक स्थिति गिरने लगी और परिवार पर ऋण हो गया।

सं० १९७३ में राजरूपजी का देहान्त हो गया। उसके बाद सं० १९७६ में झूमरमलजी का भी देहान्त हो गया। इन मौतों के कारण परिवार की आर्थिक स्थिति पर और भी अधिक दबाव पड़ा, किन्तु आचार्य श्री के बड़े भाई मोहनलालजी ने काफी प्रयत्न तथा साहस से उस स्थिति को सम्भाल लिया। उन्होंने बहुत कम समय में ही उस ऋण को उतार दिया तथा अपने घर की स्थिति को फिर से सुव्यवस्थित कर लिया। उस समय उनके अन्य भाई भी व्यापार-कार्य में लगे और उन्होंने घर की आर्थिक स्थिति को सुधारने में यथाशक्ति योग दिया। इस प्रकार वह परिवार फिर से अपने पैरों पर खड़ा होकर सम्मानित जीवन बिताने लगा।

धार्मिकता की ओर झुकाव

आचार्यश्री के परिवार वालों में प्रायः सभी की धार्मिक अभिरुचि अच्छी थी। उनमें भी वदनाजी की श्रद्धा तथा अभिरुचि सर्वोपरि कही जा सकती है। लाडनूं में सं० १९१४ से लगातार वृद्ध सतियों का स्थिरवास चला आ रहा है। साध्वियां जहां रहती हैं; वहां पास में ही उनका घर है, अतः उनका फुरसत का समय प्रायः वहीं व्यतीत होता था। व्याख्यान आदि के समय तो एक प्रकार से निश्चित बंधे हुए थे ही। वे अपने बालकों को दर्शन करने के लिए प्रेरित करती रहती थीं। जब कोई भी बालक

प्रातराश के लिए कहता, तो बहुधा वे पूछ लिया करती थी कि दर्शन कर आया कि नहीं ? यदि दर्शन किये हुए नहीं होते तो वे यही चाहती कि एक बार वह दर्शन कर आये। उनकी उस आन्तरिक प्रेरणा ने वहाँ का वातावरण ही ऐसा बना दिया था कि साधु-साध्वियो के स्थान पर जाकर दर्शन कर आना उन सबका स्वाभाविक और प्रथम कर्तव्य हो गया। आचार्यश्री उस समय बाल्यावस्था मे ही थे, फिर भी घर के अन्य सदस्यो के समान ही प्रतिदिन वे दर्शन करने के लिए जाया करते थे। धर्म के प्रति उनका एक आन्तरिक अनुराग हो गया था। उनके एक बड़े भाई मुनिश्री चम्पालालजी ने जब स० १९८१ मे दीक्षा ग्रहण की, तब से तो वे और भी अधिक धार्मिकता की ओर आकृष्ट हुये थे। उनका वह झुकाव धीरे-धीरे अनुकूल वातावरण में वृद्धिगत होता रहा।

एक दूसरा पहलू

जीवन मे जब दैवी सस्कारो का बीज-वपन होता है, तब बहुधा आसुरी सस्कार भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने का जोर मारते हैं। वे किसी न किसी बहाने से व्यक्ति को भटका देना चाहते हैं। वैसी स्थिति मे अनेक व्यक्ति भटक जाते हैं तो अनेक सम्भल कर वैसे सस्कारो पर विजय पा लेते हैं और उन्हे सत्-सस्कारो मे परिणत कर लेते हैं। आचार्यश्री के बाल-जीवन मे भी कुछ-एक ऐसे क्षण आए, जब कि एक ओर तो धार्मिक सस्कार उनके मन मे जड जमाने लगे और दूसरी ओर से आसुरी सस्कारों ने उन्हें भटका देना चाहा। वह उनके बाल-जीवन के चित्र का एक दूसरा पहलू कहा जा सकता है। उन्होने स्वय अपने 'अतीत के कुछ सस्मरण' लिखते हुए एक घटना का उल्लेख किया है। घटना इस प्रकार है—एक बार उन्ही के एक कौटम्बिक जन ने उन्हें बतलाया कि यहाँ गाँव से बाहर 'ओरण' मे एक रामदेवजी का मन्दिर है। उसमें देवता बोलता है; परन्तु उसको नारियल चढाना आवश्यक होता है। यदि तुम अपने घर से नारियल ला सको तो हम तुम्हें देवता की बोली सुना

सकते हैं। बाल-सुलभ जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होंने नारियल ले आने का वचन दिया और घर में जाकर चुपके से एक नारियल उठा लाये। मंदिर में छिपकर किसी व्यक्ति के बोलने को ही उन्होंने अपनी बाल-सुलभ सरलता में देव-वाणी मान लिया था। उस चक्कर में उन्होंने कई बार नारियल चुराये; परन्तु शीघ्र ही आत्म-निरीक्षण द्वारा वे इस कुसंगति से छूट गये और सत्-संस्कारों की विजय हुई।

दीक्षा के भाव

सं० १९८२ के मार्गशीर्ष महीने में आचार्यश्री कालूगणी का लाडनूं पदार्पण हुआ। उस समय बालक तुलसी को निकटता से आचार्यदेव के दर्शन करने तथा व्याख्यान आदि सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। उस निकट सम्पर्क ने उनके पूर्वार्जित संस्कारों को उद्बुद्ध कर दिया। फलस्वरूप बालक होते हुए भी वे विराग-भाव में रहने लगे। जो बात व्याख्यान आदि में सुनते, उस पर विशेष रूप से मनन करते। मन में जो प्रश्न उठते; उनकी चर्चा घर जाकर अपनी माता के पास करते और उनका समाधान खोजते। माता वदनांजी उन्हें जो सरल-सा उत्तर देतीं; उस समय उनकी जिज्ञासा उसीसे तृप्त हो जाया करती।

एक दिन उन्होंने अपने घरवालों के सामने अपनी दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की, परन्तु उसे बाल-भाव का एक विनोद-मात्र समझ कर यों ही टाल दिया गया। उन्होंने कुछ दिन बाद फिर अपनी बात को दोहराया, परन्तु किसी ने उस बात पर गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया। उन्हें इस बात पर बहुत खेद हुआ कि वे जिस बात को एक तथ्य के रूप में कहना चाहते हैं, घरवाले उसे एक बाल-भाव मात्र समझते हैं; परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं थी। घरवाले उनकी उस भावना से परिचित होने के साथ-साथ सावधान भी हो गये थे। अपनी 'हाँ' या 'ना' से वे इस बात को सींचकर अधिक पक्का करना नहीं चाहते थे। वे उस समस्या को सुलझाने का अन्दर ही अन्दर कुछ प्रयत्न सोचने में लगे थे।

समस्या का सुलझाव

बालक तुलसी ने जब देखा कि यह समस्या यों सुलझने वाली नहीं है तो वे अपने मे से ही कोई मार्ग खोजने लगे । मन मे एक विचा सोचा और वे हर्षोत्फुल्ल हो उठे । उस समय आचार्यश्री कालूगणी व्याख्यान दे रहे थे । वहाँ की विशाल परिषद् उनके सामने उपस्थित थी वे वहाँ गये और व्याख्यान मे खड़े होकर कहने लगे—गुरुदेव ! मुझे आजीवन विवाह करने और व्यापारार्थ परदेश[1] जाने का त्याग कर दीजिये । सुनने वाले चकित रह गये । मोहनलालजी सोच मे पड़ गये कि यह क्या हो रहा है ? आचार्यदेव ने शान्त भाव से समझाते हुए कहा तू अभी बालक है, इस प्रकार का त्याग करना बहुत बड़ी बात होती है

गुरुदेव के उस कथन से मोहनलालजी बड़े आश्वस्त हुए, परन्तु बाल तुलसी के मन मे बड़ी उथल-पुथल मच गई । जो सोचा था; वह हो खुल नही पाया । वे एक क्षण रुके, कुछ असमंजसता मे पड़े और दूसरे ही क्षण दूसरे मार्ग का निश्चय कर लिया । उन्होंने अपने साहस को बटोरा और कहने लगे—गुरुदेव ! मै आपकी साक्षी से ये त्याग करता हूँ

मोहनलालजी अब कहे तो क्या कहे और करें तो क्या करें ? बहु व्यक्तियों ने पहले उनको समझाया था, पर भ्रातृ-मोह बाधक बन रह था । समस्या की जो डोर सुलझ नही पा रही थी, आपके उस उपक्र से वह अपने आप सुलझ गई । बात का और डोर का सिरा हाथ ल जाने पर उसे सुलझते कोई देर नही लगती ।

मोहनलालजी ने परिस्थिति को समझा, दीक्षार्थी के परिणामों की उत्कटता को समझा और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब इसे रोक का प्रयास करना व्यर्थ है । आखिर उन्होने दीक्षा के लिए आज्ञा प्रदा करने का ही निर्णय किया । उन्होंने गुरुदेव के चरणो मे दीक्षा प्रदा

---

1. उन दिनों थली के ओसवाल व्यापारार्थ प्रायः बंगाल जाया करते थे । वे उसे 'परदेश जाना' कहा करते थे ।

करने के लिए प्रार्थना प्रस्तुत की। गुरुदेव ने पहले साधु-प्रतिक्रमण सीखने के लिए आज्ञा प्रदान की और उसके कुछ दिन बाद फिर प्रार्थना करने पर दीक्षा-प्रदान करने के लिए पौष कृष्णा पंचमी का दिन घोषित कर दिया।

एक परीक्षा

दीक्षा ग्रहण करने से एक दिन पूर्व रात्रि के समय मोहनलालजी ने विरागी बालक की भावना तथा साधु-आचार-सम्बन्धी उनके ज्ञान की परीक्षा करने की सोची। मोहनलालजी की चारपाई के पास ही उनकी चारपाई बिछी हुई थी। जब वे सोने के लिए उस पर आकर लेटे तो मोहनलालजी और वे दो ही वहाँ पर थे। परीक्षा के लिए वही ठीक अवसर समझकर मोहनलालजी ने उनसे धीरे से बात करते हुए कहा कि कल तो तुम दीक्षित हो जाओगे। साधु-जीवन में कठिनाइयाँ-ही-कठिनाइयाँ होती हैं, अतः बड़ी सावधानी और साहस से तुम्हें रहना होगा। अभी तुम बालक हो; अतः भूख-प्यास के कष्ट भी काफी सताएँगे। कभी किसी समय भोजन मिलेगा तो कभी किसी समय। कहीं आचार्यदेव के द्वारा दूर प्रदेशों में विहार करने के लिए भेज दिए जाओगे तो मार्ग में न जाने कैसे-कैसे कष्टों का सामना करना पड़ेगा। अन्य सब कष्ट तो आदमी फिर भी सह सकता है, परन्तु यदि आहार-पानी नहीं मिला तो तुम जैसे बालक के लिए भूख और प्यास के कष्टों को सहना बड़ा ही कठिन हो जाएगा। परन्तु हाँ; उसका एक उपाय हो सकता है। इतना कहकर उन्होंने अपने पास से सौ रुपये का एक नोट निकाला और उनको देने का प्रयास करते हुए कहने लगे कि यह नोट तुम अपने पास रखो। जब कभी तुम्हारे सामने भूख-प्यास का संकट आए; तब तुम इसे अपने काम में ले लेना।

अपने बड़े भाई की वह बात सुनकर वे बहुत हँसे और छोटा-सा उत्तर देते हुए कहने लगे कि साधु हो जाने के बाद नोट रखना कल्पता ही कहाँ है ?

मोहनलालजी ने उनकी बात का विरोध किया और कहा कि रुपये-पैसे रखने तो नहीं कल्पते, किन्तु यह तो एक कागज है। क्या तुम प्रतिदिन नहीं देखते कि साधुओं के पास कितने कागज होते हैं? तुमने अभी जो साधु-प्रतिक्रमण सीखा है, वह भी कागजों पर ही साधुओं द्वारा लिखा हुआ था। वे इतने सारे कागज कल्प से बाहर नहीं हैं तो फिर यह छोटा-सा कागज क्यों नहीं कल्पेगा? उनमें और इसमें आखिर अन्तर भी क्या है? अपने 'पुट्ठे' में रख और रख लेना; पड़ा रहेगा; तुम्हारा इसमें नुकसान भी क्या है? समय-बे-समय काम ही आयेगा।

उनकी इतनी सारी बातों के उत्तर में वे केवल हंसते रहे और बोले—ये तो रुपये ही हैं। यह नहीं कल्पता। बार-बार मनुहार करने पर भी वे अपनी धारणा पर दृढ़ रहे, तब मोहनलालजी ने समझ लिया कि केवल ऊपर से ही विराग नहीं है, अपितु अन्तरंग में है और साथ में संयम की सीमाओं का भी ज्ञान है। उन्होंने नोट को यथा-स्थान रख लिया और परीक्षा में उनकी उत्तीर्णता पर मन-ही-मन प्रसन्न हुए।

दीक्षा-ग्रहण

आचार्य श्री कालूगणी को लाडणूं आये एक महीना पूर्ण हो चुका था; अतः चतुर्थी के दिन ही वहां से विहार कर गांव से बाहर मालम चन्दजी बोरड की कोठी में पधार गये। कोठी के बाहर ही बहुत बड़ा खुला चौक है। वहीं दीक्षा प्रदान करने का स्थान निर्णीत किया गया था। प्रातःकाल ही हजारों व्यक्तियों के सम्मुख दीक्षा प्रदान की गई और सीधे वहीं से विहार कर सुजानगढ़ पधार गये। वह दिन सं० १९८२ पौष कृष्णा पंचमी का था।

उस दीक्षा को आचार्य श्री कालूगणी ने सम्भवतः प्रारम्भ से ही कुछ विशिष्ट समझा था। दीक्षा से पहले तो उन्होंने अपनी कोई ऐसी भावना प्रकट नहीं की थी; किन्तु कुछ दिन बाद एक बार वह अनायास ही प्रकट हो गई थी। एक बार उनके पास शकुन-सम्बन्धी बातें चल पड़ी

थी। मुनिश्री चोथमलजीने कहा कि पहले तो शकुनों के फल प्राय. मिला करते थे, यही सुना जाता है, पर अब तो वैसा कुछ नहीं देखा जाता। कालूगणी ने तब उसका प्रतिवाद करते हुए फरमाया कि नहीं ही मिलते; ऐसी तो कोई बात नहीं है। अभी हम लोग बीदासर से विहार करके लाडणू जा रहे थे; तब अच्छे शकुन हुए थे। फलस्वरूप तुलसी की दीक्षा कैसी अनायास और अकस्मात् ही हो गई ?

मालूम होता है, उनके उन शब्दों के पीछे कुछ विशिष्ट भावना अवश्य रही थी, जिसको कि उन्होंने कुछ खोला और कुछ ढके ही रहने दिया था। उस समय उस शकुन की विशेषता के प्रति किसी की निष्ठा हुई हो, चाहे न हुई हो, पर अब यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि आचार्य श्री कालूगणी का उस शकुन के विषय में जो विचार था, वह बिल्कुल सत्य निकला। आचार्य श्री तुलसी ने अपने विकासशील व्यक्तित्व से अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि वे एक विशेष योग्यता-सम्पन्न व्यक्तित्व को लेकर ही दीक्षित हुए थे।

: २ :

मुनि जीवन के ग्यारह वर्ष

विद्या का बीज-वपन

आचार्यश्री तुलसी ने अपनी ग्यारह वर्ष की लघु अवस्था में ही दीक्षा ग्रहण की थी। उसके बाद वे तत्काल ही विद्यार्जन में लग गये। प्रारम्भ से ही विद्या के विषय में उनको विशेष आतुरता रहा करती थी। गृहस्थावस्था में जब उन्होंने अपना प्रारम्भिक अध्ययन शुरु किया था; तब भी उनकी वह आतुरता लक्षित की जा सकती थी। वे अपनी कक्षा के सबसे अधिक बुद्धिमान् और निपुण विद्यार्थी समझे जाते थे। वे अपनी कक्षा के मानीटर थे। अध्यापक उनके प्रति विशेष विश्वस्त रहा करते थे।

विद्या का बीज-वपन यद्यपि उन्होंने गृहस्थ-जीवन में किया था; किन्तु उसका यथेष्ट अर्जन तो दीक्षा-ग्रहण करने के पश्चात् ही किया। बाल्य अवस्था, तीव्र बुद्धि और विद्या के प्रति प्रेम; इन तीनों का एकत्र संयोग होने से वे अपने भावी जीवन के महल का बड़ी तीव्रता से निर्माण करने लगे।

ज्ञान कण्ठाँ; दाम अण्टाँ

दीक्षा-ग्रहण करते ही साधुचर्या का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए दशवैकालिक सूत्र; जो कि प्रायः प्रत्येक नव दीक्षित को कण्ठस्थ कराया जाता है; उन्होंने बहुत थोड़े ही समय में कण्ठस्थ कर लिया। उसके बाद वे संस्कृत-अध्ययन में लग गये। वे 'ज्ञान कण्ठाँ और दाम अण्टाँ' इस राजस्थानी कहावत के हार्द को भली भाँति जानते थे; अतः कण्ठस्थ करने में उनका विशेष ध्यान था। उन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवन में करीब

बीस हजार श्लोक-परिमित ग्रन्थ कण्ठस्थ किया था। प्राचीनकाल मे तो ज्ञानार्जन के लिए कण्ठस्थ करने की प्रणाली को बहुत महत्त्व दिया जाता था। सारा-का-सारा ज्ञान-प्रवाह परम्पर रूप से कण्ठस्थ ही चलता रहता था; परन्तु युग की बदलती हुई धारणाओं के समय मे भी इतना ग्रन्थ कण्ठस्थ करके उन्होने सबके सामने एक आश्चर्य ही पैदा कर दिया था। उनके कण्ठस्थ किये गये ग्रन्थो मे व्याकरण, साहित्य, दर्शन और आगम विषयक ग्रन्थ मुख्य थे।

घो-ची-पू-ली

अपनी मातृ-भाषा के अतिरिक्त उन्होने सस्कृत तथा प्राकृत भाषाओ का अधिकार-पूर्ण अध्ययन किया। उनकी शिक्षा के सचालक मुख्यत स्वय आचार्य श्री कालूगणी ही रहे थे। उनके अतिरिक्त आयुर्वेदाचार्य, आशुकविरत्न, पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा का भी उसमे काफी अच्छा सहयोग रहा था। सस्कृत-व्याकरण की दुरूहता का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्यश्री कालूगणी अनेक बार विद्यार्थी साधुओं को एक दोहा फरमाया करते थे। वह इस प्रकार है :

> खान-पान-चिन्ता तजै, निश्चय माँडै मरण ।
> घो-ची-पू-ली करतो रहै, जब आवै व्याकरण ॥

अर्थात् "जब कोई खान-पान आदि की चिन्ताओ को छोडकर केवल व्याकरण के ही पीछे अपना जीवन झोक देता है, तथा उतने समय के लिए घोटने, चितारने (घोटे हुए पाठ का पुनरावर्तन करने), पूछ-ताछ करने और लिखने को ही अपना मुख्य विषय बना लेता है; तब कही सस्कृत-व्याकरण को हृदयगम करने मे सफलता मिलती है।" इस दोहे के माध्यम से वे अपने शिष्य-वर्ग को यह बतलाने का प्रयास किया करते थे कि व्याकरण सीखने वालों को अपना सकल्प कितना दृढ करने की तथा अपनी वृत्तियो को कितना केन्द्रित करने की आवश्यकता है।

आचार्य श्री तुलसी ने अपने विद्यार्थी-जीवन मे कालूगणी को उसी

प्रेरणा को चरितार्थ कर दिखाया था। केवल व्याकरण के लिए ही नहीं; वे तो जिस विषय को हाथ में लेते थे, उसके पीछे उपर्युक्त प्रकार से ही अपने प्राणों को झोंक दिया करते थे। कभी न थकने वाली उनकी उस लगन ने ही उनको आज अकल्पनीय को भी कल्पनीय और असम्भव को भी सम्भव बना देने का सामर्थ्य प्रदान किया है। विद्यार्थी-जीवन की उनकी वह प्रवृत्ति आज भी रूपान्तर पाकर उसी तरह से विद्यमान है।

कण्ठस्थ ग्रन्थ

अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर वे जिस किसी भी ग्रन्थ को कण्ठस्थ करने का निर्णय करते, उसे बहुत स्वल्प समय में ही पूर्ण कर छोड़ते। इसलिए उनकी त्वरता में दूसरों का उनके साथ निभ पाना प्रायः कम ही सम्भव रहा। दशवैकालिक सूत्र, भ्रमविध्वंसन, अभिधान-चिन्तामणि (नाम माला), सिद्धान्त-चन्द्रिका, भिक्षुशब्दानुशासन, प्रमाणनयतत्त्वालोक और षड्दर्शन-समुच्चय आदि आगम, व्याकरण तथा दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थ तो उन्होंने कण्ठस्थ किये ही थे; परन्तु शान्त-सुधारस, भक्तामर आदि अनेक स्वाध्याय-योग्य ग्रन्थ तथा अनेक छोटे-बड़े व्याख्यान-योग्य ग्रन्थ भी उन्होंने कण्ठस्थ किये थे। इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ऐसे ग्रन्थ भी कण्ठस्थ कर डाले थे; जिन्हें कि साधारणतया पढ़ लेने से ही काम चल सकता था। सम्पूर्ण संस्कृत-धातुपाठ, गणरत्न-महोदधि तथा उणादि-सूत्रपाठ आदि को उसी कोटि के ग्रन्थों में गिनाया जा सकता है। आज के शिक्षा-विशेषज्ञ इसे बुद्धि पर डाला गया अतिरिक्त भार कहकर अनावश्यक कह सकते हैं, परन्तु जिस व्यक्ति को थोड़ा-सा विशेष ध्यान देकर पढ़ने-मात्र से ही जब पाठ कण्ठस्थ हो जाये तो उसे अनावश्यक तथा भार कैसे कहा जा सकता है? अल्प-बुद्धि छात्रों को वह भार अवश्य हो सकता है, परन्तु वे उस भार को उठाने के लिए उद्यत ही कहां होते हैं? सम्भवतः उस अवस्था में आचार्यश्री को साधारण अध्ययन की अपेक्षा उसे कण्ठस्थ कर लेने में ही अधिक आनन्द मिलता था।

सौ-सवासौ पद्य

उनकी कण्ठस्थ करने की वृत्ति तथा त्वरता का अनुमान एक घटना से लगाया जा सकता है। आचार्यश्री कालूगणी सं० १९९१ के शीतकाल में मारवाड़ के छोटे-छोटे गाँवों में विहार कर रहे थे। कहीं अधिक दिनों तक एक स्थान पर टिक कर रहने का अवसर आने की सम्भावना नहीं थी। ऐसी स्थिति में भी उन्होंने जैन-रामायण को कण्ठस्थ करना प्रारम्भ कर दिया। प्रातःकालीन समय का अधिकांश भाग प्रायः विहार करने में ही व्यतीत हो जाता था। किसी भी कृत्रिम प्रकाश में पढ़ना संघीय मर्यादा से निषिद्ध होने के कारण रात्रि का समय भी काम नहीं लग सकता था। दिन में साधुचर्या के अन्यान्य दैनंदिन कार्यों का करना भी अनिवार्य था। उन सबके बाद दिन में जो समय अवशिष्ट रहता, उसमें से कुछ हम लोगों को पढ़ाने में लगा दिया जाता था और शेष समय में वे स्वयं पाठ कण्ठस्थ किया करते थे। इतनी सब दुविधाओं के बावजूद भी उन्होंने उस विशाल ग्रन्थ को केवल ६८ दिनों में ही समाप्त कर डाला। बहुधा वे अपना पाठ मध्याह्न के भोजन से पूर्व ही समाप्त कर लिया करते थे। उन दिनों वे प्रतिदिन पच्चास-साठ से लेकर सौ-सवासौ पद्यों तक याद कर लिया करते थे।

स्वाध्याय

वे कण्ठस्थ करने में जितने निपुण थे, उतने ही परिवर्तना (चितारना) के द्वारा उसे याद रखने में भी। अनेक बार वे रात्रि के समय सम्पूर्ण चन्द्रिका की परिवर्तना कर लिया करते थे। शीतकाल में तो प्रायः पश्चिम रात्रि में आचार्यश्री कालूगणी उन्हें अपने पास बुला लिया करते थे और पाठ-श्रवण किया करते थे। पूर्वरात्रि के समय में भी उन्हें जितना समय मिल पाता; उसका अधिकांश वे स्वाध्याय में ही लगाने का प्रयास किया करते थे। यदि कभी नींद या आलस्य आने लगता तो खड़े हो जाया करते थे और अपने उद्दिष्ट स्वाध्याय को पूरा कर लिया करते थे। कभी-कभी तो शयन से पूर्व दो-दो हजार पद्यों तक का स्वाध्याय कर लिया करते

थे। प्रारम्भिक समय की अपनी वह प्रवृत्ति आज भी आचार्य श्री अपने में सुरक्षित रखे हुए हैं। यद्यपि पूर्वरात्रि में जन-सम्पर्क आदि कार्यों की व्यस्तता से उन्हें विशेष समय नहीं मिलता, फिर भी पश्चिम रात्रि में वे बहुधा स्वाध्याय-निरत देखे जा सकते हैं। कभी-कभी वे नव दीक्षितों का पाठ सुनते हुए भी मिल सकते हैं।

सुयोग्य शिष्य

तेरापंथ में आचार्य पर जो अनेक दायित्व होते हैं; उन सबमें बड़ा दायित्व है—भावी सफल का चुनाव। उसमें आचार्य को अपनी व्यक्तिगत रुचि से ऊपर उठकर समाज में से ऐसे व्यक्ति को खोज कर निकालना होता है; जो प्रायः सभी की श्रद्धा को प्राप्त करने में सफल हुआ हो तथा भविष्य के लिए भी उनकी श्रद्धा को सुनियोजित रखने का सामर्थ्य रखता हो।

आचार्य अपने प्रभाव-बल से किसी व्यक्ति को प्रभावशाली तो बना सकते हैं; पर श्रद्धेय नहीं बना सकते। श्रद्धेय बनने में आचार-कुशलता आदि आत्म-गुणों की उच्चता अपेक्षित होती है। श्रद्धेयता के साथ प्रभावशालिता अवश्यम्भावी होती है; जबकि प्रभावशालिता के साथ श्रद्धेयता हो भी सकती है और नहीं भी।

इस विषय में आचार्यश्री कालूगणी बड़े भाग्यशाली थे। अपने दायित्व की पूर्ति करने में उन्हें कभी चिन्तित नहीं होना पड़ा। आप जैसे सुयोग्य शिष्य को पाकर वे इस चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो गये थे। आप अपने विद्यार्थी-जीवन में ही प्रभावशाली होने के साथ-साथ संघ के अधिकांश व्यक्तियों के लिए श्रद्धास्पद भी बन गये थे। प्रभाव व्यक्तियों के शरीर पर ही नियंत्रण स्थापित करता है; जबकि श्रद्धा आत्मा पर। किसी भी समाज को ऐसा संचालक सौभाग्य से ही मिल पाता है; जो जनता की आत्मा पर नियन्त्रण कर पाता हो। शरीर पर किये जाने वाले नियन्त्रण की अपेक्षा से यह बहुत उच्च कोटि का नियन्त्रण होता है।

गुरु का वात्सल्य

शिष्य के लिए गुरु का वात्सल्य जीवनदायिनी शक्ति के समान होता है। उसके बिना शिष्यत्व न पनपता है और न विस्तार पाकर फलदायी ही बन सकता है। शिष्य की योग्यता गुरु के वात्सल्य को पाकर धन्य हो जाती है और गुरु का वात्सल्य शिष्य की योग्यता पाकर कृतकृत्य हो जाता है। आचार्य के प्रति शिष्य आकृष्ट हो, यह कोई विशेष बात नहीं है; किन्तु जब शिष्य के प्रति आचार्य आकृष्ट होते हैं; तब वह विशेष बात बन जाती है। आचार्यश्री कालूगणी के पास दीक्षित होकर तथा उनका सान्निध्य पाकर आपको जो प्रसन्नता प्राप्त हुई थी, वह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी; परन्तु आपको शिष्य रूप में प्राप्त कर स्वयं आचार्यश्री कालूगणी को जो प्रसन्नता हुई थी, वह अवश्य ही आश्चर्यजनक थी। आपने आचार्यश्री कालूगणी का जो वात्सल्य पाया था, वह निश्चय ही असाधारण था। एक ओर जहाँ वात्सल्य की असाधारणता थी, वहाँ दूसरी ओर नियन्त्रण तथा अनुशासन भी कम नहीं था। कोरा वात्सल्य उच्छृंखलता की ओर ले जाता है तो कोरा नियन्त्रण वैमनस्य की ओर। पर जब वे जीवन में साथ-साथ चलते हैं, तब जीवन में सन्तुलन पैदा करते हैं। वह सन्तुलन ही जीवन के हर क्षेत्र में व्यक्ति को विकासशील बनाता है।

आचार्यश्री कालूगणी ने आपको सामुदायिक कार्य-विभाग (जो सब साधुओं की बारी से करना होता है) से मुक्त रखा। वे आपके हर क्षण को शिक्षा में लगा देखना चाहते थे। इस विषय में आप स्वयं भी बड़े जागरूक रहते थे। पाँच-दस मिनट का समय भी आपके लिए बहुमूल्य हुआ करता था। आप उसका उपयोग स्वाध्याय में कर लिया करते थे। स्वयं गुरुदेव की दृष्टि भी यही रहती थी कि आप अपने समय का अधिक से अधिक उपयोग करें। इस विषय में समय-समय पर वे आपको प्रेरित भी करते रहते थे। निम्नोक्त घटना से यह जाना जा सकता है कि गुरुदेव आपके समय को कितना मूल्यवान् समझते थे।

आचार्यश्री कालूगणी का अन्तिम जनपद-विहार चालू था। वृद्धावस्था के कारण मार्ग में अपेक्षाकृत अधिक समय लगा करता था। विहार के समय आप भी साथ-साथ चला करते थे। एक दिन आचार्यदेव ने आपसे कहा—"तुलसी! तू आगे चला जाया कर और वहाँ पर सीखा कर।" आप साथ में रहना ही अधिक पसन्द किया करते थे; अतः आपने साथ में रहने का ही अनुरोध किया। परन्तु आचार्यदेव ने उसे स्वीकार नहीं किया और फरमाया कि वहाँ जो कार्य करेगा, वह भी तो मेरी ही सेवा है। आप उसके बाद आगे जाने लगे। इस क्रम से लगभग आध घण्टा समय निकल सकता था। उसे आप अध्ययन-अध्यापन के कार्य में लगाने लगे। जो समय निकल सके, उसका उपयोग कर लेने की ओर ही गुरुदेव का झुकाव था।

योग्यता-सम्पादन

आचार्यश्री कालूगणी आपके योग्यता-सम्पादन में हर प्रकार से सचेष्ट रहते थे। पहले कुछ वर्षों तक विद्याभ्यास के द्वारा आवश्यक योग्यता प्राप्त कराने का उपक्रम चला। उसके बाद वक्तृत्वकला में भी आपको निपुण बनाने का उनका प्रयत्न रहा। मध्याह्न के व्याख्यान का कार्य आपको सौंपा गया। यद्यपि आजकल मध्याह्न का व्याख्यान एक उपेक्षित-सा कार्य बन गया है कहीं होता है कहीं नहीं भी होता; परन्तु उस समय उसका बड़ा महत्त्व था। जनता भी काफी आया करती थी।

आपके कण्ठ मधुर थे और महीन भी। आप जब व्याख्यान करते तथा गाते तब लोग मुग्ध हो जाते थे। अनेक बार रात्रि के समय ऐसा भी होता था कि आप कोई गीतिका गाते और आचार्यश्री कालूगणी स्वयं उसकी व्याख्या किया करते। कई बार मुनिश्री नथमलजी तथा मैं (मुनि बुद्धमल्ल) 'सूक्ति मुक्तावली' के श्लोक गाया करते और आचार्यश्री के सान्निध्य में आप उसका अर्थ किया करते। आप अपने कण्ठों का बहुत ध्यान रखा करते थे। आप कहा करते हैं कि मैं ज्यों-ज्यों अवस्था में बड़ा होता गया, त्यों-त्यों मोटे स्वर में गाने और बोलने का

प्रयास करने लग गया। इसका कारण आप यह बतलाते हैं कि ऐसा किये बिना कण्ठों का माधुर्य बना नहीं रह सकता। आपके विचार से लगभग सोलह वर्ष की अवस्था के आस-पास, जबकि शारीरिक विकास त्वरता से होता है; तब ध्यान न रखने से कण्ठ एकाएक विस्वर बन जाते हैं।

आचार्यश्री कालूगणी के अन्तिम तीन वर्ष उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण वर्षों में से थे। वे वर्ष क्रमशः मारवाड़, मेवाड़ और मालवा की यात्रा में ही बीते थे। उससे पूर्व बहुत वर्षों तक वे थली में ही विहार करते रहे थे। आपकी दीक्षा के बाद वह उनका प्रथम जनपद-विहार था तथा कालूगणी के अपने जीवन की दृष्टि से अन्तिम। वह विहार मानो आपको अपने श्रद्धालुओं तथा उनके क्षेत्रों से परिचित कराने के लिए ही हुआ था। उस यात्रा से पूर्व आपका जन-सम्पर्क काफी सीमित था। यात्रा-काल में उसका काफी विस्तार हुआ। व्यावहारिक ज्ञानार्जन के लिए वे वर्ष बहुत ही मूल्यवान् सिद्ध हुए।

आचार-कुशलता और अनुशासन-कुशलता आपको अपने संस्कारों के साथ ही प्राप्त हुई थी। उनको आपने अपने प्रयास से दिन-प्रतिदिन और भी निखार लिया था। विद्या तथा व्यवहार-कुशलता आपने आचार्यश्री कालूगणी के सान्निध्य में प्राप्त की और उन्हें अपने अनुभवों के आधार पर एक मानदंड रूप प्रदान किया। आपकी योग्यताओं का निखार स्वयं आचार्यश्री कालूगणी को इष्ट था। वे उनकी प्रगति से अत्यन्त प्रसन्न थे।

संघ की आन्तरिक प्रवृत्तियों में भी आचार्यश्री कालूगणी समय-समय पर आपका उपयोग करते थे। उनका बहुमुखी अनुग्रह हर दिशा में आपको परिपूर्ण बनाने का रहा करता था। इन्हीं कारणों से आपकी ओर समूचे संघ का ध्यान खिंच गया। लोग आपके विषय में बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ करने लगे। संघ के विशिष्ट साधु भी आपको श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। आपका प्रभाव सभी पर छाने लगा। आपने जिस अप्रत्याशित गति से योग्यता का सम्पादन किया, वह सचमुच ही बड़ा प्रभावशाली था।

शिक्षा या संकेत ?

कालूगणी का विहार उन दिनों मारवाड में कांठे के गांवों में हो रहा था। एक बार सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् जब आप वन्दन के लिए गये तो आचार्य श्री कालूगणी ने आपको अपने पास आने का संकेत किया। आपने समीप जाकर वंदन किया तो गुरुदेव ने एक शिक्षात्मक सोरठा रच-कर सुनाया और फरमाया कि सबको सिखा देना। वह सोरठा था :

> सीखो विद्या सार, पर हो कर परमाद में।
> कथसी बहु विस्तार, धार सीख धीरज मनें॥

दूसरे दिन शाम को गुरुवंदन के पश्चात् जब आप मुनिश्री मगन-लालजी को वन्दन करने गये, तब उन्होंने पूछा—"कल आचार्यदेव ने जो सोरठा कहा था, उसके उत्तर में तू ने वापिस कुछ निवेदन किया या नहीं ?"

आपने कहा—"किया तो नहीं।"

आगे के लिए मार्ग बतलाते हुए मुनिश्री मगनलालजी ने कहा—"अब कर देना।"

आपने उस बात को शिरोधार्य कर उत्तर में जो सोरठा निवेदित किया; वह इस प्रकार है :

> महर रखो महाराय, लख थाकर पदकमल में।
> सीख अपो सुखदाय, जिम जल्दी शिव-गति लहूं।

अकेले आचार्यश्री कालूगणी के सोरठे को देखने से लगता है कि उसके द्वारा शिष्यों को शिक्षा दी गई है। पूर्व भूमिका सहित जब दोनों सोरठों को देखते हैं; तब लगता है कि संवाद है। पर क्या इतने से मन भर जाता है ? वह अपने समाधान के लिए गहराई में जाता है; तब इनके शब्द तथा अर्थ तो ऊपर रह जाते हैं और उनकी मूल प्रेरणाओं के प्रकाश में जो समाधान निकलता है, वह कहता है कि ये किसी अर्ध-प्रकाशित संकेत के प्रतीक हैं।

आचार्यश्री कालूगणी एक गम्भीर प्रकृति के आचार्य थे; अतः उनके

मन की गहराई को स्पष्ट समझ पाना जरा कठिन होता। आप मुनिश्री मगनलालजी उनके बाल्यावस्था के साथी थे; अतः सम्भव है वे उनके संकेतों को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट समझते थे। तभी तो उन्होंने आपको उस सांकेतिक पद्य का उत्तर देने की प्रेरणा दी होगी। अन्य किसी के पास उन संकेतों को समझने के साधन तो नहीं थे; पर अनुमान अनेकों का यही था कि उसके द्वारा गुरुदेव ने अपनी अतिशय कृपा का द्योतन करने के साथ-साथ भावी के लिए बहुविस्तार का आशीर्वचन भी दिया था।

विस्तार में योग-दान

बीज छोटा होता है; पर उसकी योग्यताएं बहुत बड़ी होती हैं। उसके अपने विकास के साथ-साथ योग्यताओं का भी विस्तार होता रहता है। उस विस्तार में अनेकों का योग-दान होता है। बीज उसे कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करता है और आगे बढ़ता है। आचार्यश्री में व्याप्त बीज-शक्तियों का विकास भी उसी क्रम से हुआ है। वे आज जो कुछ हैं; वैसे बनते अनेक वर्ष लगे हैं। आज भी वे अपने आपको परिपूर्ण नहीं मानते। वे मानते हैं कि निर्माण की गति कभी रुकनी नहीं चाहिए। मनुष्य को सीखते ही रहना चाहिए। जहाँ उपयोगी वस्तु मिले, उसे निःसंकोच भाव से ग्रहण करते रहना चाहिए। उन्होंने अपने बाल्य-जीवन से आज तक अनेकों व्यक्तियों से सीखा है। हरएक का यही क्रम होता है। पहले स्वयं सीखता है; तब फिर सिखाने योग्य बनता है। शिष्य बने बिना कौन गुरु बन पाया है? हरएक व्यक्ति के ज्ञात तथा अज्ञात अनेक गुरु होते हैं। प्रथम गुरु माता को माना जाता है। शिक्षा का बीज-वपन उसीसे प्रारम्भ होता है। उसके अतिरिक्त परिवार के तथा आस-पास के वे सब व्यक्ति कुछ-न-कुछ सिखाने में सहयोगी बनते ही हैं; जिनके कि सम्पर्क में आते रहने का अवसर मिलता है। किसने क्या और कितना सिखाया है; इसका विश्लेषण करना सहज नहीं होता; अतः उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का यही उपाय हो सकता है कि व्यक्ति सबके प्रति विनम्र रहे। बहुत से

व्यक्तियों के उपकार बहुत स्पष्ट भी होते हैं। उन्हें पृथक् रूप से पहचाना जा सकता है। ऐसे व्यक्तियों के प्रति जो विनम्र तथा भक्ति-प्रभृत व्यवहार होता है वही कृतज्ञता का मापदण्ड बन जाता है।

आचार्यश्री आज सहस्र-सहस्र व्यक्तियों को उपकृत कर रहे हैं; परन्तु वे स्वयं भी अनेकों से उपकृत हुए हैं। वे अपने उपकर्ताओं के विषय में अपने कर्तव्य को जानते हैं। उन व्यक्तियों के नाम से ही वे कृतज्ञता से भर उठते हैं।

प्रत्यक्ष उपकारों में वे अपना सबसे बड़ा उपकारक आचार्यश्री कालूगणी को मानते हैं। इसीलिए वे उनके प्रति सर्वात्मना समर्पित हो कर चलते हैं और अपनी हर क्रिया की श्रेयोभिमुखता में उन्हीं को आन्तरिक प्रेरणा मानते हैं। उनके उपकारों को वे अनिर्वचनीय मानते हैं। वे आज जो कुछ हैं; वह सब आचार्यश्री कालूगणी की ही देन है।

माता वदनाजी के उपकार को भी वे बहुत महत्त्व देते हैं। उनके द्वारा उप्त धार्मिकता का बीज ही तो आज विकसित होकर वनराजी बना है। आगम कहते हैं कि पुत्र पर माता का इतना उपकार होता है कि यदि वह आजीवन उनके मनोनुकूल रहे, सभी शारीरिक सेवाएं करे, तो भी वह ऋण-मुक्त नहीं हो सकता। उनको धार्मिकता में नियोजित करे तो ऋण-मुक्त हो सकता है। आचार्यश्री ने वही किया है। पुत्र के द्वारा दीक्षित होने वाली माताएं इतिहास में विरल ही मिल पायेंगी। स्वभाव की ऋजुता, निरभिमानिता तथा तपस्या ने उनके संयम को और भी उज्ज्वलता प्रदान की है।

मंत्री मुनिश्री मगनलालजी ने भी आपके निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया था। सर्व प्रथम वे आपकी दीक्षा में सहयोगी बने थे। उनकी प्रेरणा ने ही परिवार वालों को इतनी शीघ्र आज्ञा देने को तैयार किया था। दीक्षा के पश्चात् भी वे आपके हर विकास को प्रोत्साहन देते रहे थे। युवाचार्य बनने पर वे आपके कर्तव्यों का मार्ग प्रशस्त ... रहे थे। आचार्य बनने के बाद वे आपकी मन्त्रणा के प्रमुख अव-

लम्बन बनकर रहे थे। आचार्यश्री ने उनके उस महत्त्वपूर्ण योग-दान को यों प्रकट किया है—"उस सन्धिकाल मे जब पूज्य कालूगणी का स्वर्गवास हुआ था और मैंने छोटी अवस्था मे सघ का उत्तरदायित्व सम्भाला था, यदि वे नही होते तो मुझे न जाने किन-किन कठिनाइयों का अनुभव करना होता"।[१]

वे आचार्यश्री को किस प्रकार सहयोग-दान करते थे, यह भी आचार्यश्री के शब्दो मे ही पढिये—"एकदिन वे आये और बोले कि आप कभी-कभी मुझे सबके सामने उलाहना दिया करें। मेरा तो उससे कुछ बनता-बिगड़ता नही, दूसरो को एक बोध-पाठ मिलेगा।[२]" यह उस समय की बात है; जबकि आपने शासन-भार सम्भाला ही था। उस समय उपर्युक्त प्रार्थना करने का उनका उद्देश्य यह था कि लघुवय आचार्य के व्यक्तित्व की कोई अवहेलना न कर पाये।

मन्त्रीमुनि के स्वर्गवास होने के समाचार पाकर आचार्यश्री ने कहा था—"वे अतुलनीय व्यक्ति थे। उनकी कमी को पूरा करने वाला कौन साधु है? कोई एक साधु उनकी विशेषताओं को न पा सके तो अनेक साधु मिलकर उनकी विशेषताओं को सजोले, उन्हे जाने न दे।[३]"

मुनिश्री चम्पालाल जी आचार्यश्री के संसार पक्षीय बड़े भाई हैं। वे उनकी दीक्षा मे प्रमुख रूप से प्रेरक रहे थे। दीक्षा के अनन्तर आप उन्हीं की देख-रेख मे रहते थे। उनका नियन्त्रण काफी कठोर होता था, पर जो स्वय अपने नियन्त्रण मे रहता हो, उसके लिए दूसरे का नियन्त्रण केवल व्यवहार-मात्र ही होता है। शासक तथा बड़े भाई होने के नाते वे सदैव उनका उस समय भी सम्मान करते रहे थे, आज भी करते हैं। अपने निर्माण में वे उनका भी यथोचित भाग मानते हैं।

---

१. जैन भारती २८ फरवरी, १९६०
२. जैन भारती २८ फरवरी, १९६०
३. जैन भारती २८ फरवरी, १९६०

आपके अध्ययन-कार्य में मुनिश्री चौथमलजी का भी अच्छा सहयोग रहा था। वे एक तेजस्वी और कार्य-निष्ठ व्यक्ति थे। भिक्षुशब्दानुशासन महाव्याकरण तथा कालुकौमुदी आदि के निर्माण में उनका जीवन लगा था। तेरापंथ के भावी छात्रों के लिए उनका श्रम वरदान बन गया। वे जो भी कार्य करते थे, पूरी लगन से करते थे।

आयुर्वेदाचार्य आशुकविरत्न, पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा तेरापंथ में विद्या-प्रचार के लिए बहुत बड़े निमित्त बने हैं। उनसे पूर्व पंडित घनश्यामदास जी ने भी महत्त्वपूर्ण योग-दान किया था। उन्होंने अपना सहयोग उस समय किया था, जबकि बिना अर्थ-प्राप्ति के उतना प्रयत्न करने वाले मिलने ही कठिन थे। प० रघुनन्दनजी का महत्त्व इसलिए है कि विद्या-विकास का द्वार पूर्णत उन्हीं के योग से खुला था। मुनिश्री चौथमलजी ने भिक्षुशब्दानुशासन का निर्माण किया। पंडित जी ने उस पर बृहद्वृत्ति लिखकर तेरापंथ के मुनि-समाज को संस्कृत-अध्ययन में स्वावलम्बी बना दिया। आचार्यश्री को व्याकरण तथा दर्शन-शास्त्र के अध्ययन में इन्हीं का योग-दान रहा था।

आगम-ज्ञान अर्जन करने में आचार्यश्री के मार्ग-दर्शक मुनिश्री भीमराजजी तथा मुनिश्री हेमराजजी थे। मुनिश्री भीमराजजी को आगमों का जितना गहरा ज्ञान था, उतना कम ही व्यक्तियों को होता है। वे अनेक सन्तों को आगम का अध्ययन कराते रहते थे। समय के बड़े पक्के थे। निर्णीत समय से पाँच मिनट पहले या पीछे भी उन्हें अखरता था। आगम-रहस्यों की गहराई तक स्वयं उनकी तो अबाध गति थी ही; पर वे अपने छात्रों में भी वैसा ही सामर्थ्य भर देते थे। आचार्यश्री ने उनके पास अनेक आगमों का अध्ययन किया था। वे अपने शेष जीवन तक अपने ही प्रकार से जिये। सेवा लेना उन्होंने प्रायः कभी पसन्द नहीं किया। पराश्रयी होकर जीना उनके सिद्धान्तवादी मन ने कभी स्वीकार नही किया था। आचार्यश्री की दृष्टि में उनके गुण अनुकरणीय तो थे ही; पर साथ ही अनेक गुण ऐसे भी थे; जो अद्वितीय थे।

मुनिश्री हेमराजजी का भी आगम-ज्ञान बड़ा गहरा था। आगम-मन्थन उन्होंने इतने बड़े पैमाने पर किया था कि साधारणतया उनके तर्कों के सामने टिक पाना कठिन होता था। आचार्यश्री के आगम-ज्ञान को परिपूर्णता की ओर ले जाने मे उनका पूरा हाथ था।

आचार्यश्री इन सभी व्यक्तियो के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ रहे हैं। बातचीत के सिलसिले में जब कभी इन व्यक्तियो मे से किसी का भी प्रसग उपस्थित हो जाता है; तब वे बड़े भावुक बनकर इनका वर्णन करते हैं। अपने गुरुजनों और श्रद्धेयो के प्रति उनकी अतिशय कृतज्ञता की यह भावना उनके गौरव को और ऊंचा उठा देती है।

: ३ :

युवाचार्य

घोषणा

सं० १९९३ में आचार्यश्री कालूगणी का चातुर्मासिक निवास गंगापुर(मेवाड़) में था। वहाँ पहुँचने से पूर्व ही उनका शरीर रोगाक्रान्त हो गया था। फिर भी वे गंगापुर पहुँचे। शरीर क्रमशः रोगों से अधिकाधिक घिरता गया। बचने की आशाएँ धूमिल होने लगीं। ऐसी स्थिति में संघ के भावी अधिकारी का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक था।

तेरापंथ के विधानानुसार आचार्य अपनी विद्यमानता में ही भावी आचार्य का निर्धारण करते हैं। यह उनका सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व होता है। यदि वे किसी कारणवश अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वहन नहीं कर पाते तो वह उनके कर्तव्य की अपूर्ति तो होती ही है परन्तु वह स्थिति सारे संघ के लिए भी चिन्ताजनक हो जाती है। आचार्य श्री माणकगणी के समय एक बार ऐसा हो चुका था। उस समस्या को बड़े ही सात्त्विक ढंग से सुलझाकर तेरापंथ एक विकट परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ था। वैसी परिस्थिति का दुहराया जाना किसी को अभीष्ट नहीं था। अतः हितैषी जन ऐसे समय में विशेष सावधानी बरतते हैं, अतः अनेक व्यक्तियों ने गुरुदेव का ध्यान उस समस्या की ओर खींचा। कालूगणी स्वयं ही उस विषय में पूर्णतः सजग थे। उन्होंने उचित समय पर उस कार्य को सम्पन्न कर देने की घोषणा कर दी।

आदेश-निर्देश

गुरुदेव ने आपको एकान्त में बुलाना प्रारम्भ कर दिया। उसमें आपको संघ की सारणा-वारणा-सम्बन्धी आवश्यक आदेश-निर्देश दिये गये

कुछ बातें मुखरय कही गईं तथा कुछ लिखाई भी गईं। इतने दिन तक जो बातें केवल संकेत के रूप में ही सामने आती थी, उस समय वे सब स्पष्टता से सामने उभरने लगी। जन-जन की कल्पनाओं में बना हुआ अव्यक्त चित्र तब व्यवहार के पट पर स्पष्ट रेखाओं के रूप में अभिव्यक्त होने लगा। गुरुदेव उन दिनों साधु-साध्वियों को विशेष शिक्षा प्रदान करते समय यह कहते—"किसी समय आचार्य अवस्था में छोटे होते हैं, किसी समय बड़े, फिर भी सबको समान रूप से उनके अनुशासन का पालन करना चाहिये। गुरु जो कुछ करते हैं, वह शासन के हित को ध्यान में रखकर ही करते हैं।" तब प्राय सभी जानने लग गये थे कि गुरुदेव का संकेत क्या है। गुरुदेव उसे छिपाना चाहते भी नहीं थे। नाम की उद्घोषणा नहीं की गई थी, केवल इसीलिए वे उसे बचाना चाहते थे।

उत्तराधिकार-पत्र

विधिवत् उत्तराधिकार-समर्पण करने का कार्य प्रथम भाद्र शुक्ला तृतीया को सम्पन्न किया गया। प्रातःकाल का समय था। रंग-भवन के हॉल में साधु-साध्वियाँ तथा कुछ श्रावक उपस्थित थे। सारी जनता को वहाँ जाने की छूट नहीं दी जा सकती थी। उस हॉल में तो क्या, विशाल पण्डाल में भी वह नहीं समा सकती थी। लोग बहुत बड़ी संख्या में आये हुए थे। कहा जाता है कि गंगापुर बसने के बाद इतने लोगों का आगमन वहाँ पहले-पहल ही हुआ था। जनता में अपार उत्सुकता थी। सब कोई युवाचार्य-पद प्रदान करने के उत्सव में सम्मिलित होना चाहते थे, पर ऐसा सम्भव नहीं था। स्थितिजन्य विवशता थी। रुग्ण होने के कारण गुरुदेव पंडाल में तो क्या; उस कमरे से बाहर भी नहीं जा सकते थे। हॉल में भी अधिक भीड़ का एकत्रित होना अभीष्ट नहीं था। इससे उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना थी।

अशक्त होते हुए भी कर्तव्य की पुकार के बल पर आचार्य श्री कालू-

गणी बैठे। युवाचार्य-पद का पत्र लिखा। फूलते हुए साँस, धूजते हुए हाथ और पीडा-व्याकुल प्रत्यंग की अवहेलना करते हुए उन्होंने कुछ पंक्तियाँ लिखी। मोटे-मोटे अक्षर और टेढ़ी-मेढ़ी पंक्तियों वाला वह ऐतिहासिक पत्र कई विश्रामों के बाद पूरा हुआ। तदनन्तर आपको युवाचार्य-पद का उत्तरीय धारण कराया गया और पत्र पढ़कर जनता को सुनाया गया। उसमें लिखा था :

गुरुभ्योनमः
भिक्षु पाट भारीमल
भारीमल पाट रायचन्द
रायचन्द पाट जीतमल
जीतमल पाट मघराज
मघराज पाट माणकलाल
माणकलाल पाट डालचन्द
डालचन्द पाट कालूराम
कालूराम पाट तुलसीराम।
विनयवंत आज्ञा-मर्यादा प्रमाणे चालसी, सुखी होसी।
संवत् १९९३ भाद्रवा प्रथम सुदी ३ गुरुवार।

आचार्यश्री कालूगणी तथा युवाचार्य श्री तुलसी के जयनादों से वातावरण गुंजायमान हो गया। योग्य धर्मनेता को प्राप्त कर सबको गौरवानुभूति हुई। आचार्यश्री कालूगणी तो संघ-प्रबन्ध की चिन्ता से मुक्त हुए ही; परन्तु साथ में सारे संघ को भी निश्चिन्तता का अनुभव हुआ।

अदृष्ट-पूर्व

युवाचार्य के प्रति साधु-साध्वियों के क्या कर्तव्य होते हैं; यह जानने वाले वहाँ बहुत कम ही साधु थे। जयाचार्य के समय आचार्यश्री मघवा-गणी अनेक वर्षों तक युवाचार्य रहे थे। उसके बाद लगभग ४५ वर्षों में कोई ऐसा अवसर आया ही नहीं। आचार्यश्री माणकगणी को युवाचार्य पद दिया गया था, पर वह अत्यन्त स्वल्पकालीन था, अतः कर्तव्य-बोध

के लिए नगण्य-सा ही समय प्राप्त हुआ था। उसे देखने वालों में भी एक तो स्वयं गुरुदेव तथा दूसरे मुनिश्री मगनलालजी; बस ये दो ही व्यक्ति वहाँ विद्यमान थे। शेष के लिए तो वह पद्धति अदृष्ट-पूर्व ही थी।

पहले-पहल स्वयं गुरुदेव ने ही युवाचार्य के प्रति साधु-साध्वियों के कर्तव्यों का बोध-प्रदान किया। शेष सारी बातें मंत्रीमुनिश्री मगनलाल-जी यथासमय बतलाते रहे थे। आचार्य के समान ही युवाचार्य के सब काम किये जाते हैं। पद की दृष्टि से भी आचार्य के बाद उन्हीं का स्थान होता है। गुरुदेव ने युवाचार्य के व्यक्तिगत सेवाकार्यों का भार मुनिश्री दुलीचन्दजी (सार्दूलपुर) को सौंपा। वे अपने उस कार्य को आज भी उसी निष्ठा और लगन से तथा पूर्ण निष्काम और निर्लेप-भाव से कर रहे हैं।

अधूरा स्वप्न

आचार्यश्री कालूगणी को अपने स्वास्थ्य की अत्यन्त शोचनीय अवस्था के कारण ही उस समय उत्तराधिकारी की नियुक्ति करनी पड़ी थी; अन्यथा उनका स्वप्न कुछ और ही था। अपने उस अधूरे स्वप्न का अत्यन्त मार्मिक शब्दों में विवेचन करते हुए एक दिन उन्होंने सभी के समक्ष कहा भी था कि युवाचार्य-पद प्रदान करने की मेरी जो योजना थी; वह मेरे मन में ही रह गई। अब उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है। जिस कार्य को मैं छोगांजी (घोर तपस्विनी गुरुदेव की संसार पक्षीया माता) के पास बीदासर पहुँचने के पश्चात् सु-आयोजित ढंग से करने वाला था, वह मुझे यहीं पर बिना किसी विशेष आयोजना के करना पड़ा है। काल के सम्मुख किसी का कोई वश नहीं है।

नये वातावरण में

युवाचार्य बनने के साथ ही आपको नये वातावरण में प्रवेश करना पड़ा। वहाँ सब कुछ नया-ही-नया था। नये सम्मान का भार इतना बढ़ गया था कि आप उससे बचना चाहते थे; परन्तु बच नहीं पा रहे थे।

जनता द्वारा वर्णित पढ़ा और विरह की बाढ़ में बहा जाने की स्थिति-सी अनुभव कर रहे थे। जिन गणिवर मुनियों का आप सम्मान करते रहे थे, अब वे सब आपका सम्मान करने लगे थे। उनके सामने पड़ते ही आपकी आँखें झुक जाती थीं। तेरापंथ संघ की विनय-पद्धति की उत्कृष्टता ने आपको अप्रत्याशित रूप से अभिभूत कर लिया था। उन दिनों आप जिधर से भी जाते, मार्ग जनाकीर्ण हो जाता। सभी कोई दर्शन करना चाहते, परिचय करना चाहते, कम-से-कम एक बार मुख होकर देख लेना तो चाहते ही थे।

जब व्याख्यान देने गये

यों तो व्याख्यान आप कई वर्षों से ही देते आ रहे थे। जनता को रस-प्लावित करने की आप में अपूर्व क्षमता थी, परन्तु उस दिन जबकि युवाचार्य बनने के पश्चात् आप अपना प्रथम व्याख्यान देने गये; तब आपके मानस की स्थिति बड़ी ही विचित्र थी। अब भी आप कभी-कभी अपनी उस मानस-स्थिति का पुनरवलोकन या विश्लेषण करते हैं; तब भाव-विभोर हो जाते हैं।

पण्डाल जनता से खचाखच भरा हुआ था। उसके सामने की ऊँची चौकी पर पट्ट बिछाया गया था। उसी के पास बैठ कर पहले मुनिश्री मगनलालजी ने जनता को धर्मोपदेश दिया और कुछ देर बाद व्याख्यान देने के लिए आप गये। अनेक मुनि साथ थे। वृद्ध मुनिश्री मगनलालजी तथा समस्त जनता ने खड़े होकर युवाचार्योचित अभिवादन किया। आप उसे स्वीकार करते हुए चौकी पर चढ़कर पट्ट के पास आये; किन्तु सहसा ही ठिठक कर खड़े रह गये। जनता आपके बैठने की प्रतीक्षा में खड़ी थी; पर आप बैठ नहीं पा रहे थे। सम्भवतः आप सोच रहे थे कि वयोवृद्ध तथा सम्मान्य मुनिश्री मगनलालजी के सामने पट्ट पर बैठें तो कैसे? मुनिश्री ने देखा तो बढ़कर आगे आये, प्रार्थना की, जोर दिया और जब उससे भी काम नहीं बना तो हाथों के कोमल तथा भक्ति-सभृत दबाव से

आपको उस पर बिठाकर ही रहे। उस समय उस कार्य का प्रतिकार करने की कोई स्थिति आपके पास नहीं थी।

जैसे-तैसे सहमे-सहमे, सकुचे-सकुचे-से आप पट्ट पर बैठ तो गये; परन्तु तब भी व्याख्यान की समस्या तो सामने ही थी। बड़ी निर्भीकता से व्याख्यान देने का सामर्थ्य रखते हुए भी उस दिन प्राय समूचे व्याख्यान में आपके नेत्र ऊँचे नहीं उठ पाये। वह नये उत्तरदायित्वों की झिझक थी, जो कि प्रथम व्याख्यान के अवसर पर सहसा उभर आई थी।

वह प्रथम अवसर की झिझक थी। अन्दर की योग्यता उसमें से भी झाँक-झाँक कर बाहर देख रही थी। आपने अपने सामर्थ्य तथा वर्चस्व को वहाँ जितना भी छिपाने का प्रयास किया; वह उतना ही अधिक प्रबलता के साथ उभर कर बाहर आया। शीघ्र ही आपने अपने को उस नये वातावरण के अनुरूप ढाल लिया। झिझक मिट गई।

केवल चार दिन

युवाचार्य-पद प्रदान करने के बाद आचार्य श्री कालूगणी एक प्रकार से चिन्ता-मुक्त हो गये थे। सघ-प्रबन्ध के सारे काम आप करने लग गये थे। कुछ काम तो पहले से ही आपको सौंपे हुए थे, परन्तु अब व्याख्यान, आज्ञा, धारणा आदि भी आपको सँभला दिये गये। आचार्य के सम्मुख युवाचार्य की स्थिति बड़ी सुखद घटना थी, परन्तु वह अधिक लम्बी नहीं हो सकी। चार दिन बाद ही आचार्यश्री कालूगणी का देहावसान हो गया। युवाचार्य के रूप में हम उन्हें केवल चार दिन ही देख पाये। मन कल्पना करता है कि वे दिन बढ़ पाये होते तो कितना ठीक होता? परन्तु कल्पना को वास्तविकता के ससार में उतर आने का कम ही अवसर मिलता है। इसीलिए सारे सघ ने उन चार दिनों में जो कुछ देखा, पाया, उसी को अपनी स्मृति में सुरक्षित रखकर अपने को कृतकृत्य माना।

*

जनता द्वारा अर्पित श्रद्धा और विनय की बाढ़ में आप अपने को निरन्तर अनुभव कर रहे थे। जिन रात्निक मुनियों का आप सम्मान करते रहे थे, अब वे सब आपका सम्मान करने लगे थे। उनके सामने पड़ते ही आपकी आँखें झुक जाती थीं। तेरापंथ संघ की विनय-पद्धति की एकार्णवता आपको अप्रत्याशित रूप में अभिभूत कर लिया था। उन दिनों आप जिधर से भी जाते, मार्ग जनाकीर्ण ही होता। सभी कोई दर्शन करना चाहते, परिचय करना चाहते, कम-से-कम एक बार तृप्त होकर देख लेना तो चाहते ही थे।

जब व्याख्यान देने गये

यों तो व्याख्यान आप कई वर्षों से ही देते आ रहे थे। जनता को रस-प्लावित करने की आप में अपूर्व क्षमता थी, परन्तु उस दिन जब युवाचार्य बनने के पश्चात् आप अपना प्रथम व्याख्यान देने गये; तब आपके मानस की स्थिति बड़ी ही विचित्र थी। अब भी आप कभी-कभी अपनी उस मानस-स्थिति का पुनरवलोकन या विश्लेषण करते हैं; तो भाव-विभोर हो जाते हैं।

पण्डाल जनता से खचाखच भरा हुआ था। उसके सामने की ऊँची चौकी पर पट्ट बिछाया गया था। उसी के पास बैठ कर पहले मुनिश्री मगनलालजी ने जनता को धर्मोपदेश दिया और कुछ देर बाद व्याख्यान देने के लिए आप गये। अनेक मुनि साथ थे। वृद्ध मुनिश्री मगनलालजी तथा तत्रस्थ जनता ने खड़े होकर युवाचार्योचित अभिवादन किया। आप उसे स्वीकार करते हुए चौकी पर चढ़कर पट्ट के पास आये; किन्तु सहसा ठिठक कर खड़े रह गये। जनता आपके बैठने की प्रतीक्षा में खड़ी थी, पर आप बैठ नहीं पा रहे थे। सम्भवतः आप सोच रहे थे कि वयोवृद्ध तथा सम्मान्य मुनिश्री मगनलालजी के सामने पट्ट पर बैठें तो कैसे? मुनिश्री ने देखा तो बढ़कर आगे आये, प्रार्थना की, जोर दिया और जब उससे भी काम नहीं बना तो हाथों के कोमल तथा भक्ति-प्रभूत दबाव से

आपको उस पर बिठाकर ही रहे। उस समय उस कार्य का प्रतिकार करने की कोई स्थिति आपके पास नहीं थी।

जैसे-तैसे सहमे-सहमे, सकुचे-सकुचे-से आप पट्ट पर बैठ तो गये; परन्तु तब भी व्याख्यान की समस्या तो सामने ही थी। बड़ी निर्भीकता से व्याख्यान देने का सामर्थ्य रखते हुए भी उस दिन प्रायः समूचे व्याख्यान में आपके नेत्र ऊँचे नहीं उठ पाये। वह नये उत्तरदायित्वों की झिझक थी; जो कि प्रथम व्याख्यान के अवसर पर सहसा उभर आई थी।

वह प्रथम अवसर की झिझक थी। अन्दर की योग्यता उसमें से भी झाँक-झाँक कर बाहर देख रही थी। आपने अपने सामर्थ्य तथा वर्चस्व को वहाँ जितना भी छिपाने का प्रयास किया; वह उतना ही अधिक प्रबलता के साथ उभर कर बाहर आया। शीघ्र ही आपने अपने को उस नये वातावरण के अनुरूप ढाल लिया। झिझक मिट गई।

केवल चार दिन

युवाचार्य-पद प्रदान करने के बाद आचार्य श्री कालूगणी एक प्रकार से चिन्ता-मुक्त हो गये थे। संघ-प्रबन्ध के सारे काम आप करने लग गये थे। कुछ काम तो पहले से ही आपको सौंपे हुए थे, परन्तु अब व्याख्यान, आज्ञा, धारणा आदि भी आपको सँभला दिये गये। आचार्य के सम्मुख युवाचार्य की स्थिति बड़ी सुखद घटना थी, परन्तु वह अधिक लम्बी नहीं हो सकी। चार दिन बाद ही आचार्यश्री कालूगणी का देहावसान हो गया। युवाचार्य के रूप में हम उन्हें केवल चार दिन ही देख पाये। मन कल्पना करता है कि वे दिन बढ़ पाये होते तो कितना ठीक होता? परन्तु कल्पना को वास्तविकता के संसार में उतर आने का कम ही अवसर मिलता है। इसीलिए सारे संघ ने उन चार दिनों में जो कुछ देखा, पाया; उसी को अपनी स्मृति में सुरक्षित रखकर अपने को कृतकृत्य माना।

*

: ४ :

तेरापंथ के महान् आचार्य

शासन-सूत्र

तेरापंथ की देन

आचार्यश्री तुलसी एक महान् आचार्य हैं। उनका निर्माण तेरापंथ में हुआ है; अतः उनके माध्यम से आज यदि जन-जन तेरापंथ से परिचित हुआ है तो कोई आश्चर्य नहीं। वे तेरापंथ से और तेरापंथ उनसे भिन्न नहीं है। तेरापंथ उनकी शक्ति का स्रोत है और वे तेरापंथ की शक्ति के केन्द्र हैं। यह शक्ति कोई विनाशक या वियोजक शक्ति नहीं है; यह धर्म-शक्ति है; जो कि विधायक और संयोजक है। तेरापंथ को पाकर आचार्यश्री अपने को धन्य मानते हैं तो आचार्यश्री को पाकर तेरापंथ गौरवान्वित हुआ है।

जो व्यक्ति आचार्यश्री तुलसी को गहराई से जानना चाहेगा; उसे तेरापंथ को और जो तेरापंथ को गहराई से जानना चाहेगा; उसे आचार्यश्री तुलसी को जानना आवश्यक होगा। उन्हें एक दूसरे से भिन्न करके कभी पूरा नहीं जाना जा सका। भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री बी० पी० सिन्हा ने तेरापंथ द्विशताब्दी महोत्सव के अवसर पर अपने वक्तव्य में कहा था—"मेरी समझ में तेरापंथ की सबसे बड़ी देन आचार्यश्री तुलसी है; जिन्होंने ठीक समय पर सारे देश में नैतिक जागरण का शंख फूंका है[1]।" उनके इस कथन में आचार्यश्री के महान् व्यक्तित्व और

---

1. जैन भारती २४ जुलाई, १९६०

कर्त्तव्य के प्रति आदर-भाव है; वहाँ ऐसे नररत्न का निर्माण करने वाले तेरापंथ के प्रति कृतज्ञता भी है। व्यक्ति की तेजस्विता जहाँ उसके आधार को प्रख्यात करती है; वहाँ उसके निर्माण-सामर्थ्य को भी उजागर कर देती है।

समर्पण-भाव

आचार्यश्री तेरापंथ के नवम अधिशास्ता हैं। उनके अनुशासन में रहने वाला शिष्यवर्ग उनके प्रति पूर्ण समर्पण की भावना रखता है। यह अनुशासन न तो किसी प्रकार के बल से थोपा जाता है और न किसी प्रकार की उसमें बाध्यता ही होती है। आचार्यश्री के शब्दों में उसका स्वरूप यह है—"तेरापंथ का विकास अनुशासन और व्यवस्था के आधार पर हुआ है। हमारा क्षेत्र साधना का क्षेत्र है। यहाँ बल-प्रयोग का कोई स्थान नहीं है। जो कुछ होता है; वह हृदय की पूर्ण स्वतन्त्रता से होता है। आचार्य अनुशासन व व्यवस्था देते हैं, समूचा संघ उसका पालन करता है। इसके मध्य में श्रद्धा के अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति नहीं है। श्रद्धा और विनय, ये हमारे जीवन के मन्त्र हैं। आज के भौतिक जगत् में इन दोनों के प्रति तुच्छता का भाव पनप रहा है; वह अकारण भी नहीं है। बड़ों में छोटों के प्रति वात्सल्य नहीं है, बड़े लोग छोटे लोगों को अपने अधीन ही रखना चाहते हैं। इस मानसिक द्वन्द्व में बुद्धिवाद अश्रद्धा और अविनय की ओर झुक जाता है। हमारा जगत् आध्यात्मिक है। इसमें छोटे-बड़े का कृत्रिम भेद है ही नहीं। अहिंसा हम सबका धर्म है। उसकी नसों में प्रेम और वात्सल्य के सिवाय और है ही क्या? जहाँ अहिंसा है, वहाँ पराधीनता हो ही नहीं सकती। आचार्य शिष्य को अपने अधीन नहीं रखता; किन्तु शिष्य अपने हित के लिए आचार्य के अधीन रहना चाहता है। यह हमारी स्थिति है।"[1]

---

१. जैन भारती २४ जुलाई, १९६०

अनुशासन और व्यवस्था

अनुशासन और सुव्यवस्था के विषयों में तेरापथ को प्रारम्भ से ही ख्याति उपलब्ध है। उसके विरोधी अन्य बातों के विषय में चाहे कुछ भी कहते हों, परन्तु इन विषयों में तो बहुधा वे तेरापथ की प्रशंसा ही करते पाये गये हैं। तेरापंथ का लक्ष्य है—चारित्र की विशुद्धि। अनुशासन और सुव्यवस्था के बिना चारित्र की विशुद्ध आराधना असम्भव होती है। तेरापथ के प्रतिष्ठाता आचार्यश्री भिक्षु इस रहस्य से सुपरिचित थे। इसीलिए उन्होंने इसकी स्थापना के साथ ही इन गुणों पर विशेष बल दिया। वे सफल भी हुए। *अनुशासन और व्यवस्था के विघटन* में जिन प्रमुख कारणों को उन्होंने अन्य साधु-संघों में देखा था; तेरापथ में उन्होंने उनको पनपने ही नहीं दिया। उन्होंने तेरापथ के संविधान का उद्देश्य यही बतलाया—"न्याय-मार्ग चालण री नै चरित्र चोखो पालण रो उपाय कीधो छै।"

आचार्यश्री ने तेरापंथ-द्विशताब्दी-महोत्सव पर अपने मंगल-प्रवचन में कहा था—"तेरापथ का उद्भव ही चारित्र की शुद्धि के लिए हुआ है। देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता है, इस तथ्य को आचार्य भिक्षु स्वीकार करते थे। पर देश-काल के परिवर्तन के साथ मौलिक आचार का परिवर्तन होता है, यह उन्हें मान्य नहीं हुआ। इस स्वीकृति में ही तेरापथ के उद्भव का रहस्य है। चारित्र की शुद्धि के लिए विचार की शुद्धि और व्यवस्था, ये दोनों स्वयं प्राप्त होते हैं। विचार-शुद्धि का सिद्धान्त आगम सूत्रों से सहज ही मिला और व्यवस्था का सूत्र मिला देश-काल की परिस्थितियों के अध्ययन से। आचार्य भिक्षु ने देखा; वर्तमान के साधु शिष्यों के लिए विग्रह करते हैं। उन्होंने शिष्य-परम्परा को समाप्त कर दिया। तेरापंथ का विधान किसी भी साधु को शिष्य बनाने का अधिकार नहीं देता।

"आज तेरापथ के साधु-साध्वियाँ इसलिए सन्तुष्ट हैं कि उनके शिष्य-शिष्याएं नहीं हैं।

"आज तेरापंथ इसलिए सगठित और सुव्यवस्थित है कि उसमे शिष्य-शाखा का प्रलोभन नही है।

"आज तेरापथ इसलिए शक्ति-सम्पन्न और प्रगति के पथ पर है कि वह एक आचार्य के अनुशासन मे रहता है और उसका साधु-वर्ग छोटी-छोटी शाखाओ मे बटा हुआ नही है।"[1]

तेरापथ की व्यवस्था बहुत सुदृढ है। इसका कारण यह है कि उसमे सबके प्रति न्याय हो; यह विशेष ध्यान रखा गया है। आचार्यश्री भिक्षु ने दो सौ वर्ष पूर्व सघ-व्यवस्था के लिए जो सूत्र प्रदान किये थे, वे इतने सुदृढ प्रमाणित हुए हैं कि आज के समाजवादी सिद्धान्तो का उन्हे एक मौलिक रूप कहा जा सकता है। आचार्यश्री के शब्दो मे वह इस प्रकार है—"आचार्यश्री भिक्षु ने व्यवस्था के लिए जो समता का सूत्र दिया; वह समाजवाद का विस्तृत प्रयोग है। यहाँ सब-के-सब श्रमिक हैं और सब-के-सब पण्डित। हाथ, पैर और मस्तिष्क मे अलगाव नही है। सामुदायिक कार्यों का सविभाग होता है। सब साधु-साध्वियाँ दीक्षा-क्रम से अपने-अपने विभाग का कार्य करती हैं। खान, पान, स्थान, पात्र आदि सभी उपयोगी वस्तुओ का सविभाग होता है। यदि खाने वाले चार हो तो एक रोटी के चार टुकडे हो जाते है। यदि पीने वाले चार हों तो एक सेर पानी पाव-पाव कर चार भागो मे बट जाता है[2]। यह सविभाग साधु-साध्वियों के जीवन-व्यवहार मे आने वाली प्रत्य हर वस्तु पर लागू पड़ता है। 'असविभागी न हु तस्स मोक्खो'[3] अर्थात् सविभाग नही करने वाला व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नही हो सकता, यह आगम-वाक्य तेरापथ-सघ-व्यवस्था के लिए मार्ग-दर्शक बन गया है।

समाजवाद का सूत्र यही तो है कि "एक के लिए सब और सब

---

१. जैन भारती २४ जुलाई, १९६०
२. जैन भारती २४ जुलाई, १९६०
३. दशवैकालिक सूत्र, अ० ६, उ० २, गा० २२

के लिए [illegible] और वह तेरापंथ के लिए अनुशासन में आबद्ध रहता है [illegible] [illegible] [illegible] में मिले इस [illegible] की [illegible] को [illegible] की [illegible] [illegible] – इस [illegible] को [illegible] [illegible] नहीं [illegible] है [illegible] इन उन्हीं सिद्धान्तों को [illegible] में भी लागू करना चाहते हैं।"

प्रथम वक्तव्य

आचार्यश्री ने तेरापंथ का शासन-भार वि० सं० १९९३ भाद्र-शुक्ला नवमी को संभाला था। उस समय संघ में १३९ साधु और ३३३ साध्वियाँ थीं। उनमें से ७६ साधु तो उनसे दीक्षा-पर्याय में बड़े थे। छोटी अवस्था, बड़ा संघ और उस संघ पर शासन अनुशासन की समस्या थी। उस समय भी आचार्यश्री का धैर्य विचलित नहीं हुआ। उन्हें अपने सामर्थ्य पर विश्वास था, वहाँ संघ के साधु-साध्वियों की नीतिमत्ता और अनुशासन-प्रियता पर भी कोई कम विश्वास नहीं था। दर्शन के मध्याह्न में उन्होंने अपनी नीति के बारे में जो प्रथम वक्तव्य दिया था; उसमें ये दोनों ही विश्वास परिपूर्णता के साथ प्रकट किये गये थे। उस वक्तव्य का कुछ अंश यों है

"श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री कालूगणी का स्वर्गवास हो गया। इससे मैं स्वयं खिन्न हूँ। साधु-साध्वियाँ भी खिन्न हैं। मृत्यु एक अवश्यम्भावी घटना है। उसे किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता। खिन्न होने से क्या बने? इस बात को विस्मृत ही बना देना है। इसके सिवाय चित्त को स्थिर करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

"अपना संघ नीति-प्रधान संघ है। इसमें सभी साधु-साध्वियाँ नीतिमान् हैं, रीति—मर्यादा के अनुसार चलने वाले हैं। इसलिए किसी को कोई विचार करने की जरूरत नहीं है। श्रद्धेय गुरुदेव ने मुझे संघ का कार्य-भार सौंपा है। मेरे नन्हें कन्धों पर उन्होंने अगाध विश्वास किया;

इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। संघ के साधु-साध्वियाँ बड़े विनीत, अनुशासित और इंगित को समझने वाले हैं, इसलिए मुझे इस गुरुतर भार को ग्रहण करने में तनिक भी संकोच नहीं हुआ। संघ की नियमावलि को सब साधु-साध्वियाँ पहले की ही तरह हृदय से पालन करते रहें। मैं पूर्वाचार्य की तरह ही सबकी अधिक से अधिक सहायता करता रहूँगा; ऐसा मेरा दृढ़ संकल्प है। इसके साथ मैं सबको सावधान भी कर देना चाहता हूँ कि मर्यादा की उपेक्षा मैं सहन नहीं करूँगा।

"सब तेरापंथ संघ में फलें-फूलें, संयम में दृढ़ रहें; इसी में सबका कल्याण है, संघ की उन्नति है। यह सबका संघ है; इसलिए सभी इसकी उन्नति में प्रयत्नशील रहें।"

बयासी वर्ष के

एक बाईस वर्ष के युवक पर संघ का भार देकर आचार्यश्री कालूगणी ने जिस साहस का काम किया था; आचार्यश्री ने अपने कर्तृत्व से उसमें किसी प्रकार की लांछना नहीं आने दी। वे उस अवस्था में भी एक स्थविर आचार्य की तरह कार्य करने लगे। प्रारम्भ में जो लोग यह आशंका करते कि आचार्य श्री की अवस्था बहुत छोटी है, उन्हें मुनि श्री मगनलालजी कहा करते—"कौन कहता है, आचार्यश्री की अवस्था छोटी है? आप तो बयासी वर्ष के हैं।" वे अपनी बात की पुष्टि इस प्रकार करते—"जन्म के वर्षों से ही अवस्था नहीं होती, वह अनुभवों की अपेक्षा से भी हो सकती है। जन्म की अपेक्षा से आप अवश्य बाईस वर्ष के हैं; किन्तु अनुभवों की अपेक्षा से आपकी अवस्था बहुत बड़ी है। आचार्यश्री कालूगणी ने अपनी साठ वर्ष की अवस्था तक जो अनुभव अर्जित किये थे; वे सब उनके द्वारा आपको सहज ही प्राप्त हो गये हैं; अतः अनुभवों की दृष्टि से आप बयासी वर्ष के होते हैं।" मन्त्री मुनि के इस कथन ने उस समय के वातावरण में एक प्रगाढ़ता और गौरव ला दिया था।

सुचारु संचालन

तेरापंथ का शासन-सूत्र संभालते ही आचार्यश्री के सामने सबसे प्रमुख कार्य था—संघ का सुचारु रूप से संचालन। संघ-संचालन का अनुभव एक नवीन आचार्य के लिए होते-होते ही होता है, किन्तु आचार्यश्री ने उसमें सहज ही सफलता प्राप्त करली। वे अपने कार्य में पूर्ण जागरूक रहकर बढ़े। अनुशासन करने की कला में यों तो वे पहले से ही निपुण थे; पर अब उसे विस्तार से कार्यरूप देने का अवसर था। उन्होंने अपने प्रथम वर्ष में ही जिस प्रकार से संघ-व्यवस्था को संभाला; वह श्लाघनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी था। उन्होंने साधु-संघ के स्नेह को जीत लिया था। जिन व्यक्तियों को यह आशंका थी कि एक बाईस वर्षीय आचार्य के अनुशासन में संघ के अनेक प्राचीन व विद्वान् मुनि कैसे चल पायेंगे; उनकी वह आशंका शीघ्र ही निर्मूल हो गई।

तेरापंथ में समूचे साधु-संघ के चातुर्मासिक प्रवास तथा शेषकालीन विहरण के क्षेत्रों का निर्धारण एकमात्र आचार्य ही करते हैं। वह कार्य यदि सुव्यवस्था से न हो तो असन्तोष का कारण बनता है। इसके साथ-साथ प्रत्येक सिंघाड़े में पारस्परिक प्रकृतियों का सन्तुलन भी बिठाना पड़ता है। पिछले वर्ष में किये गये समस्त कार्य का लेखा-जोखा भी उसी समय लिया जाता है। संघ-उन्नति के विशिष्ट कार्यों की प्रशंसा और खामियों का दोष-निवारण भी एक बहुत बड़ा कार्य है। रुग्ण साधु-साध्वियों की व्यवस्था के लिए विशेष निर्धारण करना पड़ता है। वृद्ध जनों की सेवा और उनकी चित्त-समाधि के प्रश्न को भी प्राथमिकता के आधार पर हल करना होता है। इतना सब कुछ करने के बाद शेष सिंघाड़ों के लिए आगामी वर्ष का मार्ग-निर्धारण किया जाता है। लेखन-पठन आदि के विषय में भी पूछताछ तथा दिशा-निर्देशन करना आचार्य का ही काम होता है। ये सब कार्य गिनाने में जितने लघु हैं; करने में उतने ही बड़े और जटिल हैं। जो आचार्य इन सबमें अत्यन्त जागरूकता के साथ मुनिजनों की श्रद्धा प्राप्त कर सकता है; वही संघ का सुचारु-

रूप में संचालन कर सकता है। आचार्यश्री ने इन सब कार्यों का व्यवस्थित संचालन ही नहीं किया, अपितु इनमें नये प्राणों का संचारण भी किया।

असाम्प्रदायिक भाव

पर-मत-सहिष्णुता

आचार्यश्री द्वारा किये गए अनेक विकास कार्यों में प्रमुख और प्रथम है—चिन्तन-विकास। अन्य समाजों के समान तेरापंथ भी एक सीमित दायरे में ही सोचता था। सम्प्रदाय-भावना उसमें भी प्रायः वैसी ही थी, जैसी कि किसी भी धर्म-सम्प्रदाय में हुआ करती है। आचार्यश्री ने उस चिन्तन को असाम्प्रदायिकता की ओर मोड़ा। सम्प्रदाय शब्द का मूल अर्थ होता है—गुरु-परम्परा। यह कोई बुरी वस्तु नहीं है। वह बुरी तब बनती है; जब असहिष्णुता के भाव आते हैं। वृक्ष का मूल एक होता है, पर शाखाओं, प्रशाखाओं तथा टहनियों के रूप में उसकी अनेकता से भी कोई कमी नहीं होती, फिर भी उनमें कोई असहिष्णुता नहीं होती, मन में परस्पर एक दूसरे की शक्ति और शोभा बढ़ाती है। मनुष्य जहाँ भी रहा है, सम्प्रदाय, संगठन, परम्परा आदि बनाकर रहा है। तब भला वैसे कोई सम्प्रदायातीत हो सकता है? अपने सामूहिक जीवन की कोई-न-कोई परम्परा अवश्य ही विरासत में हर व्यक्ति को मिलती है। 'भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय नहीं रहने चाहिएं' यह कहने वाले भी तो अलग एक सम्प्रदाय बनाकर ही रहते हैं। आचार्यश्री की दृष्टि में असाम्प्रदायिकता का अर्थ होता है—पर-मत-सहिष्णुता। जब तक मनुष्य में पर-मत-सहिष्णुता रहेगी, तब तक मत-भेद होने पर भी मन-भेद नहीं हो सकेगा। असहिष्णुता ही मत-भेद को मन-भेद में बदलने वाली होती है। जो व्यक्ति प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता के भाव रखता है, वह चाहे फिर किसी भी सम्प्रदाय में रहता हो, असाम्प्रदायिक ही कहा जायगा।

इस चिन्तन-विकास ने तेरापंथ को वह उदारता प्रदान की है, जो

अवश्य है; परन्तु असंभव नहीं; क्योंकि उनमें मूलत: ही समन्वय के तत्त्व अधिक और विरोधी तत्त्व कम पाये जाते हैं। यदि विरोधी तत्त्वों की ओर मुख्य लक्ष्य न रहे तो समन्वय बहुत ही सहज हो जाता है। धार्मिकों के लिए यह एक लज्जास्पद बात है कि वे किसी विचार-भेद को आधार मानकर एक-दूसरे पर आक्षेप करें, घृणा फैलायें और असहिष्णु बनें। आचार्यश्री का विश्वास है कि विचारों की असहिष्णुता मिट जाए तो विभिन्न सम्प्रदायों के रहते हुए भी सामञ्जस्य स्थापित हो सकता है। उनके इन उदार विचारों के आधार पर ही उन्हें एक महत्त्व-पूर्ण आचार्य माना जाता है। जनता उन्हें भारत के एक महान् सन्त के रूप में जानने लगी है।

समय नहीं है

आचार्यश्री अपने इन उदार विचारों का केवल दूसरों के लिए ही निर्माण नहीं करते; वे स्वयं इन सिद्धान्तों पर चलते हैं। वे किसी की व्यक्तिगत आलोचना करना तो पसन्द करते ही नहीं; पर किसी की आलोचना सुनना भी उन्हें पसन्द नहीं है। एक बार एक अन्य सम्प्रदाय के साधु ने आचार्यश्री के पास आकर बातचीत के लिए समय मांगा। आचार्यश्री ने उन्हें दूसरे दिन मध्याह्न का समय दे दिया। यथासमय वे आये और बातचीत प्रारम्भ की। वे अपने गुरु के व्यवहारों से असन्तुष्ट थे; अत: उनकी कमियों का व्याख्यान करने लगे। आचार्यश्री यदि उसमें कुछ रस लेते तो तेरापंथ का प्रमुख रूप से विरोध करने वाले एक विशिष्ट आचार्य की कमजोरियों का वे पता दे सकते थे; परन्तु उन्हें यह अभीष्ट ही नहीं था। उन्होंने उस साधु से कहा—मेरा अनुमान था कि आप कोई तत्त्व-विषयक चर्चा करना चाहते हैं; इसीलिए मैंने समय दिया था। किसी की निन्दा सुनने के लिए मेरे पास कोई समय नहीं है। इस विषय में मैं आपकी कोई सहायता भी नहीं कर सकता। उसी क्षण बातचीत का सिलसिला समाप्त हो गया और आचार्यश्री दूसरे काम में लग गये।

सार्वत्रिक उदारता

उनके उदार विचारों का दूसरा पहलू यह है कि वे हर सम्प्रदाय के व्यक्ति से खुलकर विचार-विमर्श करते हैं। वे इसमें कोई शर्म या संकोच नहीं करते। वे अन्य सम्प्रदायों के धार्मिक स्थानों पर भी निस्संकोच भाव से जाते हैं। जहाँ लोग अन्य सम्प्रदायों के स्थानों में जाना अपना अपमान समझते हैं; वहाँ आचार्यश्री बड़ी रुचि के साथ जाते हैं। वे जानते हैं कि दूर रहकर दूरी को नहीं मिटाया जा सकता। सम्पर्क में आने पर वह दूरी भी मिट जाती है जिसे कभी न मिटने वाला समझा जाता है। वे अनेक बार दिगम्बर और श्वेताम्बर मन्दिरों में जा रहे हैं। अनेक बार वहाँ उन्होंने प्रार्थनाएँ भी की हैं। मूर्तिपूजा में उनका विश्वास नहीं है; पर वे मानते हैं कि जब अन्य सभी स्थानों में भावपूजा की जा सकती है तो वह मन्दिर में भी की जा सकती है। आचार्यश्री के ऐसे विचार सभी लोगों को सहजतया आकृष्ट कर लेते हैं। उनकी यह उदारता इस या उस, किसी एक पक्ष को आधार रखकर नहीं होती; किन्तु सार्वत्रिक होती है। वस्तुतः उदार वृत्तियाँ हर प्रकार की मानसिक दूरी को मिटाने वाली होती हैं।

आगरा के स्थानक में

उत्तर-प्रदेश की यात्रा में आचार्यश्री आगरा पधारे। धर्मशाला में ठहरना था। मार्ग में जैन-स्थानक आया। वहाँ संसद-सदस्य सेठ अचलसिंहजी आदि स्थानकवासी सम्प्रदाय के कुछ प्रमुख श्रावकों ने आगे खड़े होकर प्रार्थना की—"यहाँ कवि अमरचन्दजी महाराज विराज रहे हैं। आप अन्दर पधारने की कृपा कीजिए।" यद्यपि काफी विलम्ब हो चुका था; फिर भी इस समन्वय के क्षण को आचार्यश्री ने छोड़ा नहीं। साधुओं सहित अन्दर पधार गये। इतने में कविजी भी ऊपर से आ गये। वे अच्छे विद्वान् तथा मिलनसार व्यक्ति हैं। स्थानकवासी समाज में अच्छी प्रतिष्ठा है। वे 'उपाध्यायजी' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। आगे

ही बड़ी उल्लासपूर्ण मुद्रा में कहने लगे—"मैं नहीं जानता था कि आप अन्दर आ जायेंगे। आपकी उदारता स्तुत्य है। परोक्ष में जो बातें सुनी थीं; उससे भी कहीं अधिक महत्ता देखकर मुझे प्रसन्नता हुई है।" फिर तो लगभग ढाई बजे तक वहाँ ठहरना हुआ। बातचीत और विचार-विमर्श में इतना उल्लास रहा कि पहले उसकी कोई कल्पना ही नहीं थी। कई वर्ष पूर्व प्रकाशित उपाध्यायजी की 'अहिंसा-दर्शन' नामक पुस्तक में कई जगह तेरापंथ की आलोचना की गई थी। बातचीत के प्रसंग में आचार्यश्री ने उन स्थलों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहा। मुनिश्री नथमलजी उन स्थलों को खोजने लगे, पर वे मिले नहीं। उपाध्यायजी ने मुस्कराते हुए कहा—"यह दूसरा संस्करण है। इसमें आप जो खोज रहे हैं; वह नहीं मिलेगा।" आचार्यश्री की समन्वय-नीति का ही यह प्रभाव कहा जा सकता है कि स्वयं लेखक ने ही अपनी आत्म-प्रेरणा से उन सब आलोचनात्मक स्थलों को अपनी पुस्तक में से हटा दिया था।

वर्णीजी से मिलन

इसी प्रकार एक बार दिगम्बर समाज के बहुमान्य गणेशप्रसादजी वर्णी के यहाँ आचार्यश्री पधारे थे। पारसनाथ हिल का स्टेशन 'ईसरी' है। वे वहाँ एक आश्रम में रहते थे। आचार्यश्री विहार करते हुए वहाँ पधारे तो आश्रम में भी पधारे। आचार्यश्री की इस उदारता से वर्णीजी बड़े प्रभावित और प्रसन्न हुए। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने तेरापंथ के विषय में बड़ी गुणग्राहकता और उदारता भरी वाणी में कहा—"आपका धर्म-संघ बहुत ही संगठित है। ऐसी अद्वितीय अनुशासनप्रियता अन्य किसी भी धर्म-संघ में दिखाई नहीं देती।" इस प्रकार के स्नेहपूर्ण मिलन ही सौहार्द-वृद्धि में बड़े उपयोगी होते हैं। इस मिलन की सारे दिगम्बर-समाज पर एक मूक; किन्तु अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। ये छोटी-छोटी दिखाई देने वाली बातें ही आचार्यश्री को महत्ता के पद पर ताना और बाना बनी हुई हैं।

विजयवल्लभ सूरि के यहां

बम्बई में मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के प्रभावशाली तथा सुप्रसिद्ध आचार्य विजयवल्लभ सूरि के यहाँ भी आचार्यश्री पधारे थे। वहाँ भी बड़े उल्लासमय वातावरण का निर्माण हुआ था। वहाँ के मूर्तिपूजक जैन-समाज पर तो गहरा असर हुआ ही; पर बाहर भी उस मिलन की बहुत अनुकूल प्रतिक्रियाएँ हुईं।

दरगाह में

आचार्यश्री केवल जैनों के धर्म-स्थानों या जैन धर्माचार्यों के यहीं जाते हों; सो बात नहीं है। वे हर किसी धर्म-स्थान और हर किसी व्यक्ति के यहाँ उसी सहज भाव से चले जाते हैं; मानो वह उनका अपना ही धर्म-स्थान हो। अजमेर में वे एक बार वहाँ की सुप्रसिद्ध दरगाह की ओर चले गये। वहाँ के संरक्षक ने उन्हें अन्दर आने से रोक दिया। नंगे सिर वह किसी को अन्दर नहीं जाने देना चाहता था। आचार्यश्री तत्काल वापिस मुड़ गये। किसी भी प्रकार की शिकायत की भावना के बिना उनके इस प्रकार वापिस मुड़ जाने ने उसको प्रभावित किया। दूसरे ही क्षण उसने सम्मुख आकर कहा—"आप तो स्वयं पहुँचे हुए व्यक्ति हैं; अतः आप पर इन नियमों को लागू करना कोई आवश्यक नहीं है। आप मजे से अन्दर जाइये और देखिए।" जिस सौम्य भाव से वे वापिस मुड़े थे, उसी सौम्य भाव से फिर दरगाह की ओर मुड़ गये। अन्दर आकर उसे देखा और उसके इतिहास की जानकारी ली।

वे गुरुद्वारा, सनातन मंदिर, आर्य समाज मंदिर, चर्च आदि में भी इसी प्रकार की निर्बन्धता के साथ जाते रहे हैं। इस व्यवहार ने उनकी समन्वयवादी दृष्टि को बहुत बल दिया है।

श्रावकों का व्यवहार

आचार्यश्री के सहिष्णु और समन्वयी विचारों का अन्य सम्प्रदाय वालों पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। ऐसी स्थिति में स्वयं तेरापंथी-समाज

पर तो उसका प्रभाव पडना ही चाहिए था। वस्तुतः वह पडा भी है। कहीं अधिक तो कहीं कम, प्राय सर्वत्र वह देखा जा सकता है। तेरापथ समाज को प्राय. बहुत कट्टर माना जाता रहा है। उसमें एतद्विषयक परिवर्तन को एक आश्चर्यजनक घटना के रूप में ही लिया जा सकता है। कुछ भी हो; पर इतना निश्चित है कि असहिष्णुता की भावना में कमी और सहिष्णुता की भावना में वृद्धि हुई है।

बम्बई के तेरापथी भाई मोतीचन्द हीराचन्द जवेरी ने संविग्न सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य विजयवल्लभ सूरि को अपने यहाँ निमन्त्रित किया। चौपाटी के अपने मकान 'फूलचन्द-निवास' में सात दिन उन्हें भक्ति-बहुमान सहित ठहराया। तेरापथ-समाज की ओर से उनका सार्वजनिक भाषण भी करवाया गया। आचार्यजी ने उस भाषण में बड़े मार्मिक शब्दों में जैन-एकता की आवश्यकता बतलाई[1]। इस घटना के विषय में भाई परमानन्द ने लिखा है—"एक सम्प्रदाय के श्रावक-जन अन्य सम्प्रदाय के एक मुख्य आचार्य को बुलायें और वे आचार्य उस निमन्त्रण को स्वीकार कर वहाँ जायें, व्याख्यान दें, ऐसी घटना पहले तो कभी कोई भाग्य से ही घटित हुई हो तो हो। एकता के इस वातावरण को उत्पन्न करने में तेरापथी समाज निमित्त बना है, अत वह धन्यवाद का पात्र है[2]।"

फादर विलियम्स

आचार्यश्री उन दिनों बम्बई में थे। कुछ तेरापंथी भाई वहाँ के इंडियन नेशनल चर्च में गये। पादरी का उपदेश सुना। बातचीत की। उन लोगों के उस आगमन तथा उपदेश-श्रवण का चर्च के सर्वोच्च अधिकारी फादर जे० एस० विलियम्स पर बड़ा ही रुचिकर प्रभाव पडा। उनके मन में यह भावना उठी, जिसके शिष्य इतने उदार हैं कि उन्हें

१. प्रबुद्ध जीवन १ मई, '५३
२. प्रबुद्ध जीवन १ मई, '५३

दूसरे धर्म का उपदेश सुनने मे कोई एतराज नहीं है तो उनका गुरु न जाने कितना महान् होगा ? इसी प्रेरणा ने उनको आचार्यश्री का सम्पर्क कराया । वे किसी गद्दीधारी महन्त की कल्पना करते हुए आये थे; पर यहाँ की सारी स्थितियों को देख-सुनकर पाया कि ईसा के उपदेशों का सच्चा पालन यहीं होता है । वे अत्यन्त प्रभावित हुए । एक धर्मगुरु होते हुए भी उन्होंने अणुव्रत स्वीकार किये । अधिकांश अणुव्रत-अधिवेशनों में वे सम्मिलित होते रहे हैं । आचार्यश्री के प्रति उनकी बड़ी उत्कट निष्ठा है ।

साधु-सम्मेलन में

इसी प्रकार के उदारता और सौहार्दपूर्ण कार्यों की एक घटना बीकानेर चोखले की भी है । भीनासर मे एक साधु-सम्मेलन हुआ था। उसमें अखिल भारतीय स्तर पर स्थानकवासी साधु एकत्रित हुए थे। भीनासर अपेक्षाकृत एक छोटा कस्बा है । उससे बिल्कुल सटा हुआ ही गंगाशहर है । वह उससे कई गुना बड़ा है । वहाँ तेरापंथ के लगभग नौसौ परिवार रहते हैं । उन्होंने उस सम्मेलन मे हर प्रकार का सम्भव सहयोग प्रदान किया था । यह सहयोग केवल भाईचारे के नाते ही था और उससे दोनों समाजो मे काफी निकटता का वातावरण बना ।

इस सम्मेलन के अध्यक्ष थे बनेचन्द भाई । उनका जब बीकानेर में जुलूस निकाला गया, तब वहाँ के तेरापंथ-समाज की ओर से उन्हें माला पहनाई गई तथा सम्मेलन की सफलता के लिए शुभ कामना व्यक्त की गई । इस घटना ने उन लोगो को और भी अधिक प्रभावित किया ।

इन सब घटनाओं का अपना एक मूल्य है । ये तेरापंथ के मानस का दिग्दर्शन कराने वाली घटनाएँ हैं । इनके पीछे आचार्यश्री के समन्वयवादी विचारों का बल है । तेरापंथ के सभी व्यक्ति आचार्यश्री की इन उदार प्रेरणाओं से अनुप्राणित हो चुके हों; ऐसी बात नहीं है । अनेक व्यक्ति ऐसे भी हैं; जो आचार्यश्री के इन समन्वयी तथा उदार

कार्यों को सन्देह की दृष्टि से देखते है। उनके विचार से आचार्यश्री तेरापथ को लाभ नही; अलाभ ही पहुँचा रहे हैं। उनका कथन है कि ऐसी प्रवृत्तियों से श्रावकों की एकनिष्ठता टूटती है। आचार्यश्री उनके विचारों को यह समाधान देते है कि तेरापथ सत्य से अभिन्न है। जहाँ सत्य है, वहाँ तेरापथ है और जहाँ सत्य नही है, वहाँ तेरापथ भी नही है, यह व्याप्ति है। समन्वयवादिता तथा गुणज्ञता आदि गुण अहिंसा की भूमिका पर उद्भूत होते हैं; अत. वे सत् और आदेय होते हैं। कदाग्रहवादिता और अवगुण-ग्राहिता आदि दोष हिंसा की भूमिका पर उद्भूत होते हैं, अतः वे असत् और हेय होते हैं। इसीलिए सत्य के प्रति निष्ठा रखना ही तेरापथ के प्रति निष्ठा रखना है। तेरापथ के प्रति निष्ठा रखता रहे और सत्य के प्रति निष्ठा न हो; तो वह वास्तविक तेरापथ तक पहुँचा ही नही है। सम्प्रदाय के रूप में तेरापथ एक मार्ग है। उस पर चलकर पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचना है। मार्ग साधन होता है; साध्य नही।

चैतन्य-विरोधी प्रतिक्रियाएँ

सेतुबन्ध

आचार्यश्री किसी के द्वारा 'नई चेतना के प्रहरी' करार दिये जाते हैं तो किसी के द्वारा 'पुराणपथी'। वे बिलकुल गलत भी नही हैं; क्योंकि आचार्यश्री को नवीनता से भी प्यार है और पुराणता से भी। उनकी प्रगति के ये दोनों पैर हैं। एक उठा हुआ तो दूसरा टिका हुआ। वे दोनों पैर आकाश में उठाकर उडना नही चाहते तो दोनों पैर धरती पर टिकाकर रुकना भी नही चाहते। वे चलना चाहते हैं, प्रगति करना चाहते हैं, निरन्तर और निर्बाध। उसका क्रम यही हो सकता है कि कुछ गतिशील हो तो कुछ टिका हुआ भी। गति पर स्थिति का और स्थिति पर गति का प्रभाव पड़ता रहे।

साधारणतया लोग नई बात से कतराते हैं और पुरानी से चिपटते हैं। पुरानी के प्रति विश्वास और नई के प्रति अविश्वास; उन्हें ऐसा

करने के लिए बाध्य कर देता है। परन्तु आचार्यश्री ऐसे लोगों से सर्वथा पृथक् हैं। वे प्राचीनता की भूमिका पर खड़े होकर नवीनता का स्वागत करने में कभी नहीं हिचकिचाते। वस्तुत: वे प्राचीनता और नवीनता को जोड़ने वाली उपादेयता का ऐसा सेतु-बन्ध बनाना जानते हैं कि फिर व्यवहार की नदी के परस्पर कभी न मिलने वाले इन दोनों तटों में सहज ही सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। उनकी इस वृत्ति को स्वयं तेरापंथ-समाज के कुछ व्यक्तियों ने सशंक दृष्टि से देखा है। बूढ़ों का कथन है कि वे नये-नये कार्य करते रहते हैं; न जाने समाज को कहाँ ले जायेंगे। युवक कहते हैं कि वे पुराणता को साथ लिए चलते हैं, इस प्रकार कोई क्रान्ति नहीं हो सकती। दोनों का साथ-साथ निभाव करने की नीति तुष्टीकरण की नीति होती है। उससे दोनों को ही लाभ नहीं मिल सकता। यों वे दोनों की आलोचनाओं के लक्ष्य बनते रहते हैं। विरोधी विचार रखने वाले अन्य लोगों ने तो उनके दृष्टिकोण पर तरह-तरह के आक्षेप किये ही हैं।

विरोध से भी लाभ

आचार्यश्री विरोध से घबराते नहीं हैं। वे उसे विचार-मन्थन का हेतु मानते हैं। दो पदार्थों के घर्षण से जिस प्रकार ऊष्मा पैदा होती है, उसी प्रकार दो विचारों के संघर्ष से नव चिन्तन का प्रकाश जगमगा उठता है। विरोध ने उनके मार्ग में जहाँ बाधाएं उत्पन्न की हैं; वहाँ अनेक बार उन्हें लाभान्वित भी किया है। वा व्यक्ति विशेषज्ञ हैं; वे किसी भी प्रकार की चेतना को प्रत्यक्ष सम्पर्क से तो आँकते ही हैं; पर कभी-कभी उसके विरोध में किए जाने वाले प्रचार को देख-सुनकर परोक्ष-रूप से भी आँक लेते हैं। मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री मंगलदास पकवासा बम्बई के समाचार-पत्रों में आचार्यश्री के विरुद्ध किये जाने वाले प्रचार को पढ़कर ही सम्पर्क में आये थे। वे जानना चाहते थे कि जिस व्यक्ति का विरोध हो रहा है वह वस्तुत: कितना चैतन्य-युक्त होगा। वास्

कालेलकर भी जब पहले-पहल आचार्यश्री से मिले तो बतलाया कि मैं तेरापंथ के विरोध में बहुत कुछ सुनता आ रहा हूँ। मुझे जिज्ञासा हुई कि जहाँ विरोध है; वहाँ अवश्य चैतन्य है। शव का कभी कोई विरोध नहीं करता।

विरोधी-साहित्य-प्रेषण

आचार्यश्री के प्रति विरोध-भाव रखने वालों में अधिकांश ऐसे मिलेंगे जो उनके चैतन्य को—उनके सामर्थ्य को सहन नहीं कर पा रहे हैं। वे अपनी शक्ति से उस 'सर्वजन-हिताय' बिखरे चैतन्य को बटोरने के बजाय आवृत कर देना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति उनके विरुद्ध में नाना प्रकार के अपवाद फैलाते हैं, उनके विरुद्ध पुस्तकें लिखते तथा छपाते हैं। जहाँ अवसर मिले, वहीं इस प्रकार का साहित्य भेजकर उनके विरुद्ध वातावरण बनाने का प्रयास करते हैं। परन्तु वे उनके अपराजेय व्यक्तित्व को किसी भी प्रकार आच्छन्न नहीं कर पाते हैं। आज तक उनका व्यक्तित्व जितना निखर चुका है, भविष्य में वह उतना ही नहीं रहेगा, उसमें और निखार आयेगा। उनके चैतन्य तथा सामर्थ्य का प्रकाश और जगमगायेगा, यही एक मात्र सम्भावना की जा सकती है। यदि कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि इस प्रकार के विरोधी प्रचार से उनके व्यक्तित्व पर रोक लगेगी, तो वे भूल करते हैं। इस प्रकार के कुछ प्रयासों के परिणाम देख लेने से पता चल सकता है कि उनका यह शस्त्र उल्टा आचार्यश्री के व्यक्तित्व को और अधिक निखारने वाला ही सिद्ध होता रहा है।

ढेर लग गया

सुप्रसिद्ध लेखक भाई किशोरलाल मशरूवाला ने एक बार हरिजन में अणुव्रत-आन्दोलन की समालोचना की। फलस्वरूप उनके पास इतना तेरापंथ-विरोधी साहित्य पहुँचा कि वे आश्चर्य-चकित रह गये। उन्होंने पत्र द्वारा आचार्यश्री को सूचित किया कि जब से वह समालोचना प्रकाशित हुई है; तब से मेरे पास इतना विरोधी साहित्य आने लगा है कि एक ढेर-का-ढेर लग गया है।

ऐसा होता ही है

इसी प्रकार की घटना श्री उ० न० ढेबर के साथ भी घटी। वे उन दिनों सौराष्ट्र के मुख्यमंत्री थे। आचार्यश्री बम्बई यात्रा के मध्य अहमदाबाद पधारे। वहाँ वे आचार्यश्री के सम्पर्क में पहले-पहल ही आये। उन्होंने आचार्यश्री को सौराष्ट्र आने का निमन्त्रण दिया और कहा कि इस प्रकार के कार्यक्रमों की वहाँ बड़ी आवश्यकता है। आप अपने कार्यक्रम में सौराष्ट्र-यात्रा को भी अवश्य सम्मिलित करें। वहाँ आपको अनेक रचनात्मक कार्यकर्ता भी उपलब्ध हो सकते हैं। दूसरे दिन वे फिर आये और बातचीत के सिलसिले में अपने उस निमन्त्रण को दुहराते हुए कहा कि आप इसकी स्वीकृति दे दीजिये। आचार्यश्री का आगे का कार्यक्रम निर्धारित हो चुका था। उसमें किसी प्रकार का बड़ा हेर-फेर कर पाना सम्भव नहीं रह गया था, अतः वह बात स्वीकृत नहीं हो सकी।

कुछ समय बाद ढेबर भाई कांग्रेस-अध्यक्ष बनकर दिल्ली में रहने लगे। उन दिनों मैं (मुनि बुद्धमल्ल) भी दिल्ली में ही था। मिलन हुआ तो बातचीत के सिलसिले में उन्होंने मुझे यह सारी घटना सुनाई और कहा कि जब से मेरे निमन्त्रण देने के समाचार पत्रों में प्रकाशित हुए हैं; तभी से मेरे पास आचार्यश्री के विषय में विरोधी साहित्य इतनी मात्रा में पहुँचने लगा कि मैं चकित रह गया।

मैंने जब यह पूछा कि आप पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई ? तब वे कहने लगे—"मैं सोचता हूँ कि हर एक अच्छे कार्य के प्रारम्भ में बहुधा ऐसा होता ही है। ऐसा हुए बिना कार्य में चमक नहीं आती।"

व्यक्तिगत पत्र

अभी तेरापंथ-द्विशताब्दी के अवसर पर साप्ताहिक तथा दैनिक पत्रों में तेरापंथ, अणुव्रत और आचार्यश्री के विषय में अनेक लेख प्रकाशित हुए। कुछ व्यक्तियों को वे अखरे। उन्होंने सम्पादकों के पास भी विरोधी साहित्य तथा सम्पादकों को कर्तव्य-बोध देने वाले

व्यक्तिगत पत्र भेजे। ऐसा ही एक पत्र संयोगवशात् मुझे देखने को मिला। वह साप्ताहिक हिन्दुस्तान के सम्पादक श्री बांकेबिहारी भटनागर के नाम था। उसमें आचार्यश्री, तेरापंथ तथा अणुव्रत-आन्दोलन को प्रश्रय देने की नीति का विरोध किया गया था। परन्तु उसका असर क्या होना था ? उस पत्र के कुछ दिन बाद ही स्वयं श्री भटनागरजी का एक लेख साप्ताहिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित हुआ। उसमें आचार्यश्री तथा अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति एक गहरी श्रद्धा-भावना व्यक्त की गई थी।

ऐसी घटनाएँ अनेक हैं और होती रहती हैं, पर जो आचार्यश्री के कार्यों से प्रभावित होते हैं; उनकी संख्या के सामने ये नगण्य-सी हैं। जहाँ गति होती है; वहाँ का वायुमंडल उसका विरोधी बनता ही आया है। गति में जितनी त्वरा होती है; वायुमण्डल भी उतनी ही अधिक तीव्रता से विरोधी बनता है; पर क्या कभी गति की प्राण-शक्ति क्षीण हुई है ?

समय ही कहाँ है ?

आचार्यश्री अपने विरुद्ध किये जाने वाले विरोध या आक्षेपों के प्रति कोई विशेष ध्यान नहीं देते। उनका उत्तर देने की तो तेरापंथ में प्राय पहले से ही परिपाटी नहीं रही है। वह ठीक भी है। कार्य करने वाले के पास विरोध और झगड़ा करने का समय ही कहाँ रह पाता है ? वे इतने कार्य-व्यस्त रहते हैं कि कभी-कभी उन्हें समय की कमी खटकने लगती है। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति निठल्ला रह कर या कलह आदि में समय व्यतीत करता है; उसका वह समय मुझे मिल पाता तो कितना अच्छा होता ? उनकी कर्मठता और अदम्य शक्ति मानव-जाति के लिए एक नव आशा का संचार करती है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्र-कुमारजी का निम्नोक्त कथन इसी बात की तो पुष्टि करता है—
"तुलसीजी को देखकर ऐसा लगा कि यहाँ कुछ है। जीवन कुंठित और परास्त नहीं है। उसमें आस्था है और सामर्थ्य है। व्यक्तित्व में सजीवता है और एक विशेष प्रकार की एकाग्रता; यद्यपि हठवादिता नहीं। वातावरण के प्रति उनमें ग्रहणशीलता है और दूसरे व्यक्तियों

और सम्प्रदायों के प्रति संवेदनशीलता। एक अपराजेय वृत्ति उनमें पाई; जो परिस्थिति की ओर से अपने में शैथिल्य लेने को तैयार नहीं है, बल्कि अपने आस्था-संकल्प के बल पर उन्हें बदल डालने को तत्पर है। धर्म के परिग्रहहीन आकिञ्चन्य के साथ इस स्वरात्मक निवृत्ति का योग अधिक नहीं मिलता। साधुता निवृत्त और निष्क्रिय हो जाती है। वही अब प्रवृत्त और सक्रिय हो तो निश्चय ही मन में आशा उत्पन्न होती है।"[1]

मेरी हार मान सकते हैं

कभी उन्हें धार्मिक वाद-विवादों तथा जय-पराजयों में रस रहा हो तो रहा हो; पर अब तो वे इसे पसन्द नहीं करते। वाद-विवाद प्रायः जय-पराजय के भाव उत्पन्न करता है और तत्त्व-चिन्तन के स्थान पर छल, जाति आदि के प्रयोगों की ओर ले जाता है। पुराने युग में शास्त्रार्थों में बड़ा रस लिया जाता था; पर अब उन्हें वैमनस्य बढ़ाने का ही एक प्रकार माना जाने लगा है। इसीलिए वे यथा सम्भव ऐसे अवसरों से बचना चाहते हैं।

एक बार कुछ भाई आचार्यश्री से बातचीत करने आये। धीरे-धीरे बातचीत ने विवाद का रूप लेना प्रारम्भ कर दिया। आचार्यश्री ने उसका रुख बदलने के विचार से कहा कि इस विषय में जो मेरा विचार है, वह मैंने आपको बता दिया है। अब आपको उचित लगे तो उसे मानिये, अन्यथा मत मानिये।

वे भाई बातचीत की दृष्टि से उतने नहीं आये थे; जितने की वाद-विवाद की दृष्टि से। उन्होंने कहा—"ऐसा कहकर बात समाप्त करने से तो आपके पक्ष की पराजय ही प्रकट होती है।"

आचार्यश्री ने सौम्य-भाव रखते हुए कहा—"आपको यदि ऐसा लगता हो तो आप निश्चिन्तता से मेरी हार मान सकते हैं। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है।"

---

1. आचार्यश्री तुलसी, पृ० ग-घ

उपर्युक्त बात किसी ने मुझे सुनाई थी; तब मुझे गांधीजी के जीवन की एक ऐसी ही घटना का स्मरण हो आया। गांधीजी के हरिजन-आन्दोलन के विरुद्ध कुछ पण्डित उनसे शास्त्रार्थ करने आये। उनका कथन था कि वर्णाश्रम-धर्म जब शास्त्र-सम्मत है, तब हरिजनों को स्पृश्य कैसे माना जा सकता है ? गांधीजी को इस प्रकार के शास्त्रार्थ में कोई रस नहीं था। उन्होंने उस बात को वहीं समाप्त कर देने के भाव से कहा—"मैं शास्त्रार्थ किये बिना ही अपनी पराजय स्वीकार करता हूँ। पर हरिजनों के विषय में मेरे जो विचार हैं, वे ही मुझे सत्य लगते हैं।" गांधीजी ने बड़े सहज भाव से हार मान ली; तब उन लोगों के पास आगे कुछ कहने को शेष नहीं रह गया था। वे जब उठ कर जाने लगे तो गांधीजी ने कहा—"हरिजन-फंड में कुछ चंदा तो देते जाइये।" पण्डित-वर्ग उनकी बात को टाल न सका। प्रत्येक व्यक्ति ने चंदा दिया। गांधीजी ने वह सहर्ष ग्रहण किया और अपने काम में लग गये। विवाद से बचकर काम में लगे रहने की मनोवृत्ति का यह एक ज्वलन्त उदाहरण कहा जा सकता है।

कार्य ही उत्तर है

तेरापंथ की प्रारम्भ से ही यह पद्धति रही है कि निम्नस्तरीय आलोचनाओं तथा विरोधों का कोई उत्तर नहीं दिया जाना चाहिये। विरोध से विरोध का उपशमन नहीं हो सकता। उससे तो उसमें और अधिक तेजी आती है। विरोधों का असली उत्तर है—कार्य। सब प्रश्न और सब तर्क-वितर्क कार्य में आकर समाहित हो जाते हैं। आचार्यश्री इस सिद्धान्त के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। जब दूसरे आलोचना में समय विनष्ट करते होते हैं; तब आचार्यश्री कोई-न-कोई कार्य निष्पादन करते होते हैं। किसी के विरोध का उसी प्रकार के विरोध-भाव से उत्तर देने में वे अपना तनिक भी समय लगाना नहीं चाहते।

बम्बई में आचार्यश्री का चातुर्मास था। उस समय कुछ विरोधी

लोग समाचार-पत्रों में उनके विरुद्ध धुआँधार प्रचार कर रहे थे। पत्र उनके अपने थे। प्रेरणाएँ किनकी थीं, यह कहने से अधिक जानना ही अच्छा है। कहना ही हो तो उसका साधारणीकरण यों किया जा सकता है कि वह दूसरों की भी हो सकती है और उनकी अपनी भी। सभी पत्र वैसे नहीं थे। फिर भी कुछ विशेष पत्रों में जब लगातार किसी के विरुद्ध प्रचार होता रहे; तो दूसरे पत्र भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। या तो वे उसी राग में आलापने लगते हैं; या फिर उसकी सत्यता की गवेषणा में लगते हैं। वहीं के एक पत्र 'बम्बई-समाचार' के प्रतिनिधि श्री त्रिवेदी प्रतिदिन के उन विरोधी समाचारों से प्रभावित हुए और आचार्यश्री के पास आये। बातचीत करने पर उन्होंने पाया कि जो विरोधी प्रचार किया जा रहा है; वह विद्वेष-प्रेरित है। उन्होंने बड़े आश्चर्य के साथ आचार्यश्री से पूछा कि जब इतना विरोधी प्रचार हो रहा है; तब आप उसका उत्तर क्यों नहीं देते ?

आचार्यश्री ने कहा—"हम यहाँ जो काम कर रहे हैं; वही उसका उत्तर है। विरोध का उत्तर विरोध से देने में हमें कोई विश्वास नहीं है।" वस्तुत. आचार्यश्री अपने सारे चैतन्य को — सामर्थ्य को कार्य में खपा देना चाहते हैं। उसका एक कण भी वे निरर्थक बातों में अपव्यय करना नहीं चाहते। विरोध है और रहेगा; कार्य भी है और रहेगा; परन्तु विरोध के जीवन से कार्य का जीवन बहुत बड़ा होता है। अतः शेष में विरोध मर जायेगा और कार्य रह जायेगा। तब उनके अपराजेय चैतन्य की विजय सबकी समझ में आयेगी। उससे पूर्व किसी के आयेगी और किसी के नहीं।

सर्वाङ्गीण विकास

भगीरथ प्रयत्न

संघ के सर्वाङ्गीण-विकास के सम्बन्ध में आचार्यश्री ने बहुत बड़ा कार्य किया है। उनके अनुशासन में तेरापंथ ने नई करवट ली है। युग-

चेतना की गगा को सघ मे बहाने के लिए उन्होने भगीरथ बनकर तपस्या की है। अब भी कर रहे हैं। उनका कार्य अवश्य ही बहुत बडा तथा श्रम-साध्य है; पर लाभ भी उतनी ही बडी मात्रा मे है। जिन्होने प्रारम्भ मे उनकी इस तपस्या का मूल्य नही आँका था, वे आज आकने लगे हैं। जो आज भी नही आंक पाये है, वे उसे कल अवश्य आकेंगे। आचार्यश्री के प्रयासो ने तेरापथ को ही नहीं, अपितु सारे जैन-समाज और सारे धर्म-समाज का मस्तक ऊचा किया है।

विकास-काल

जैन धर्म भारतवर्ष का प्राचीनतम धर्म है। किसी समय मे उसका प्रभाव सारे भारत मे व्याप्त था; परन्तु अब वह ग्रीष्मकालीन नदी की तरह सिकुडता और सूखता चला जा रहा है। पता नही कौन-सा वर्षा-काल उसे फिर से वेग और पूर्णता प्रदान करेगा। इस समय तो वह अनेक शाखाओ में विभक्त है। मुख्य शाखाएँ दो हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर शाखा के तीन विभाग है—सवेगी, स्थानकवासी और तेरापथ। इन सब मे तेरापथ अपेक्षाकृत नया है। वि० स० २०१७ की आषाढ पूर्णिमा को इसकी आयु दो सौ वर्ष की सम्पन्न हुई है। एक धर्म सघ के लिए दो सौ वर्ष कोई लम्बा समय नही होता। तेरापथ की प्रथम शती तो बहुलाश मे सघर्ष-प्रधान ही रही। हर क्षेत्र मे उसे प्रबल सघर्षो मे से गुजरना पडा। प्रगति के हर कदम पर उसे बाधाओ का सामना करना पडा। द्वितीय शती के दो चतुर्थांशो मे साधारण गति ही होती रही। उसमे कोई विलक्षणता, प्रवाह या वेग नही था। तृतीय चतुर्थांश मे प्रविष्ट होते ही उसमे कुछ विलक्षणताएं कुलबुलाने लगी, प्रवाह और वेग भी दृग्गोचर होने लगे, हालांकि वे उस समय बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था मे थे। अन्तिम चतुर्थांश वस्तुत प्रगति का काल कहा जा सकता है। यह पूरा-का-पूरा काल आचार्यश्री के नेतृत्व मे ही बीता है। वे उसका सर्वांगीण विकास करने मे जुटे हुए हैं।

व्याख्या-विकास

आचार्यश्री ने तेरापंथ की व्याख्या में भी एक नया विकास किया है। स्वामीजी ने तेरापंथ की व्याख्या की थी — "हे प्रभो! तेरा पथ।" आचार्यश्री ने उसे विकसित करते हुए कहा — "हे मनुष्य! तेरा पथ।" दोनों धाराओं का संश्लिष्ट अर्थ यों किया जा सकता है कि जो प्रभु का पथ है वही मनुष्य का भी पथ है। प्रभु का पथ भी आकाशगामी नहीं है, वह तो मनुष्य के लिए ही उपयोगी हो सकता है। मनुष्य और प्रभु मार्ग के दो छोरों पर हैं। एक छोर मंजिल का प्रारम्भ है, तो दूसरा उसकी पूर्णता। प्रभु पूर्ण है, मनुष्य को पूर्ण होना है, मंजिल तय करने के लिए चलना है। मार्ग चलने वाले के लिए ही उपयोगी है। पहुंच जाने वाले के लिए किसी समय उपयोगी रहा हो पर अब उसके लिए उसकी आवश्यकता नहीं है। स्वामीजी की व्याख्या में धर्म की स्थिति विशिष्ट हुई है और आचार्यश्री की व्याख्या में गति। स्थिति और गति; दोनों ही परस्पर सापेक्ष भाव हैं। कोरी गति या कोरी स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आचार्यश्री ने अपने एक कविता-पद्य में उपर्युक्त दोनों अर्थों का समावेश इस तरह किया है

हे प्रभो! यह तेरापथ,
मानव मानव का यह पथ,
जो बने इसके पथिक,
सच्चे पथिक कहलाएंगे।

युग-धर्म के रूप में

बहुत वर्षों तक तेरापंथ का परिचय प्रायः राजस्थान से ही रहा था। उससे बाहर जाना एक विदेश-यात्रा के समान ही गिना जाता था। राजस्थान में भी कुछ निश्चित वर्ग के लोगों तक ही इसकी परिधि सीमित रही थी। उस समय जन-साधारण में तेरापंथ को जानने वाले व्यक्ति नगण्य ही कहे जा सकते थे। आचार्यश्री के विचारों में उसके

प्रसार की योजनाएं थी। उनका मन्तव्य है कि निस्सीम-धर्म को किन्ही सीमाओ में जकड कर रखना भूल है। वह हर व्यक्ति का है, जो करे उसी का है। इन्होने 'अमर गाने' में अपने इन विचारों को यो गूथा है .

> व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म समाया,
> जाति-पांति का भेद मिटाया,
> निर्धन-धनिक न अन्तर पाया,
> जिसने धारा जन्म सुधारा।

आचार्यश्री ने केवल यह कहा ही नहीं; किया भी है। वे ग्रामीण किसानो से लेकर शहरी व्यापारियों मे और हरिजनो से लेकर राष्ट्र के कर्णधारो तक मे धर्म के सस्कार भरने का काम करते रहे हैं। उनकी दृष्टि मे धर्म आत्म-शुद्धि का साधन है। अहिंसा, सत्य आदि उसके भेद हैं। यही तेरापथ है।

आचार्य भिक्षु ने धर्म का जो सूक्ष्मतापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया तथा हिंसा और अहिंसा की जिन सीमा-रेखाओ को निर्भीकता और स्पष्टता से प्रस्तुत किया, उसका महत्त्व उस युग मे उतना नही आका जा सका, जितना कि आज आका जा रहा है। स्वामीजी के वे विवेचित तथ्य आचार्यश्री की भाषा पाकर युग-धर्म के रूप मे परिणत हो रहे हैं। हिंसा और अहिंसा की सूक्ष्मतापूर्ण विवेचना से प्रभावित होकर भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री बी० पी० सिन्हा ने कहा—"उनका (आचार्य भिक्षु का) यह मन्तव्य मुझे बहुत ही अच्छा लगा कि हिंसा मे यदि धर्म हो तो जल-मन्थन से घृत निकल आये। वे व्यापक अहिंसा के उपासक थे। उन्होंने उपासना मे और सिद्धान्त मे अहिंसा को कही खण्डित नही होने दिया। बहुत बार लोग अहिंसा को तोड-मरोड कर परिस्थितियों के साथ उनकी सगति बिठाते हैं; पर यह ठीक नही। अहिंसा एक शाश्वत सिद्धान्त और आदर्श है। यदि हम उस तक नही पहुंच पा रहे हैं तो हमे अपनी दुर्बलता को समझना चाहिए। हिंसा और अहिंसा का कोई तादात्म्य

नहीं हो सकता। आचार्य भिक्षु का यह कथन बहुत यथार्थ है—पूर्व और पश्चिम की ओर जाने वाले दो मार्गों की तरह हिंसा और अहिंसा कभी मिल नहीं सकती[1]।"

उत्तर का स्तर

तेरापंथ के मन्तव्यों को लेकर प्रारम्भ से ही काफी ऊहापोह रहा है। उसकी गहराई को बहुत छिछलेपन में लिया गया; अतः बहुधा उसका परिहास किया जाता रहा है। जैन के महान् सिद्धान्त 'स्याद्वाद' को शंकराचार्य और धर्मकीर्ति जैसे उद्भट विद्वानों ने जिस प्रकार अपने व्यंगों का विषय बनाया और कहा—"स्याद्वाद के सिद्धान्त को मान लिया जाए तो यह सिद्ध होगा कि 'ऊंट-ऊंट भी है और दही भी' परन्तु भोजन के समय दही खाने की इच्छा होती है तब क्या कोई ऊंट को दही मानकर खाने लगता है ?" ऐसी ही कुछ बिना सिर-पैर की उल्टी-सीधी तर्कों के आधार पर तेरापंथ के मन्तव्यों पर भी व्यंग किये जाते रहे हैं। विरोधियों को तेरापंथ के विरुद्ध प्रचार करने का अवसर तो स्वभाव गति से मिलता रहा है, क्योंकि किसी भी प्रकार के विरोध का उत्तर देने की परम्परा तेरापंथ में नहीं रही। फलस्वरूप तेरापंथ के मन्तव्यों को विकृत रूप से प्रस्तुत करने वाला साहित्य जनता और विद्वानों तक प्रचुर मात्रा में पहुंचता रहा, परन्तु उनके गलत तर्कों का समाधान करने वाला साहित्य बिल्कुल नहीं पहुंच पाया। इस वास्तविकता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि उत्तर न देने की आवश्यकता न होने के कारण ऐसा कोई समाधान-कारक साहित्य लिखा भी नहीं गया। फल यह हुआ कि उन मन्तव्यों के प्रति धारणा बनाने का साधन विरोधी-साहित्य ही बनता रहा। यह स्थिति आचार्यश्री जैसे शान्तदर्शी मनीषी कैसे सहन कर सकते थे ? उनके विचारों में मन्थन होने लगा कि विरोध का उत्तर दिये बिना

1. जैन भारती २४ जुलाई, १९६० (तेरापंथ-द्विशताब्दी पर प्रदत्त वक्तव्य)

किसी को सत्य का कैसे पता लग पायेगा ? आलोचना को सर्वथा उपेक्षा की दृष्टि से देखना क्या उचित है ? इस विचार-मन्थन में से जो नव-नीत के रूप में निर्णय उभरा, वह यह था कि उच्चस्तरीय आलोचनाओं का उसी स्तर पर उत्तर देना चाहिए। उससे विवाद बढ़ने के बजाय तत्त्व-बोध होने की ही अधिक सम्भावना है। इस निर्णय के पश्चात् उन अनेक आलोचनाओं के उत्तर दिये जाने लगे, जो कि द्वेषमूलक न होकर तत्त्व-चिन्ता-मूलक होती थीं। इसका जो फल आया, उससे यही अनुभव किया गया कि यह सर्वथा लाभप्रद चरणन्यास था।

निरूपण-शैली का विकास

आचार्यश्री ने तेरापंथ के मन्तव्यों को नवीन निरूपण-शैली के द्वारा विद्वज्जन-भोग्य बनाने का प्रयास किया। उन्होंने साधु-समाज को एतद्-विषयक साहित्य लिखने की प्रेरणा और दिशा दी। साहित्य के माध्यम से जब उन मन्तव्यों की दार्शनिक पृष्ठभूमि जनता तक पहुँची तो उसका स्वागत हुआ। फलतः आलोचनाओं का स्तर ऊँचा उठा।

निरूपण-शैली की नवीनता से जहाँ अनेक व्यक्तियों को तत्त्व-लाभ दिया, वहाँ कुछ व्यक्ति उस दृष्टिकोण को यथार्थता से नहीं भाँक सके। उन्होंने आचार्यश्री पर यह आरोप लगाया कि वे आचार्यश्री भिक्षु के विचारों को बदल कर जनता के सामने रख रहे हैं। सिद्धान्तों का यथावत् प्रतिपादन करने में उन्हें भय लगने लगा है। परन्तु ये सब निर्मूल बातें हैं। ऐसे अनेक अवसर आये हैं; जहाँ आचार्यश्री ने विद्वत्-सभाओं में तेरापंथ के मन्तव्यों का बड़ी स्पष्टता के साथ निरूपण किया है। वे यह मानते हैं कि तत्त्व को किसी के भी सामने यथार्थ रूप में ही निरूपित करना चाहिए; उसे छिपाना बहुत बड़ी कायरता है। परन्तु वे यह भी मानते हैं कि तत्त्व-निरूपण में जितनी निर्भीकता की आवश्यकता है; उससे कहीं अधिक विवेक की आवश्यकता है।

संस्कृत-साधना

जैनाचार्य भाषा के विषय में बड़े उदार रहे हैं। वे जब जिस प्रान्त में रहे, तब वहीं की भाषा को उन्होंने अपनी भाषा बनाया और उसके साहित्य-भंडार को भरा। जनता तक पहुँचने तथा उन तक अपने विचार पहुँचाने का इससे अधिक और कोई उत्तम प्रकार नहीं हो सकता। उन्होंने भारत के प्रायः हर प्रान्त के साहित्यार्जन में अपना योग-दान दिया है। अर्ध-मागधी, अपभ्रंश, गुजराती, महाराष्ट्री, तेलगू, तामिल, कन्नड़ आदि भाषाओं में तो उन्होंने इतना लिखा है कि वे भाषाएँ जैनाचार्यों के उपकार से ऋण-मुक्त नहीं हो सकतीं। लोकीय भाषाओं में तो उन्होंने लिखा ही, परन्तु जब संस्कृत का प्रभाव बढ़ा, तब उसमें भी वे पीछे नहीं रहे। प्रायः हर विषय पर उन्होंने अधिकारी ग्रन्थ लिखे। यह एक प्रवाह था। खूब बहा, बहता रहा, पर पीछे धीरे-धीरे मन्द होने लगा। कई सम्प्रदायों में तो उसके रुकने की सी स्थिति आ गई। प्रान्तीय भाषाओं का पल्लवन अवश्य सुचारु रूप में होता रहा।

तेरापंथ का प्रवर्तन ऐसे समय में हुआ, जब कि संस्कृत का कोई वातावरण नहीं था। आगमों का अध्ययन खूब चलता था; पर संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा एक प्रकार से विच्छिन्न थी। इसीलिए तेरापंथ की प्रथम शती केवल राजस्थानी साहित्य को ही माध्यम बनाकर चलती रही थी। यह उचित भी था, क्यों कि स्वामीजी का विहार-क्षेत्र राजस्थान था। यहाँ की जनता को प्रतिबोध देना उनका लक्ष्य था। दूसरी भाषा यहाँ इतनी सफलता नहीं पा सकती थी।

लगभग सौ वर्ष पश्चात् जयाचार्य ने तेरापंथ में संस्कृत का बीज-वपन किया। एक संस्कृत-विद्यार्थी को उन्होंने अपना मार्ग-दर्शक बनाया। ब्राह्मण विद्वान् जैनों को विद्या देना नहीं चाहते थे। उनकी दृष्टि में वह साँप को दूध पिलाने जैसा था। उनके शिष्य श्रीमघवागणी ने उस अध्ययन-परम्परा को जरा आगे बढ़ाया; परन्तु वह पनप नहीं सकी और उनके साथ ही विलीन हो गई।

सप्तमाचार्यश्री डालगणी के समय बीदासर के जागीरदार ठाकुर हुकमसिंहजी ने उनके पास एक श्लोक भेजा और अर्थ पूछा। परन्तु उनकी जिज्ञासा को कोई भी साधु तृप्ति नहीं दे सका। यह स्थिति भावी आचार्यश्री कालूगणी को बहुत चुभी। उन्होंने अपने मन ही मन व्याकरण पढने का संकल्प किया। चाह को राह भी मिली। पण्डित घनश्यामदासजी ने सहयोग दिया। आचार्यपद का उत्तरदायित्व संभालने के बाद भी एक बालक की तरह अहर्निश रटते रहकर उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया। एक संकल्प पूरा हुआ, पर तब भी उनके सामने शिष्यवर्ग के अध्ययन की समस्या खड़ी थी। पण्डित घनश्यामदासजी रूप-पण्डित थे, प्रयोग का कोई विशेष अभ्यास नहीं था। आचार्यश्री कालूगणी का प्रयोग-पाण्डित्य उनकी अपनी संकल्प-शक्ति का परिणाम ही अधिक था।

दूसरे पंडित मिले रघुनन्दनजी शर्मा। वे आयुर्वेदाचार्य और आशु-कविरत्न थे। उनके विनीत और सरल सहयोग ने अनेक साधुओं को व्याकरण में पारगत बना दिया। फलस्वरूप मुनिश्री चौथमलजी द्वारा महाव्याकरण भिक्षुशब्दानुशासन का निर्माण हुआ। उसकी बृहद्वृत्ति स्वयं पं० रघुनन्दनजी ने लिखी। धीरे-धीरे उसके अन्य अंगोपांग भी बना लिए गये। इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से आत्म-निर्भर तो अवश्य बन गये, पर विषय-विस्तार नहीं हो सका। साहित्य-निर्माण की शक्ति कुछ स्तोत्र बनाने तक ही सीमित रही।

आचार्यश्री तुलसी के मुनि जीवन के ग्यारह वर्ष व्याकरण-ज्ञान की गलियों में घूमते ही बीते थे। आज जो कुछ उनके पास है; वह तो सब बाद का ही अर्जन है। यह अवश्य है कि क्रमिक विकास चालू था। आचार्यश्री ने अपने विद्यार्थी-काल में दर्शन-शास्त्र के अध्ययन का बीज-वपन कर दिया था, पर वह पल्लवित तो आचार्य बनने के बाद ही हो सका।

आचार्यश्री के पास पढने वाले हम विद्यार्थी मुमुक्षुओं को व्याकरण-अध्ययन-सम्बन्धी असुविधाओं का विशेष सामना नहीं करना पड़ा। उसमें आत्म-निर्भरता तो आ ही गई थी; साथ ही क्रम-निर्धारण भी हो

गया था। परन्तु इन लोगों को दर्शन के ज्ञान से बिल्कुल बिना अर्थ के बाचना पड़ता था। अनायास ही कल्पना करनी चाहिए कि उसमें भटकने-अटकने जब सहज ही बाहर आने की आने का मर्म के साथ ही जाता। इन लोगों के बाद के विद्यार्थियों को अन्य अनेक असुविधाएँ या बाधाएँ भले ही देखनी पड़ी हों, परन्तु अध्ययन-सम्बन्धी असुविधाएँ प्रायः समाप्त हो गई थीं।

यह तेरापंथ में संस्कृत-भाषा के विकास की संक्षिप्त-सी रूपरेखा है। इसकी गति को त्वरा प्रदान करने में आचार्यश्री का ही अंशोभाग अधिक रहा है। आपकी दीक्षा से पूर्व वह गति बहुत मन्द थी। दीक्षा के बाद कुछ त्वरा आई। उसमें आपका प्रयास भी साथ था। आचार्य बनने के बाद उसमें पूर्ण त्वरा भरने का श्रेय तो पूर्णतः आपको ही दिया जा सकता है। आपने अपने बुद्धि-कौशल से न केवल अपने शिष्य-वर्ग को संस्कृत भाषा का ही अधिकारी विद्वान् बनाया है, अपितु उसको प्रत्येक क्षेत्र का अधिकारी विद्वान् बनाने में प्रयत्न चालू रखा है। इससे दर्शन तथा साहित्य विषयक निर्माण को बहुत प्रोत्साहन मिला। स्वयं आचार्यश्री ने तथा उनके शिष्यवर्ग ने अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण कर संस्कृत-वाङ्मय की अर्चना की है और कर रहे हैं।

हिन्दी में प्रवेश

भारत गणतन्त्र की राज्यभाषा हिन्दी स्वीकृत की गई है। इसमे इस भाषा के महत्व में किसी को आशंका नहीं हो सकती। स्वतन्त्रता से पूर्व भी भारत में हिन्दी का बहुत महत्त्व रहा है। यह भाषा सारे राष्ट्र को एक कड़ी में जोड़ने वाली रही है। विदेशी सरकार ने यद्यपि इसके विकास में अनेक बाधाएँ उत्पन्न कर दीं; जो कि अब तक भी बाधक बनी हुई हैं; फिर भी उसका अपना सामर्थ्य इतना है कि वह पराजित नहीं हो सकती। हिन्दी का अपना साहित्य है, अपना इतिहास है। उसका बहुत लम्बा-चौड़ा विस्तार है। पर तेरापंथ में हिन्दी भाषा का

प्रवेश कोई अधिक पुरानी घटना नही है।

तेरापथ का विहार-क्षेत्र इतने वर्षों तक मुख्यत. राजस्थान ही रहता रहा है। पहले वहाँ प्राय. देशी रियासतों का ही बोलबाला था। भाषा के सम्बन्ध मे वहाँ के लोगो की अपनी-अपनी अच्छी-बुरी अनेक धारणाएँ थी। वहाँ प्राय: सर्वत्र राजस्थानी (मारवाड़ी) भाषा का ही प्रचलन था। अत: हिन्दी बोलना एक अह का सूचक समझा जाता था।

एक बार सुजानगढ मे हिन्दी भाषा के विषय मे कोई प्रकरण चल पड़ा। शुभकरणजी दसाणी भी वही थे। उन्होने आचार्यश्री से पूछा कि सन्तो मे क्या कोई हिन्दी भाषा मे निबन्धादि लिख सकते है ? आचार्यश्री ने हम तीनो सहपाठियो (मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री नगराजजी और मुनि बुद्धमल्ल) की ओर देखकर कहा—क्या उत्तर देते हो ? हम तीनों ने उत्तर मे जब स्वीकृतिमूलक सिर हिलाया तो आचार्यश्री को आश्चर्य ही हुआ। शुभकरणजी ने वहाँ यह बात खोलने के लिये ही चलाई थी, अन्यथा उन्हे पता था कि हम लिखते हैं। वस्तुत हम तीनो उन दिनो हिन्दी मे कुछ-न-कुछ लिखते रहते थे, पर वह सब गुप्त ही था। उस दिन की उस स्वीकृति ने ही उस रहस्य को प्रकट किया था। आचार्यश्री से कुछ प्रेरणामूलक विचार पाकर हमे भी सुखद आश्चर्य हुआ। उसी दिन से वह लेखन-कार्य प्रच्छन्नता से हटकर प्रकट रूप मे आ गया। हम लोगो ने कोई हिन्दी की अलग शिक्षा ग्रहण नही की थी। सीधे सस्कृत से ही उसमे आये थे; परन्तु हिन्दी की पुस्तकें पढते रहने के कारण वह अपने-आप ही हृदयगम हो गई थी।

धीरे-धीरे अनेक साधु हिन्दी के अच्छे विद्वान् तथा लेखक बन गये। अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थो का प्रणयन हिन्दी मे किया गया। स्वय आचार्यश्री ने हिन्दी मे अनेक रचनाएँ की हैं। तेरापथ मे हिन्दी को बड़ी त्वरता से अपनाया गया और विकसित किया गया। जैनागमों के हिन्दी अनुवाद की घोषणा भी आचार्यश्री कर चुके हैं। कार्य बड़े वेग से आगे बढ़ रहा है। अनेक साधु अनुवाद के कार्य मे लगे हुए हैं।

भाषण-शक्ति का विकास

वि०सं० १९९४ में आचार्यश्री अपना प्रथम चातुर्मास बीकानेर करने के पश्चात् शीतकाल में भीनासर पधारे। उन दिनों हम लोग स्तोत्र-रचना कर रहे थे। पण्डित रघुनन्दनजी वहाँ आये हुए थे। हमने उनको अपने-अपने श्लोक सुनाये। उन्होंने सायंकालीन प्रतिक्रमण के बाद आचार्यश्री के सम्मुख स्तोत्र-रचना की बात रख दी। आचार्यश्री ने हम सबके श्लोक सुने और प्रोत्साहन दिया। साथ ही एक दूसरी दिशा की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—"मैंने अनुभव किया है कि अब तक संस्कृत-पठन के बाद श्लोक-रचना की ओर तो सन्तों की सहज प्रवृत्ति होती रही है; पर भाषण-शक्ति के विकास की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। तुम लोग इस तरफ भी अपनी शक्ति लगाओ।"

हम सबको आचार्यश्री के इस दिशा-निर्देश से बड़ी प्रेरणा मिली। बात आगे बढ़ी और अभ्यास-वृद्धि के मार्गों का निश्चय किया गया। पण्डितजी भी उस विचार-विमर्श में सहायक थे। समय-समय पर वाद-विवाद-प्रतियोगिता तथा भाषण-प्रतियोगिता करते रहने का सुझाव आया। संस्कृतज्ञ सन्तों को बुलाकर आचार्यश्री ने प्रतियोगिता में भाग लेने की प्रेरणा दी और अगले दिन से उसे प्रारम्भ करने की घोषणा की। योजना-पूर्वक भाषण-पद्धति को विकसित करने का वह प्रथम प्रयास था। उससे पूर्व कोई अपनी प्रेरणा से अभ्यास करता तो कर लेता; पर इसमें बोलने की झिझक नहीं मिटती। सामुदायिक रूप से सबके सम्मुख भाषण करने से जो अभ्यास होता है; उसकी अपनी विशेषता ही अलग होती है।

शीतकाल का समय था। बाहर से साधु-वर्ग आया हुआ था। सहज भाषण का नवीन कार्य प्रारम्भ होने जा रहा था। सभी की आँखों में उल्लास झाँक रहा था। किसी के मन में बोलने की उत्सुकता थी; तो किसी के मन में सुनने की। आचार्यश्री ने समयज्ञता और समयोचितता के

आधार पर दो-दो व्यक्तियों के अनेक ग्रुप बना दिये और उन्हें एक-एक विषय दे दिया। इस क्रम से वह प्रथम वाद-विवाद-प्रतियोगिता प्रारम्भ हुई। आचार्यश्री कोश ल्तो के सामर्थ्य को तोलने का अवसर तो प्राय. मिलता ही रहता है; पर उससे जन-साधारण को भी सबके सामर्थ्य से परिचित होने का अवसर मिला।

भाषण-शक्ति के विकास के लिए वह प्रकार अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। उससे विद्यार्थी-वर्ग मे आत्म-विश्वास का जागरण हुआ। उसके बाद हम लोग स्वत. अभ्यास मे भी अधिक तीव्रता से प्रवृत्त हुए। प्रभात-काल में गाम-बाहर जाते; वहाँ अकेले ही खड़े-खड़े वक्तव्य दिया करते। समय-समय पर आचार्यश्री के समक्ष प्रतियोगिताएँ होती रहती। उससे हमारी गति मे अधिक त्वरा आती रहती।

शीतकाल मे सस्कृतज्ञ साधुओं की जितनी सख्या होती; उतनी बाद मे नही रह सकती थी, अत. बड़े पैमाने पर ऐसी प्रतियोगिताएँ प्राय· शीत काल मे ही हुआ करती। कई बार ऐसी प्रतियोगिताएँ अनेक दिनो तक चलती रहती। एक बार छापर मे वाद-विवाद-प्रतियोगिता हुई थी तथा एक बार आडसर मे भाषण प्रतियोगिता। वे दोनो ही काफी लम्बे समय तक चलती रही थी। धीरे-धीरे वक्तव्य-कला मे अनेक नवोन्मेष होते रहे। अनेक व्यक्तियों ने धाराप्रवाह भाषण देने की योग्यता प्राप्त की। आड़सर से प्रारम्भ हुई भाषण-प्रतियोगिता मे मुनिश्री नथमलजी पुरस्कार-भाग् रहे।

एक बार आचार्यश्री सरसा मे थे। सायकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् उन्होने सन्तो को बुलाया और सस्कृत-भाषण के लिए कहा। यह घोषणा भी की कि 'त्रिवेणी' (मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री नगराजजी तथा मुनि बुद्धमल्ल) के अतिरिक्त अन्य कोई साधु यदि भाषण में कोई विशेष योग्यता दिखायेगा तो उसे पुरस्कार दिया जायेगा। अनेक सन्तो के भाषण हुए। उसमें मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' तथा मुनि बच्छराजजी ने यह उद्‌घोषित पुरस्कार प्राप्त किया। वे दोनों ही एकाक्षर-प्रधान

संस्कृत बोलने में ।

संस्कृत के समान ही हिन्दी में भी भाषण-कला के विकास की आवश्यकता थी, अत: कभी-कभी हिन्दी-भाषणों का कार्यक्रम भी रखा जाता रहा है । कभी-कभी विचार-गोष्ठियों का आयोजन किया जाता रहा है । उसमें किसी एक विद्वान् साधु का साहित्य, दर्शन आदि किसी भी निर्णीत विषय पर वक्तव्य रखा जाता है और भाषण के पश्चात् उसी विषय पर प्रश्नोत्तर चलते हैं । एक बार सं० २००८ के मर्यादा-महोत्सव पर उस वर्ष की विचार गोष्ठियों के भाषण तथा प्रश्नोत्तर 'विचारोदय' नाम से हस्त-लिखित पुस्तक के रूप में संकलित भी किये गये थे । वक्तृत्व-कला के विकासार्थ इस प्रकार के अनेक उपक्रम होते रहे हैं । हर नवीन उपक्रम एक नवीन शक्ति का वरदान लेकर आता रहा है और आचार्यश्री की प्रेरणाओं के बल पर सब ने हर बार उसे प्राप्त किया है ।

कहानियां और निबन्ध

वक्तृत्व-कला के साथ-साथ लेखन-कला की वृद्धि करना भी आवश्यक था । आचार्यश्री का चिन्तन हर क्षेत्र में विकास करने के संकल्प को लेकर चल रहा था । हम सब उस चिन्तन के प्रयोग-क्षेत्र बने हुए थे । आचार्यश्री ने हम सबको मार्ग-दर्शन देते हुए कहा कि तुम लोगों को प्रतिमास संस्कृत में एक कहानी लिखनी चाहिए । उसके लिए प्रत्येक महीने के शुक्लपक्ष का छठ्ठा दिन निश्चित कर दिया गया । इस बार कौनसी कहानी लिखनी है; यह उस दिन बता दिया जाता और हम प्राय: चार दिन के अन्दर-अन्दर लिखकर वह आचार्यश्री को भेंट कर देते । अनेक महीनों तक यह क्रम चलता रहा । इससे हमारा अभ्यास बढा, चिन्तन बढा और शब्द-प्रयोग का सामर्थ्य बढा ।

कथा लिखने का सामर्थ्य हो जाने पर हमारे लिए प्रतिमास एक निबन्ध लिखना अनिवार्य कर दिया गया । यह क्रम भी अनेक महीनों तक चलता रहा । कई बार निबन्ध-प्रतियोगिताएं भी की गई । अशुद्धियां

निकालने के लिए पहले तो हम एक दूसरे की कथाओं तथा निबन्धों का निरीक्षण करते; पर बाद में कई बार गोष्ठियों के रूप में सब सम्मिलित बैठकर बारी-बारी से अपना निबन्ध पढ़कर सुनाते और एक दूसरे की अशुद्धियाँ निकालते। संस्कृत-भाषा के अभ्यास में यह क्रम हमारे लिए बहुत ही परिणामकारी सिद्ध हुआ।

समस्या-पूर्ति

समस्या-पूर्ति का क्रम आचार्यश्री कालूगणी के युग में ही चालू हो चुका था। अनेक सन्तों ने कल्याण-मन्दिर तथा भक्तामर स्तोत्रों के विभिन्न पदों को लेकर समस्या-पूर्ति की थी। स्वयं आचार्यश्री ने भी आचार्यश्री कालूगणी की स्तुति-रूप में कल्याण-मन्दिर की समस्या पूर्ति की थी। हम लोगों के लिए आचार्यश्री ने उस क्रम को पुनरुज्जीवित किया। परन्तु वह उसी रूप में न होकर अन्य रूप में था। किसी काव्य आदि में से लेकर तथा नवीन बनाकर कुछ पद दिये जाते और एक निश्चित अवधि में उनकी पूर्ति करवाई जाती। शीतकाल में बाहर से भी मुनिजन आ जाते; तब यह कार्यक्रम रखा जाता। फिर वे श्लोक सभा में सुनाये जाते; बड़ा उत्साह रहा करता।

इस प्रकार संस्कृत में भाषण, लेखन और कविता-निर्माण आदि अनेक प्रवृत्तियाँ चलती रहती थीं। अनेक बार ऐसे सप्ताह मनाये जाते थे; जिनमें यह प्रतिज्ञा रहती थी कि संस्कृतज्ञों के साथ साधारणतया संस्कृत में ही बोला जाये। उस समय का सारा वातावरण संस्कृतमय ही रहा करता था।

जयज्योतिः

वि० सं० २००५ के फाल्गुन में जयज्योतिः नामक हस्तलिखित मासिक पत्रिका निकाली गई। इसका नामकरण जयाचार्य की स्मृति में किया गया था। इसमें संस्कृत और हिन्दी, दोनों भाषाओं के ही लेख आदि निकलते थे। इसका सम्पादन मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' किया करते

किसी भी भाषा में आशुकविता कर पाना सहज नहीं होता; संस्कृत में तो वह और भी कठिन हो जाता है। तत्काल प्रदत्त विषय या समस्या पर उसी समय पद्य-बद्ध बोलने की क्षमता प्राप्त करने वाले को मानसिक एकाग्रता की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। उसके मस्तिक को एक साथ अनेक बातों पर ध्यान रखकर उन सबमें सामंजस्य बिठाना पड़ता है। प्रतिपाद्य को क्रमशः आगे बढ़ाते जाना, तदनुकूल शब्दों का चयन करते जाना, छन्दो-भंग न होने देना और व्याकरण की दृष्टि से कोई अशुद्ध प्रयोग न होने देना आदि ऐसी अनेक गुत्थियां हैं, जिनको एक साथ ही सुलझाते हुए चलना पड़ता है। जो एक साथ इतना सब कुछ नहीं कर सकता है, वह आशुकविता भी नहीं कर सकता।

वि०सं० २००१ का मर्यादा-महोत्सव सुजानगढ़ में था। वहाँ मैंने (मुनि बुद्धमल्ल) अपने आशुकविता के अभ्यास को आचार्यश्री के चरणों में निवेदित किया। आशुकविता के क्षेत्र में वह सर्व प्रथम पदन्यास था। उसके बाद वि० सं० २००४ के मिगसर महीने में राजलदेसर में मुनिश्री नथमलजी और मैंने जनता के सम्मुख आशुकविता की। मुनिश्री नगराजजी तृतीय और मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' चतुर्थ आशुकवि हुए। उनके बाद मुनि दुलीचन्दजी (सादुलपुर), मुनि मीठालालजी, मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' आदि अनेक संतों ने आशुकविता का अभ्यास किया। इस क्षेत्र में भी पंडित रघुनन्दनजी का आशुकवित्व ही प्रेरणा का सूत्र बना था। आचार्यश्री के शुभ आशीर्वादों और प्रेरणाओं ने इस क्षेत्र में मुनिजनों को जो सफलता प्रदान की है; वह विद्वत्-समाज में संघ के गौरव को बहुत ऊँचा करने वाली सिद्ध हुई है।

अवधान

अवधान-विद्या स्मरण-शक्ति और मन की एकाग्रता का एक चामत्कारिक रूप है। जैनों में यह विद्या दीर्घकाल से प्रचलित रही है। नन्द के महामन्त्री शकडाल की सातों पुत्रियों की चामत्कारिक स्मरण-शक्ति

का वर्णन ग्रन्थो मे मिलता है । उपाध्याय यशोविजयजी सहस्रावधानी थे। श्रीमद् रायचन्द भी अवधान विद्या मे निपुण थे । इस प्रकार के अनेक व्यक्तियों के नाम तो प्राय बहुत समय से सुनते आये थे; परन्तु उसका प्रत्यक्ष रूप वि०सं० १९९९ बीदासर मे देखने को मिला । गुजराती भाई धीरजलाल टोकरसी शाह वहाँ आचार्यश्री के दर्शन करने आये थे । वे शतावधानी थे । उन्होंने आचार्यश्री के सामने अवधान प्रस्तुत कि आचार्यश्री उनकी इस शक्ति से प्रभावित हुए । तेरापथ-संघ में भी विद्या का प्रवेश हो; ऐसा उनके मन मे सकल्प हुआ । कालान्तर मुनिश्री धनराजजी (सरसा) का चातुर्मास बम्बई में हुआ । वहाँ धीर लाल भाई ने उनको वह विद्या सिखाई । उन्होंने वहाँ विधिवत् सौ अ धानों का प्रयोग कर इस क्षेत्र मे पहल की । आचार्यश्री का संकल्प बन गया ।

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने अवधान विद्या को भारत-विश्रुत नही; परन्तु उससे भी अधिक प्रसिद्ध कर दिया । दिल्ली मे किये उनके प्रयोग अत्यन्त प्रभावक रहे । पत्रों में उनकी बहुत चर्चाएँ हुईं स्वयं राष्ट्रपति इस विषय मे जिज्ञासु हुए और राष्ट्रपति-भवन मे प्रयोग करने के लिए उन्हें आमन्त्रित किया गया । राष्ट्रपति भवन और मे ही वह कार्यक्रम रखा गया था । राजधानी के अनेकानेक उच्च तम व्यक्तियों को आमन्त्रित किया गया । राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसा उपराष्ट्रपति डॉ० एस० राधाकृष्णन्, प्रधानमन्त्री श्रीजवाहरलाल नेह आदि उसमे प्रश्नकर्ता के रूप मे उपस्थित थे । अवधानकार ने आसन जमाया और प्रश्न सुनने के लिए बैठ गये । निर्धारित प्रश्नों की समाप्ति के बाद जब उन्होंने एक-से-एक क्लिष्ट उन सभी प्रश्नो को यथावत् दुहरा दिया और उनका उत्तर भी दे दिया तो उपस्थित जन आश्चर्यचकित रह गये । एक अन्य समारोह में गृहमन्त्री श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने तो यहाँ तक कहा था कि यह तो कोई दैवी चमत्कार ही हो सकता है । मुनिश्री नगराजजी ने उस विषय को स्पष्ट करते हुए उन्हें बताया

कि दैवी चमत्कार नाम की इसमें कोई वस्तु नहीं है। यह केवल साधना और एकाग्रता का ही चमत्कार है।

मुनि महेन्द्रकुमारजी के प्रयोगों और उस विषय में हुई हलचलों ने अवधान की ओर सबका ध्यान आकृष्ट कर दिया। अनेक मुनियों ने इसका अभ्यास किया। अनेक नवोन्मेष भी हुए। मुनि राजकरणजी ने पाँचसौ, मुनि चम्पालालजी (सरदारशहर) और धर्मचन्द्रजी ने एक हजार तथा मुनि श्रीचन्दजी ने डेढ़ हजार अवधान किये।

इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में आचार्यश्री ने विकास के बीज बोये हैं। कुछ अंकुरित हुए हैं, कुछ पुष्पित, तो कुछ फलित भी। वे प्रेरणा के अखण्ड स्रोत हैं। उन्होंने अपने शिष्य-वर्ग को सत् प्रेरणाओं से अनुप्राणित कर सदैव आगे बढ़ने का साहस प्रदान किया है। उन्होंने न केवल अपना ही, अपितु सारे संघ का सर्वांगीण विकास किया है। हतोत्साह को उत्साहित करने और निराश को आशान्वित करने का उन्हें अद्वितीय कौशल प्राप्त है।

अध्यापन-कौशल

कार्य-भार और कार्य-क्षेत्र

अध्ययन-कार्य से अध्यापन-कार्य कहीं अधिक कठिन होता है। अध्ययन करने में स्वयं के लिए स्वयं को खपाना पड़ता है, जब कि अध्यापन में पर के लिए अपने को खपाना होता है। अध्यापक को अपनी शक्ति पर भी नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। उसमें रबड़ जैसे सङ्कोच-विस्तार की योग्यता होनी आवश्यक है। उसे अपने ज्ञान और अपनी व्याख्या-शक्ति को हर क्षण विद्यार्थियों की योग्यता के अनुसार घटा-बढ़ाकर प्रस्तुत करना पड़ता है। ऐसी और भी अगणित कठिनाइयाँ इस मार्ग में रहा करती हैं। फिर भी किसी-किसी की उदात्त भावनाएँ इस कठिन कार्य को भी सहज बनाने तथा सहज मानकर चलने के लिए आगे आती हैं। आचार्यश्री उन्हीं उदात्त भावनाओं वाले व्यक्ति हैं। उनमें क्रिया-पन्न अध्यापन-कुशलता से कहीं अधिक वह संस्कार-जन्य प्रतीत होती है।

बहुत से लोग तो अध्यापक बनते हैं, पर वे अध्यापक हैं। बनने की बात तो तब आती है; जब कि होने की बात गौण रह जाती है।

वे तेरापंथ के एकमात्र शास्ता हैं; अतः न केवल अध्यापन का ही; अपितु संघ की व्यवस्था, सरक्षा और विकास का सारा उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर है। अपने अनुयायियो के धार्मिक संस्कारो का पल्लवन और परिष्करण उनका अपना कार्य है। इन सब कार्यों के साथ-साथ वे जन-साधारण मे आध्यात्मिक जागृति और नैतिक उच्चता की स्थापना करना चाहते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन उनके इन्ही विचारों का मूर्तरूप है। जनता के नैतिक अधोगमन को रोकने का दुर्वह भार जब से उन्होंने अपने ऊपर लिया है, तब से उनकी व्यस्तता और बढ गई है। परन्तु साथ ही कार्य-सम्पादन का वेग भी बढ गया है, अतः वह व्यस्तता उन्हे अस्त-व्यस्त नहीं कर पाती। उनके कार्य-भार को उनका कार्य-वेग सम्भाले रहता है।

आत्मीयता का आकर्षण

वे अपने अनेक कार्यों का सम्यक् सम्पादन करते हुए भी कुछ समय अध्यापन कार्य के लिए निकाल ही लेते हैं। इस कार्य को वे परोपकार की दृष्टि से नही; किन्तु कर्तव्य की दृष्टि से करते रहे हैं। जब वे स्वयं छात्र थे और निरन्तर अध्ययन-रत रहा करते थे; तब भी अनेक शैक्ष साधु उनकी देख-रेख मे अध्ययन किया करते थे। छात्रो पर अनुशासन करना उन्हें उस समय भी खूब आता था। पर उनका वह अनुशासन कठोर नही; मृदु होता था। वे अपने छात्रो को कभी विशेष उलाहना नहीं दिया करते थे। डांट-डपट करने पर तो उन्हें विश्वास ही नही था। फिर भी शैक्ष साधुओं को वे इतना नियन्त्रण मे रख लेते थे कि कोई भी कार्य उनको बिना पूछे नहीं हो पाता था। यह सब इसलिए था कि उनमे आत्मीयता की एक ऐसी आकर्षण शक्ति थी कि उससे बाहर जाने का किसी छात्र को साहस ही नहीं होता था। उन दिनों वे अपने विद्यार्थी साधुओ के खान-पान, सोने-बैठने से लेकर

छोटे-से-छोटे कार्य को भी सुव्यवस्थित रखने की चिन्ता रखते थे। विद्यार्थी साधु भी उन्हें केवल अपना अध्यापक ही नहीं, किन्तु संरक्षक तथा माता-पिता; सब कुछ मानते थे। शैक्ष साधुओं को कहीं इधर-उधर भटकने न देना, परस्पर बातों में समय-व्यय न करने देना, एक-के-बाद-एक काम में उनका मन लगाये रखना, अपनी संयत वृत्तियों के प्रत्यक्ष उदाहरण से उनकी वृत्तियों को संयतता की ओर प्रेरित करते रहना, इन सबको वे अध्यापन-कार्य का ही अंग मानते रहे हैं।

अपना ही काम है

अपने अध्ययन-कार्य में जैसी उनकी तत्परता थी, वैसी ही शैक्ष साधुओं के अध्यापन-कार्य में भी थी। उस कार्य को भी वे सदा अपना ही कार्य समझकर किया करते थे। दूसरों को अपनाने की ओर दूसरों को अपना स्वत्व सौंपने की उनमें भारी क्षमता थी। इसीलिए दूसरे भी उनको अपना मानने और निश्चिन्त भाव से अपना स्वत्व सौंप दिया करते थे। साधु-समुदाय में विद्या का अधिक-से-अधिक प्रसार हो, यह आचार्य श्री कालूगणी का दृष्टिकोण था। उसी को अपना ध्येय बनाकर वे चलने लगे थे। मुनिश्री चम्पालालजी (उनके संसार-पक्षीय बड़े भाई) कई बार उनको टोकते हुए कहते—"तू दूसरों-ही-दूसरों पर इतना समय लगाता है, अपनी भी कोई चिन्ता है तुझे ?"

इसके उत्तर में वे कहते—"दूसरे कौन ? यह भी तो अपना ही काम है।" उस समय के इस उदारता-पूर्ण उत्तर के प्रकाश में जब हम वर्तमान को देखते हैं तो लगता है कि सचमुच में वे उस समय अपना ही काम कर रहे थे। उस समय जिस प्रगति की नींव उन्होंने डाली थी, वही तो आज प्रतिफलित होकर सामने आ रही है। समस्त संघ की सामूहिक प्रगति आज उनकी व्यक्तिगत प्रगति बन गई है।

तुलसी डरें तो ऊबरें

जिन विद्यार्थियों को उनके सान्निध्य में रहकर विद्यार्जन का सौभाग्य

प्राप्त हुआ था। उनमें से एक मैं भी हूं। हम लोगों में उनके प्रति जितना स्नेह था, उतना ही भय भी था। वे हमारे लिए जितने कोमल रहा करते थे, उतने ही कठोर भी। उनके अनुशासन के प्रति हमारी बाल-कल्पनाओं का अन्त नहीं था। एक बार मैं और मेरे सहपाठी मुनिश्री नथमलजी आचार्यश्री कालूगणी की सेवा में बैठे थे। उन्होंने हमें एक दोहा कण्ठस्थ कराया :

डर डर गुरु डर नाम डर, डर करणी में सार।
'तुलसी' डरै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार॥

इसके लोगने पद का अर्थ हमने अपनी बाल-सुलभ कल्पना के अनुसार उस समय यही समझा था कि भगवान्, गुरु, जनता और अपनी क्रिया के प्रति भय रखना आवश्यक है, उतना ही 'तुलसी' से डरना भी आवश्यक है। उस समय हमारी कल्पना में यह 'तुलसी' नाम किसी कवि का नहीं, किन्तु अपने अध्यापक का ही नाम था, जिनसे कि हम डरा करते थे। हम समझे थे कि आचार्यदेव हमें बता रहे हैं; तुलसी से डरते रहना ही तुम्हारे लिए ठीक है।

उस समय तो यह तर्क नहीं उठ सका कि उनसे भय खाना क्यों ठीक है? पर आज उस स्थिति का स्मरण करते हुए जब उस बाल-सुलभ अर्थ पर ध्यान देने लगता हूँ, तब मन कहता है कि वह अर्थ ठीक था। जिस विद्यार्थी में अपने अध्यापक के प्रति भय न होकर कोरा स्नेह ही होता है, वह अनुशासनहीन बन जाता है। इसी तरह जिसमें स्नेह न होकर कोरा भय ही होता है, वह श्रद्धा-हीन बन जाता है। सफलता उन दोनों के सम्मिलन में है। हम लोगों में उनके प्रति स्नेह से उद्भूत भय था। हमारे लिए उनकी कमान जैसी तनी हुई वक्रीभूत भौंहों का भय कितना सुरक्षा का हेतु था; यह उन दिनों नहीं समझते थे; उतना आज समझ रहे हैं।

उत्साह-दान

विद्यार्थियों का अध्ययन में उत्साह बनाये रखना भी अध्यापक की एक कुशलता होती है। एक शैक्ष के लिए उचित अवसर पर दिया गया

उत्साह-दान जीवन-दान के समान ही मूल्यवान् होता है। अपनी अध्यापक-अवस्था में आचार्यश्री ने अनेकों में उत्साह जागृत किया था तथा अनेकों के उत्साह को बढ़ाया था। मैं इसके लिए अपनी ही बाल्यावस्था का एक उदाहरण देना चाहूंगा। जब हमने अभिधान चिन्तामणि कोश (नाममाला) कण्ठस्थ करना प्रारम्भ किया, तब कुछ दिन तक दो श्लोक कण्ठस्थ करना भी भारी लगता था। मूल बात यह थी कि संस्कृत के कठिन उच्चारण और नीरस पदों ने हमको उबा दिया था। उन्होंने हमारी अन्यमनस्कता को तत्काल भांप लिया और आगे से प्रतिदिन आध घंटा तक हमें अपने साथ उसके श्लोक रटाने लगे, साथ ही अर्थ बताने लगे। उसका प्रभाव यह हुआ कि हमारे लिए कठिन पड़ने वाले उच्चारण सहज हो गये, नीरसता में भी कमी लगने लगी। थोड़े दिनों बाद हम उसी नाममाला के छत्तीस-छत्तीस श्लोक कण्ठस्थ करने लग गये। मैं मानता हूं कि यह उनकी कुशलता से ही सम्भव हो सका था, अन्यथा हम उस अध्ययन को कभी का छोड़ चुके होते।

जो अध्यापक अपने विद्यार्थियों की दुविधा को समझता है और उसे दूर करने का मार्ग खोजता है, वह अवश्य ही अपने शिष्यों की श्रद्धा का पात्र बनता है। उनकी प्रियता के जहां और अनेक कारण थे, वहां यह सबसे बड़ा कारण था। आज भी उनकी प्रकृति में यह बात देखी जा सकती है। विद्यार्थियों की अध्ययन-गत असुविधाओं को मिटाने में आज भी वे उतना ही रस लेते हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि उस समय उनका कार्य-क्षेत्र कुछ ही छात्रों तक सीमित था, पर आज वह समूचे संघ में व्याप्त हो गया है।

अनुशासन-क्षमता

अनुशासन करना एक बात है और उसे कर जानना दूसरी। छात्रों पर अनुशासन करना तो कठिन है ही; पर कर जानना उससे भी कठिन। वह एक कला है, हर कोई उसे नहीं जान सकता। विद्यार्थी

अवस्था में चंचल होता है, स्वभाव से भावुक, और प्रकृति से स्वच्छन्द। खान-पान, भोजन-व्यवहार में सामान्य अनुशासन भी उसे सिखाना ही होता है। जो बात—सीखने से आती है, उसमें बहुधा स्खलनाएँ भी होती हैं। स्खलनाओं को प्रमाद मानने वाले अध्यापक छात्रों में अनुशासन के प्रति श्रद्धा नहीं, अश्रद्धा ही उत्पन्न करते हैं। अनुशासन का भाव छात्र में उत्पन्न न हो जाए; तब तक अनुशासक को अधिक उदार, सावधान और सहानुभूति-युक्त रहना आवश्यक होता है। आचार्यश्री की अध्यापन-कुशलता इसलिए प्रसिद्ध नहीं है कि उनके पास अनेक छात्र पढ़ा करते थे; किन्तु इसलिए है कि वे अनुशासन करना जानते थे। विद्यार्थियों को कब कहना और कब सहना; उसकी सीमा उनको ज्ञात थी।

एक शिकायत; एक कथा

मैं (मुनि बुद्धमल्ल) और मुनिश्री नथमलजी छोटी अवस्था के ही थे। आपके कठोर अनुशासन की शिकायत लेकर एक बार हम दोनों पूज्य कालूगणी के पास गये। रात्रि का समय था। आचार्यदेव सोने की तैयारी में थे। हम दोनों ने पास में जाकर वन्दन किया तो आचार्यदेव ने पूछा—बोलो; किसलिए आये हो?

हमने सकुचाते-सकुचाते साहस बाँधकर कहा—तुलसीरामजी स्वामी हम पर बहुत कड़ाई करते हैं। हमें परस्पर बात भी नहीं करने देते।

आचार्यश्री कालूगणी ने पूछा—यह सब तुम्हारी पढ़ाई के लिए ही करता है या और किसी कारण से?

हमने कहा—करते तो पढाई के लिए ही हैं।

आचार्यदेव बोले—तब फिर क्या शिकायत रह जाती है? इसमें तो वह चाहेगा वैसा ही करेगा। तुम्हारी कोई बात नहीं चलेगी।

हम दोनों ही अवाक् थे। आचार्यदेव ने एक कहानी सुनाई कि राजा का पुत्र गुरुकुल में पढा करता था। पढ़ाई समाप्त होने पर आचार्य उसे राज-सभा मे ले जा रहे थे। बाजार में एक दूकान से उन्होंने

गेहूँ खरीदे और पोटली [illegible]
यह अस्वीकार तो नहीं कर सका, पर मन-ही-मन बहुत खिन्न हुआ। मार्ग में थोड़ी दूर जाकर पोटली उतरवा दी गई। वे धर्म-सभा में पहुँचे। राजा ने कुमार के ज्ञान की परीक्षा ली। वह सब विषयों में उत्तीर्ण हुआ। राजा ने प्रसन्न होकर अध्यापक से पूछा—राजकुमार का व्यवहार कैसा रहा?

अध्यापक—बहुत अच्छा, बहुत विनय-युक्त।

राजकुमार से पूछा—आचार्यजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया?

राजकुमार—इतने वर्ष तो बहुत अच्छा व्यवहार किया, पर आज का व्यवहार उससे भिन्न था।

राजा—कैसे?

राजकुमार ने पोटली की बात सुनाई। राजा भी उसे सुनकर बहुत खिन्न हुआ। आचार्य से कारण पूछा तो उत्तर मिला कि वह भी एक पाठ ही था। उसकी आवश्यकता अन्य छात्रों को उतनी नहीं थी, जितनी कि राजकुमार को। मैं भावी राजा को यह बतला देना चाहता था कि भार उठाने में कितना कष्ट होता है। इस बात का ज्ञान होने पर यह सम्पन्न गरीबी में रहने वाले और परिश्रम से पेट भरने वाले प्रजाजनों के श्रम का मूल्य आँक सकेगा और किसी पर अन्याय नहीं कर सकेगा।

आचार्यदेव ने कहा—अध्यापक तो राजकुमार से भी पोटली उठवा लेता है, तो फिर तुम्हारी शिकायत कैसे मानी जा सकती है? उसने तो मुझे केवल काम करने से ही रोका है। आओ, यहाँ बैठो और जब कहे, वैसे ही किया करो।

हम खाना लेकर गये थे और शिकायत लेकर चले आये। दूसरे दिन पढ़ने के लिए गये तो यह भय लगा रहा था कि हमारी बात का पता लग गया तो क्या होगा? हम कई दिनों तक कतराते-कतराते से रहे, पर उन्होंने यह कभी मालूम तक नहीं होने दिया कि शिकायत करने की बात का उन्हें पता है।

स्वानुशासन

दूसरों को अनुशासन सिखाने वाले को अपने पर कहीं अधिक अनुशासन करना होता है। छात्रों के अनेक कार्यों को बाल-विलसित मानकर सह लेना होता है। अध्यापक का अपने मन पर का अनुशासन भंग होता है तो उसकी प्रतिक्रिया छात्रों पर भी होती है। इसीलिए अध्यापक की अनुशासन-क्षमता छात्रों पर पड़ने वाले रौब से कहीं अधिक; उसके द्वारा अपने-आप पर किये जाने वाले संयम और नियन्त्रण से मापी जाती है।

हर पाठ

अध्यापन के कार्य में आचार्यश्री की रुचि प्रारम्भ से लेकर अब तक समान रूप से चली आई है। वे इसे बुनियादी कार्य समझते हैं। उनकी दृष्टि में अध्यापन का कार्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है; जितना कि संघ-संचालन और आन्दोलन-प्रवर्तन। वे अपने चिन्तन के क्षण जिस प्रकार उन कार्यों में लगाते हैं; उसी प्रकार इसमें भी लगाते हैं। छोटे-से-छोटा ग्रन्थ व छोटे-से-छोटा पाठ उनकी अध्यापन-कला से बड़ा बन जाता है। वस्तुतः कोई पाठ छोटा होता ही नहीं, उसका शब्द-कलेवर छोटा होने से चाहे उसे छोटा कह दिया जाये; परन्तु सारा जीवन-व्यवहार उन्हीं छोटे-छोटे पाठों की भित्ति पर खड़ा हुआ है।

विकास का बीज-मंत्र

वे जब पढ़ाते हैं तो अध्यापन-रस में सराबोर होकर पढ़ाते हैं। मूल पाठ को तो वे पूर्णतः स्पष्ट करते ही हैं, साथ ही अनेक शिक्षात्मक बातें भी इस प्रकार से जोड़ देते हैं कि पाठ की क्लिष्टता मधुमयता में बदल जाती है। नव विद्यार्थियों को शब्द-रूप और धातु-रूप पढ़ाते समय वे जितनी प्रसन्न-मुद्रा में देखे जाते हैं, उतने ही किसी काव्य या दार्शनिक ग्रन्थ के पाठन में भी देखे जा सकते हैं। सामान्यतः उनकी यह प्रसन्नता ग्रन्थ की साधारणता या असाधारणता को लेकर नहीं होती; अपितु इस लिए होती है कि वे किसी के विकास में सहयोग दे रहे हैं। वे अपने निर्देश

आवश्यक कार्यों में उसको भी गिनते हैं और पूरी लगन के साथ करते रहते है। संघ के उदय-हेतु वे शिक्षा को बीज मानकर चलते है।

महात्मा गांधी एक बार किसी प्रौढ महिला को वर्णमाला का अभ्यास करा रहे थे। आश्रम मे देश के अनेक उच्चकोटि के नेता आये हुए थे। उन्हे गाधीजी से देश की विभिन्न समस्याओ पर विमर्श करना था तथा मार्ग-दर्शन लेना था। बड़ी व्याकुलता लिए वे सब बाहर बैठे हुए अपने निर्धारित समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। अनेक विदेशी भी महात्माजी से मिलने के लिए उत्कण्ठित हो रहे थे। पर महात्माजी सदा की भांति तल्लीनता के साथ उस महिला को 'क' और 'ख' का भेद समझा रहे थे।

एक परिचित विदेशी ने झुंझलाकर गांधीजी से कहा—बहुत लोग प्रतीक्षा मे बैठे हैं। आपके भी महत्त्वपूर्ण कार्यों का चारो ओर ढेर लगा है। ऐसे समय में यह आप क्या कर रहे हैं ?

गांधीजी ने स्मित-भाव से उत्तर देते हुए कहा—मैं सर्वोदय ला रहा हूँ।

प्रश्नकर्ता इस पर और क्या कहते ? चुप होकर बैठ गए। ठीक यही स्थिति आचार्यश्री की भी कही जा सकती है। विद्या को वे विकास का बीज-मंत्र मानते है।

कहीं मैं ही गलत न होऊं

दिल्ली की तृतीय यात्रा वहाँ ठहरने के दृष्टिकोण से तो पिछली दोनों यात्राओ से छोटी थी; पर व्यस्तता के दृष्टिकोण से उन दोनो से बहुत बड़ी थी। देशी और विदेशी व्यक्तियो के आगमन का प्रवाह प्रायः निरन्तर चालू रहता था। प्रतिदिन अनेक स्थानों पर भाषण के आयोजन रहते। आचार्यश्री पैदल चलकर वहाँ जाते और भाषण के पश्चात् वापिस आते। थका देने वाला नैरन्तरिक परिश्रम चल रहा था। उन दिनों दिन का प्रायः समस्त समय अन्यान्य कार्यों में विभक्त हो गया था। पर आचार्यश्री तो अध्यापन-व्यसनी ठहरे ! दिन मे समय न मिला तो

स्वानुशासन

दूसरों को अनुशासन सिखाने वाले को अपने पर कहीं अधिक अनु-शासन करना होता है। छात्रों के अनेक कार्यों को बाल-विलसित मानकर सह लेना होता है। अध्यापक का अपने मन पर का अनुशासन भंग होता है तो उसकी प्रतिक्रिया छात्रों पर भी होती है। इसीलिए अध्यापक की अनुशासन-क्षमता छात्रों पर पड़ने वाले रौब से कहीं अधिक; उसके द्वारा अपने-आप पर किये जाने वाले संयम और नियन्त्रण से मापी जाती है।

हर पाठ

अध्यापन के कार्य में आचार्यश्री की रुचि प्रारम्भ से लेकर अब तक समान रूप से चली आई है। वे इसे बुनियादी कार्य समझते हैं। उनकी दृष्टि में अध्यापन का कार्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है; जितना कि संघ-संचालन और आन्दोलन-प्रवर्तन। वे अपने चिन्तन के क्षण जिस प्रकार उन कार्यों में लगाते है, उसी प्रकार इसमें भी लगाते हैं। छोटे-से-छोटा ग्रन्थ व छोटे-से-छोटा पाठ उनकी अध्यापन-कला से बड़ा बन जाता है। वस्तुत. कोई पाठ छोटा होता ही नहीं; उसका शब्द-कलेवर छोटा होने से चाहे उसे छोटा कह दिया जाये; परन्तु सारा जीवन-व्यवहार उन्हीं छोटे-छोटे पाठो की भित्ति पर खड़ा हुआ है।

विकास का बीज-मंत्र

वे जब पढ़ाते हैं तो अध्यापन-रस में सराबोर होकर पढाते हैं। मूल पाठ को तो वे पूर्णतः स्पष्ट करते ही हैं; साथ ही अनेक शिक्षात्मक बातें भी इस प्रकार से जोड देते हैं कि पाठ की क्लिष्टता मधुमयता मे बदल जाती है। नव शिक्षार्थियो को शब्द-रूप और धातु-रूप पढ़ाते समय वे जितनी प्रसन्न-मुद्रा मे देखे जाते है; उतने ही किसी काव्य या दार्शनिक ग्रन्थ के पाठन मे भी देखे जा सकते हैं। सामान्यतः उनकी वह प्रसन्नता ग्रन्थ की साधारणता या असाधारणता को लेकर नही होती; अपितु इस लिए होती है कि वे किसी के विकास मे सहयोग दे रहे हैं। वे अपने निर्माण

आवश्यक कार्यों में उसको भी गिनते हैं और पूरी लगन के साथ करते रहते हैं। संघ के उदय-हेतु वे शिक्षा को बीज मानकर चलते हैं।

महात्मा गांधी एक बार किसी प्रौढ महिला को वर्णमाला का अभ्यास करा रहे थे। आश्रम में देश के अनेक उच्चकोटि के नेता आये हुए थे। उन्हें गांधीजी से देश की विभिन्न समस्याओं पर विमर्श करना था तथा मार्ग-दर्शन लेना था। बड़ी व्याकुलता लिए वे सब बाहर बैठे हुए अपने निर्धारित समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। अनेक विदेशी भी महात्माजी से मिलने के लिए उत्कण्ठित हो रहे थे। पर महात्माजी सदा की भांति तल्लीनता के साथ उस महिला को 'क' और 'ख' का भेद समझा रहे थे।

एक परिचित विदेशी ने झुँझलाकर गांधीजी से कहा—बहुत लोग प्रतीक्षा में बैठे हैं। आपके भी महत्त्वपूर्ण कार्यों का चारों ओर ढेर लगा है। ऐसे समय में यह आप क्या कर रहे हैं ?

गांधीजी ने स्मित-भाव से उत्तर देते हुए कहा—मैं सर्वोदय ला रहा हूँ।

प्रश्नकर्ता इस पर और क्या कहते ? चुप होकर बैठ गए। ठीक यही स्थिति आचार्यश्री की भी कही जा सकती है। विद्या को वे विकास का बीज-मंत्र मानते हैं।

कहीं मैं ही गलत न होऊँ

दिल्ली की तृतीय यात्रा वहाँ ठहरने के दृष्टिकोण से तो पिछली दोनों यात्राओं से छोटी थी; पर व्यस्तता के दृष्टिकोण से उन दोनों से बहुत बड़ी थी। देशी और विदेशी व्यक्तियों के आगमन का प्रवाह प्रायः निरन्तर चालू रहता था। प्रतिदिन अनेक स्थानों पर भाषण के आयोजन रहते। आचार्यश्री पैदल चलकर वहाँ जाते और भाषण के पश्चात् वापिस आते। थका देने वाला नैरन्तरिक परिश्रम चल रहा था। उन दिनों दिन का प्रायः समस्त समय अन्यान्य कार्यों में विभक्त हो गया था। पर आचार्यश्री तो अध्यापन-व्यसनी ठहरे! दिन में समय न मिला तो

स्वानुशासन

दूसरों को अनुशासन सिखाने वाले को अपने पर कहीं अधिक अनुशासन करना होता है। छात्रों के अनेक कार्यों को बाल-विलसित मानकर सह लेना होता है। अध्यापक का अपने मन पर का अनुशासन भंग होता है तो उसकी प्रतिक्रिया छात्रों पर भी होती है। इसीलिए अध्यापक की अनुशासन-क्षमता छात्रों पर पड़ने वाले रौब से कहीं अधिक; उसके द्वारा अपने-आप पर किये जाने वाले संयम और नियन्त्रण से मापी जाती है।

हर पाठ

अध्यापन के कार्य में आचार्यश्री की रुचि प्रारम्भ से लेकर अब तक समान रूप से चली आई है। वे इसे बुनियादी कार्य समझते हैं। उनकी दृष्टि में अध्यापन का कार्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है; जितना कि संघ-संचालन और आन्दोलन-प्रवर्तन। वे अपने चिन्तन के क्षण जिस प्रकार उन कार्यों में लगाते हैं; उसी प्रकार इसमें भी लगाते हैं। छोटे-से-छोटा ग्रन्थ व छोटे-से-छोटा पाठ उनकी अध्यापन-कला से बड़ा बन जाता है। वस्तुतः कोई पाठ छोटा होता ही नहीं, उसका शब्द-कलेवर छोटा होने से चाहे उसे छोटा कह दिया जाये, परन्तु सारा जीवन-व्यवहार उन्हीं छोटे-छोटे पाठों की भित्ति पर खड़ा हुआ है।

विकास का बीज-मंत्र

वे जब पढ़ाते हैं तो अध्यापन-रस में सराबोर होकर पढ़ाते हैं। मूल पाठ को तो वे पूर्णतः स्पष्ट करते ही हैं, साथ ही अनेक शिक्षात्मक बातें भी इस प्रकार से जोड़ देते हैं कि पाठ की विशिष्टता मधुमयता में बदल जाती है। नव शिक्षार्थियों को शब्द-रूप और धातु-रूप पढ़ाते समय वे जितनी प्रसन्न-मुद्रा में देखे जाते हैं, उतने ही किसी काव्य या दार्शनिक ग्रन्थ के पाठन में भी देखे जा सकते हैं। सामान्यतः उनकी यह प्रसन्नता ग्रन्थ की सामान्यता या असामान्यता को लेकर नहीं होती, अपितु इस लिए होती है कि वे किसी के विकास में सहयोग दे रहे हैं। वे अपने निर्देश

आवश्यक कार्यों में उसको भी गिनते हैं और पूरी लगन के साथ करते रहते हैं। संघ के उदय-हेतु वे शिक्षा को बीज मानकर चलते हैं।

महात्मा गांधी एक बार किसी प्रौढ़ महिला को वर्णमाला का अभ्यास करा रहे थे। आश्रम में देश के अनेक उच्चकोटि के नेता आये हुए थे। उन्हें गांधीजी से देश की विभिन्न समस्याओं पर विमर्श करना था तथा मार्ग-दर्शन लेना था। बड़ी व्याकुलता लिए वे सब बाहर बैठे हुए अपने निर्धारित समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। अनेक विदेशी भी महात्माजी से मिलने के लिए उत्कण्ठित हो रहे थे। पर महात्माजी सदा की भाँति तल्लीनता के साथ उस महिला को 'क' और 'ख' का भेद समझा रहे थे।

एक परिचित विदेशी ने झुँझलाकर गांधीजी से कहा—बहुत लोग प्रतीक्षा में बैठे हैं। आपके भी महत्त्वपूर्ण कार्यों का चारों ओर ढेर लगा है। ऐसे समय में यह आप क्या कर रहे हैं ?

गांधीजी ने स्मित-भाव से उत्तर देते हुए कहा—मैं सर्वोदय ला रहा हूँ।

प्रश्नकर्ता इस पर और क्या कहते ? चुप होकर बैठ गए। ठीक यही स्थिति आचार्यश्री की भी कही जा सकती है। विद्या को वे विकास का बीज-मंत्र मानते हैं।

कहीं मैं ही गलत न होऊँ

दिल्ली की तृतीय यात्रा वहां ठहरने के दृष्टिकोण से तो पिछली दोनों यात्राओं से छोटी थी; पर व्यस्तता के दृष्टिकोण से उन दोनों से बहुत बड़ी थी। देशी और विदेशी व्यक्तियों के आगमन का प्रवाह प्रायः निरन्तर चालू रहता था। प्रतिदिन अनेक स्थानों पर भाषण के आयोजन रहते। आचार्यश्री पैदल चलकर वहां जाते और भाषण के पश्चात् वापिस आते। थका देने वाला नैरन्तरिक परिश्रम चल रहा था। उन दिनों दिन का प्रायः समस्त समय अन्यान्य कार्यों में विभक्त हो गया था। पर आचार्यश्री तो अध्यापन-व्यसनी ठहरे ! दिन में समय न मिला तो

पश्चिम-रात्रि में ही सही। 'शान्तसुधारस' का अर्थ छात्रों को बताया जाने लगा। अर्थ के साथ-साथ शब्दों की व्युत्पत्ति, समास और कारक आदि का विश्लेषण भी चलता रहता।

एक बार आचार्यश्री ने 'शान्तसुधारस' में प्रयुक्त किसी समास के विषय में छात्रों से पूछा। उन्हें नहीं आया; तब उनसे अग्रिम श्रेणी वालों को बुलाया और उसी समास के विषय में पूछा। उन्हें भी नहीं आया; तब आचार्यश्री ने हम लोगों (मुनि नथमलजी, मुनि नगराजजी और मुनि बुद्धमल्ल) को बुलाया। हमने कुछ निवेदित किया और उसे सिद्ध करने वाला सूत्र भी कहा। आचार्यश्री के ध्यान में वह सूत्र वहाँ के लिए उपयोगी नहीं था। पर वे बोले—'तो कहीं मैं ही गलत न होऊँ?' अपनी धारणा वाला सूत्र बतलाते हुए उन्होंने कहा—'क्या यह इस सूत्र से सिद्ध होने वाला समास नहीं है?' हम सबको अपनी त्रुटि ध्यान में आ गई और हम बोल पड़े—'सचमुच में यही सूत्र समास करने वाला है।'

यद्यपि आचार्यश्री का ज्ञान बहुत परिपक्व और अस्खलित है; परन्तु वे उसका कभी अभिमान नहीं करते। वे हर क्षण अपने शोधन के लिए उद्यत रहते हैं। कठिनता यह है कि जहाँ शोधन की तत्परता होती है; वहाँ बहुधा उसकी आवश्यकता नहीं होती और जहाँ शोधन की तत्परता नहीं होती, बहुधा वहीं उसकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है।

उदार व्यवहार

शिष्यों की विकासोन्मुखता में आचार्यश्री असीम उदारता बरतते हैं। विकास के जो क्षितिज संघ के साधु-साध्वियों के लिए खुल नहीं पाये थे; उनको खोलने और सर्व-सुलभ बनाने की प्रक्रिया से उन्होंने विकास में एक नया अध्याय जोड़ा है। शिष्यों के विकास को वे अपना विकास मानते हैं और उनकी श्लाघा को अपनी श्लाघा। अपनी प्रवृत्तियों में तो उन्होंने इस बात को बहुधा पुष्ट किया ही है, पर अपनी काव्य-कल्पनाओं में भी इस भावना का अंकन किया है। 'कालू-यशोविलास' में वे एक जगह कहते हैं :

वदै शिष्य नी साहिबी, जिम हिम-रितु नी रात।
तिम तिम ही गुरु नी हुवै, विश्वव्यापिनी ख्यात॥

आचार्यश्री का यह उदार व्यवहार उनके शिष्यवर्ग को जहाँ आगे बढ़ाने का प्रोत्साहन देता है, वहाँ उनके व्यक्तित्व की उदारता का परिचय भी देता है। 'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्' अर्थात् पुत्र को अपने से बढ़कर योग्य देखने की इच्छा रखना प्रत्येक पिता का कर्तव्य है। आचार्यश्री इस भारतीय भावना के मूर्तरूप कहे जा सकते हैं।

साध्वी-समाज में शिक्षा

साधुओं का प्रशिक्षण आचार्यश्री कालूगणी ने बहुत पहले से ही प्रारम्भ कर दिया था; अतः अनेक साधु उनके जीवन-काल में ही निपुण बन चुके थे; लेकिन साध्वी-समुदाय में ऐसी स्थिति नहीं थी। कोई एक भी साध्वी इतनी निपुण नहीं थी कि उस पर साध्वियों की शिक्षा का भार छोड़ा जा सके। आचार्यश्री कालूगणी स्वयं अधिक समय नहीं दे पाते थे; फिर भी उन्होंने विद्या का बीज-वपन तो कर ही दिया था। कार्य को अधिक तीव्रता से आगे बढ़ाने की आवश्यकता थी। आचार्यश्री कालूगणी ने जब आपको भावी आचार्य के रूप में चुना, तब संघ-विकास के जिन कार्यक्रमों का आदेश-निर्देश किया था; उनमें साध्वी-शिक्षा भी एक था। उसी आदेश को ध्यान में रखते हुए आपने आचार्य-पद पर आसीन होते ही इस विषय पर विशेष ध्यान दिया।

एक नवीन आचार्य के लिए अपने पद के उत्तरदायित्व की उलझनें भी बहुत होती हैं, परन्तु आप उन सबको सुलझाने के साथ ही अध्यापन-कार्य भी चलाते रहे। प्रारम्भ में कुछ साध्वियों को संस्कृत-व्याकरण कालूकौमुदी पढ़ाकर इस कार्य का प्रारम्भ किया गया और क्रमशः अनेक विषयों के द्वार उनके लिए उन्मुक्त होते गए। वि०सं० १९९३ से यह कार्य प्रारम्भ किया गया था। इसमें अनेक कठिनाइयाँ थीं। अध्ययन निरन्तरता चाहता है; पर यह अन्य कार्यों के बाहुल्य से अन्तरित होता रहा। जब-

जब आचार्यश्री अन्य कार्यों में अधिक व्यस्त होते, तब-तब अध्यापन को स्थगित करना पड़ता। फिर भी जिज्ञासा की ओर विशेष सतर्कता बरती गई और कार्य चलता रहा। उसी का यह फल है कि साधुओं के समान ही साध्वियाँ भी आज दर्शन-शास्त्र तक का अध्ययन करने में लगी हुई हैं।

अध्यापन की एक समस्या

साध्वी-समाज में अध्ययन की रुचि उत्पन्न कर आचार्यश्री ने जहाँ उनके मानस को जागरूक बना दिया है, वहाँ अध्यापन-विषयक एक समस्या भी खड़ी कर ली है। आचार्यश्री के साथ-साथ विहार करने वाली साध्वियों को तो अध्ययन का सुयोग मिल जाता है, परन्तु वे तो संख्या में बहुत थोड़ी ही होती हैं। अधिकांश साध्वियाँ पृथक् विहार करती हैं। उनकी अध्ययन-जिज्ञासा को शान्त करने की समस्या आज भी विचारणीय ही है।

साध्वियों को विदुषी बनाने का बहुत बड़ा कार्य अभी अवशिष्ट है। इस विषय में आचार्यश्री बहुधा चिन्तन करते रहते हैं। तेरापन्थ-द्विशताब्दी के अवसर पर उन्होंने यह घोषणा भी की है कि हर प्रतिभाशालियों को उचित अवसर प्रदान किया जायेगा; परन्तु उक्त घोषणा को कार्यरूप में परिणित करने का कार्य अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही कहा जा सकता है। साधुओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था तो सहजतया ही की जा सकती है; पर साध्वियों के लिए वैसा कर पाना सुगम नहीं है। किसी विदुषी साध्वी की देख-रेख में प्रतिवर्ष कोई विद्या-केन्द्र स्थापित करने का विचार एक परीक्षणात्मक रूप में सामने आया है; परन्तु अभी इस समस्या का कोई स्थायी हल निकालना अवशिष्ट है। जो सीखना चाहता है; उसकी व्यवस्था करना आचार्यश्री अपना कर्तव्य मानते हैं। इसीलिए वे इसका कोई-न-कोई समुचित समाधान निकालने के लिए समुत्सुक हैं। उनकी उत्सुकता का अर्थ है कि निकट भविष्य में यह समस्या सुलझने वाली ही है।

पाठ्यक्रम का निर्धारण

अनेक वर्षों के अध्यापन-कार्य ने अध्ययन-विषयक व्यवस्थित क्रमिकता की आवश्यकता अनुभव कराई। व्यवस्थित क्रमिकता के अभाव में साधारण बुद्धि वाले विद्यार्थियों का प्रयास निष्फल ही चला जाता है। इस बात के अनेक उदाहरण उस समय उपस्थित थे। सम्पूर्ण चन्द्रिका अथवा कालूकौमुदी कण्ठस्थ कर लेने तथा उनकी साधनिका कर लेने पर भी कई व्यक्तियों का कोई विकास नहीं हो पाया था। इसकी जड़ में एक कारण यह था कि उस समय प्राय. संस्कृत इसलिए पढ़ी जाती थी कि उससे आगमों की टीकाओं का अध्ययन सुलभ हो जाता है। स्वयं टीका बनाने का सामर्थ्य तथा बोलने या लिखने की योग्यता अर्जित करने का लक्ष्य सामने नहीं था। इसीलिए व्याकरण कण्ठस्थ करने और उसकी साधनिका करने पर ही बल दिया जाता था। उसके व्यवहारिक प्रयोग की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। उस समय तक संस्कृत समझ लेना ही अध्ययन की पर्याप्तता मानी जाती थी। धीरे-धीरे उस भावना में परिवर्तन आया और कुछ छुट-पुट रचनाएँ होने लगीं; पर यह सब अध्ययन के बाद की प्रक्रियाएँ थी। अध्ययन क्रम क्या हो; यह निर्धारण बहुत बाद में हुआ।

आचार्यश्री ने साध्वी-समाज को प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया; तब उनके विकास की गति को त्वरता प्रदान करने के उपाय सोचे जाने लगे। एक बार आचार्यश्री पत्रिका देख रहे थे। उसमें किसी संस्था-विशेष का पाठ्यक्रम छपा हुआ था। उनकी ग्रहणशील बुद्धि ने तत्काल उस बात को पकड़ा और निश्चय किया कि अपने यहाँ भी एक पाठ्य-प्रणाली होनी चाहिए। उनके निश्चय और कार्य-परिणति में लम्बी दूरी नहीं होती। आगम कहते हैं कि देवता के मन और भाषा की पर्याप्तियाँ साथ ही गिनी जाती हैं। आचार्यश्री के लिए मन, भाषा और कार्य का ऐक्य माना जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं मानी जायेगी। वे सोचते हैं, बतलाते हैं और कर

जाते हैं। इसके बाद भी इस पद्धति में परिवर्तन रही है। पाठ्यक्रम के लिए वर्ग का निर्माण हुआ जिसमें भी पार्ट भी गई, कसौटियां बनाई गई और उसे लागू कर दिया गया। यह वि० सं० २००२ अधिनियम की बात है। इसमें वि० सं० २००६ के अन्त में लगभग ३० साध्वियों ने परीक्षा दी।

इस पाठ्यक्रम ने शिक्षा को बहुमुखी बनाने की आवश्यकता को पूरा किया और विचारों के बहुमुखी विकास का मार्ग खोला। विचारों का विकास ही जीवन का विकास होता है। जहाँ उसके लिए मार्ग अवरुद्ध होता है, वहाँ जीवन-विकास की कल्पना ही नहीं की जा सकती। तेरापंथ के शिक्षा-क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन करने वाली इस पाठ्य-प्रणाली का नाम दिया गया 'आध्यात्मिक शिक्षा-क्रम।'

इस शिक्षा-क्रम के निर्धारण में उन विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखा गया कि जो सर्वांगपूर्ण शिक्षा पाने की ओर उन्मुख हों। इसके तीन विभाग हैं— योग्य, योग्यतर और योग्यतम। अब इस शिक्षा-क्रम का सफलतापूर्वक प्रयोग चालू है। अनेक साधु-साध्वियों ने इस क्रम से परीक्षा देकर इसकी उपयोगिता को सिद्ध कर दिया है।

एक दूसरी पाठ्य-प्रणाली 'सैद्धान्तिक शिक्षा-क्रम' के नाम से निर्धारित की गई। इसकी आवश्यकता उन व्यक्तियों के लिए थी; जो अनेक विषयों में निष्णात बनने की क्षमता नहीं रखते हों; वे आगम-ज्ञान में अपनी पूरी शक्ति लगाकर कम-से-कम उस एक विषय में पारगत हो सकें। इन शिक्षा-क्रमों में अनेक परिवर्तन भी हुए हैं और शायद आगे भी होते रहें। परिमार्जन के लिए यह आवश्यक भी है; परन्तु यह निश्चित है कि हर परिवर्तन पिछले की अपेक्षा अधिक उपयोगी बन सके; यह ध्यान रखा जाता है।

आचार्यश्री कालूगणी ने संघ में विद्या-विषयक जो कल्पना की थी; उसे मूर्तरूप देने का अवसर आचार्यश्री को मिला। उन्होंने उस कार्य

को इस प्रकार पूरा किया है कि आज तेरापंथ युग-भावना को समझ सकता है और आवश्यकता होने पर उसे नया मोड़ देने का सामर्थ्य भी रखता है। एक अध्यापक के रूप में आचार्यश्री के जीवन का यह कोई साधारण कौशल नहीं है।

: ५ :

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक

समय की मांग

अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात जिन परिस्थितियों में हुआ; उन सबके अनुशीलन पर ऐसा लगता है जैसे कि वह समय की एक मांग थी। वह ऐसा समय था; जब कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद क्षत-विक्षत मानवता के घावों से रक्तस्राव हो रहा था। उस महायुद्ध का सबसे अधिक भीषण अभिशाप था—अनैतिकता। हर महायुद्ध का दुष्परिणाम प्रायः यही हुआ करता है। भारत महायुद्ध के अभिशापों से मुक्त होता; उससे पूर्व ही स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ होने वाले जातीय संघर्षों ने उसे आ दबोचा। भीषण क्रूरता के साथ चारों ओर विनाश-लीला का अट्टहास सुनाई देने लगा। उसमें जनता की आध्यात्मिक और नैतिक भावनाओं का बहुत भयंकरता से पतन हुआ। ज्यों-त्यों करके जब वह वातावरण शान्त हुआ, तब लोग अपनी-अपनी कठिनाइयों का हल खोजने में जुटने लगे। देश के कर्णधारों ने आर्थिक और सामाजिक उन्नयन की अनेक योजनाएँ बनाईं और देश को समृद्ध बनाने का संकल्प किया। कार्य चालू हुआ और अपनी मंजिल की ओर बढ़ने लगा।

उस समय देश में अध्यात्म-भाव और नैतिकता के ह्रास की जो एक ज्वलन्त समस्या थी, उस ओर प्रायः न किसी जननेता का और न किसी अन्य व्यक्ति का ही ध्यान गया। आचार्यश्री तुलसी ही वे प्रथम व्यक्ति थे; जिन्होंने उस कमी को महसूस किया और उस ओर सब का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया।

आत्मा की भूख

निःश्रेयस् को भूलकर केवल अभ्युदय में लग जाना कभी खतरे से खाली नहीं होता। उससे मानवीय उन्नति का क्षेत्र सीमित तो होता ही है; साथ ही अस्वाभाविक भी। मनुष्य जड नहीं है; अत भौतिक उन्नति उसकी स्वयं की उन्नति कैसे हो सकती है? मनुष्य की वास्तविक उन्नति तो आत्मगुणों की अभिवृद्धि से ही सम्भव है। आत्मगुण, अर्थात् आत्मा के सहज-भाव। आगम-भाषा में जिन्हें सत्य, अहिंसा आदि कहा जाता है।

मनुष्य शरीर और आत्मा का एक सम्मिलन है। न वह केवल शरीर है और न केवल आत्मा। उसके शरीर को भी भूख लगती है और आत्मा को भी। अभ्युदय शारीरिक भूख को परितृप्ति देता है और निःश्रेयस् आत्मिक भूख को। आत्मा परितृप्त हो और शरीर भूखा हो तो क्वचित् मनुष्य निभा भी लेता है, परन्तु शरीर परितृप्त हो और आत्मा भूखी; तब तो किसी भी प्रकार से नहीं निभ सकता। वहाँ पतन अवश्यम्भावी हो जाता है। देश में उस समय जो योजनाएँ बनीं, वे सब मनुष्य को केवल शारीरिक परितृप्ति देने वाली ही थीं। आत्म-परितृप्ति के लिए उनमें कोई स्थान नहीं था।

उपेक्षित क्षेत्र में

आचार्यश्री ने इस उपेक्षित क्षेत्र में काम किया। अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से उन्होंने जनता को आत्म-तृप्ति देने का मार्ग चुना। देश के कर्णधारों का भी इस ओर ध्यान आकृष्ट करने में वे सफल हुए। उनकी योजनाओं, कार्यक्रमों और विचारों का कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं अप्रत्यक्ष प्रायः सर्वत्र प्रभाव हुआ ही है। आध्यात्मिक और नैतिक उत्थान के घोष को प्रबल करने में आचार्यश्री के साथ उन सभी व्यक्तियों का स्वर भी समवेत हुआ है जो इस क्षेत्र में अपना चिन्तन रखते हैं।

देश की प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं में जहाँ नैतिकता या सदाचार-

सम्बन्धी कोई शिक्षा नहीं दी गई, वहाँ तृतीय योजना उसमें विल्कुल
स्थिर नहीं रही जा सकती। यह देश के कर्णधारों के बदलते हुए विचा-
रों का ही तो परिचय है। इन विचारों को बदलने में अन्य अनेक कारण
हो सकते हैं, पर उनमें कुछ-न-कुछ भाग अणुव्रत-आन्दोलन तथा उसके
द्वारा देश में उत्पन्न किये वातावरण का भी कहा जा सकता है।

अपेक्षाकृत पहले

आचार्यश्री ने जनता की इस भूख को अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा
पहले अनुभव किया, इसलिए वे किसी की प्रतीक्षा किये बिना इस कार्य
में जुट गए। अन्य जन अब अनुभव करने लगे हैं तो उन्हें अब इस ओर
त्वरता से आगे आना चाहिए। पण्डित नेहरू के विचार भी इन दिनों में
बहुत परिवर्तित हो गए हैं। वे अब मनुष्य की इस आध्यात्मिक भूख को
पहचानने लगे हैं। 'ब्लिट्ज' के सम्पादक श्री आर० के० करंजिया के
एक प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने अपने में यह परिवर्तन स्वीकार भी
किया है।

करंजिया ने पूछा था—"आपके कुछ वक्तव्यों में यह चर्चा है कि
देश की समस्याओं के लिए नैतिक एवं आध्यात्मिक समाधानों की भी
सहायता लेनी चाहिए। क्या हम समझें कि जीवन के सान्ध्य में नेहरू
बदल गया है?"

उत्तर देते हुए श्री नेहरू ने कहा—"इस बात को यदि आप प्रश्न
के रूप में रखना चाहते हैं तो मैं 'हाँ' में ही उत्तर दूँगा। मैं वस्तुतः
बदल गया हूँ। मेरे वक्तव्यों में नैतिक एवं आध्यात्मिक समाधानों की
चर्चा अनर्गल या केवल औपचारिक नहीं होती। बहुत सोच-विचार कर
ही मैं उन पर बल देता हूँ। बहुत चिन्तन के बाद मैं इस निश्चय पर
पहुंचा हूँ कि आज के मानव की आत्मा अशान्त और भूखी है। यदि
भौतिक उन्नति के साथ मनुष्य की आत्मा भूखी रहेगी तो संसार का

समस्त भौतिक वैभव भी उस भूख को नहीं मिटा सकेगा।[1]"

आन्दोलन का उत्स

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ एक बहुत ही साधारण सी घटना से हुआ। बड़ी-से-बड़ी नदी का भी उत्स प्रायः साधारण ही होता है। वि० सं० २००५ में आचार्यश्री ने अपना वर्षाकालीन प्रवास छापर में किया था। एक दिन वहाँ उनके पास बैठे हुए कुछ व्यक्ति नैतिकता के विषय में परस्पर बात कर रहे थे। उनमें से एक ने निराशा व्यक्त करते हुए बड़ा जोर देकर कहा कि इस युग में नैतिकता कोई रख ही नहीं सकता। यद्यपि आचार्यश्री उस बातचीत में भाग नहीं ले रहे थे; किन्तु उस भाई के इन शब्दों ने उनका ध्यान आकृष्ट कर लिया। वे उस समय कुछ भी नहीं बोले; किन्तु उनके मन में एक उथल-पुथल अवश्य मच गई।

नैतिकता के प्रति अभिव्यक्त उस निराशा से आचार्यश्री को एक प्रेरणा मिली। वे वहाँ से उठकर प्रभात-कालीन प्रवचन के लिए सभा

---

1. Is not that unlike the Jawaharalal of yesterday Mr. Nehru, to talk in terms of ethical and spiritual solutions? What you say raises visions of Mr. Nehru in search of God in the evening of his life?

Ans. If you put it that way, my answer is yes, I have changed. The emphasis on ethical and spiritual solutions is not unconscious. It is deliberate, quite deliberate. There are good reasons for it. First of all, apart from material development that is imperative, I believe that the human mind is hungry for something deeper in term of moral and spiritual development, without which all the material advance my not be worth while.

—The Mind of Mr. Nehrus p. 31

में गये। जो बात उनके मस्तिष्क में घूम रही थी; वही प्रवचन में उद्दाम धारा बनकर फूट पड़ी। उन्होंने नैतिकता को पुष्ट करते हुए मेघ-मन्द्र स्वर में पच्चीस ऐसे व्यक्तियों की मांग की जो नैतिकता के विरुद्ध अपनी शक्ति लगा सकें और हर सम्भावित खतरे को झेल सकें। उस मांग के साथ ही वातावरण में एक गम्भीरता छा गई। उपस्थित व्यक्ति आचार्यश्री के आह्वान और अपने आत्म-बल को तौलने लगे। मनो-मन्थन का वह एक अद्भुत दृश्य था। सहसा सभा में से कुछ व्यक्ति खड़े हुए और उन्होंने अपने नाम प्रस्तुत किये। वातावरण उल्लास से भर गया। एक-एक कर पच्चीस नाम आचार्यश्री के पास आ गये। सभा-समाप्ति के अनन्तर भी वह ध्वनि लोगों के मन में गूँजती रही। राजस्थान के 'छापर' नामक उस छोटे-से कस्बे का घर-घर उस दिन चर्चा-स्थल बन गया। उस दिन की वह छोटी-सी घटना ही अणुव्रत-आन्दोलन की नींव के लिए प्रथम ईंट बन गई।

रूपरेखा

उस समय यह कल्पना भी नहीं की गई थी कि यह घटना आगे चलकर एक आन्दोलन का रूप ले लेगी और जनता द्वारा उसका इतना स्वागत होगा। प्रारम्भ में केवल यही भावना थी कि जो लोग प्रतिदिन सम्पर्क में आते हैं, उनका नैतिकता के प्रति दृष्टिकोण बदले। वे धर्म को केवल उपासना का तत्त्व ही न मानें, उसे जीवन-शोधक के रूप में स्वीकार करें। जिन व्यक्तियों ने अपने नाम प्रस्तुत किये थे; उनके लिए नियम-संहिता बनाने के लिए सोचा गया। उसके स्वरूप-निर्धारण के लिए परस्पर चर्चाएँ चलने लगीं। आचार्यश्री ने मुनिश्री नगराजजी को यह कार्य सौंपा। उन्होंने व्रतों की रूपरेखा बनाई और आचार्यश्री के सम्मुख प्रस्तुत की। राजलदेसर में मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर 'आदर्श-श्रावक-संघ' के रूप में यह योजना जनता के सम्मुख रखी गई।

चिन्तन फिर आगे बढ़ा और कल्पना हुई कि अनैतिकता की समस्या केवल श्रावक-वर्ग में ही नहीं है। वह तो हर धर्म के व्यक्तियों में समायी हुई है। क्यों न इस योजना के लक्ष्य को विस्तृत कर सबके लिए एक सामान्य नियम-संहिता प्रस्तुत की जाये। आखिर उस चिन्तन के आधार पर नियमावली को फिर विकसित किया गया। फलस्वरूप सर्वसाधारण के लिए एक रूपरेखा निर्धारित हुई और वि०सं० २००५ में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को सरदारशहर (राजस्थान) में आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया।

पूर्व-भूमिका

आन्दोलन-प्रवर्तन से पूर्व भी आचार्यश्री नैतिकता के विषय में अनेक प्रयोग करते रहे थे, परन्तु उस समय तक उनका लक्ष्य केवल श्रावक-वर्ग ही था। 'नव सूत्री योजना'[1] और 'तेरह सूत्री योजना'[2] के द्वारा

---

१. (१) आत्म हत्या करने का त्याग (२) मद्य आदि मादक वस्तुओं के सेवन का त्याग (३) मांस और अण्डा खाने का त्याग (४) बड़ी चोरी करने का त्याग (५) जूआ खेलने का त्याग (६) पर-स्त्री गमन और अप्राकृतिक मैथुन का त्याग (७) झूठा मामला और असत्य साक्षी का त्याग (८) मिलावट व नकली को असली बताकर बेचने का त्याग (९) तौल-माप में कमी-बेशी करने का त्याग।

२. (१) निरपराध चलते-फिरते जीवों को जान-बूझकर न मारना (२) आत्म-हत्या न करना (३) मद्य न पीना (४) मांस न खाना (५) चोरी न करना (६) जूआ न खेलना (७) झूठी साक्षी न देना (८) द्वेष या लोभवश आग न लगाना (९) पर-स्त्री गमन और अप्राकृतिक मैथुन न करना (१०) वेश्या-गमन न करना (११) धूम्र-पान व नशा न करना (१२) रात्रि-भोजन न करना (१३) साधु के निमित्त भोजन न बनाना।

लगभग तीस हजार व्यक्तियों को नैतिक उद्बोधन मिल चुका था। उन व्यक्तियों ने उन योजनाओं के व्रतों को स्वीकार कर अणुव्रत-आन्दोलन के लिए एक सुदृढ़ भूमिका तैयार कर दी थी।

नामकरण

प्रारम्भ में अणुव्रत-आन्दोलन का नाम 'अणुव्रती-संघ' रखा गया था। 'अणुव्रत' शब्द जैन परम्परा से लिया गया है। मनुष्य के जागरित विवेक का निर्णय जब संयम का रूप ग्रहण करता है; तब वह व्रत कहलाता है। वह अपनी पूर्णता की सीमा में महाव्रत कहलाता है और अपूर्णता की स्थिति में अणुव्रत। एक संयम की उच्चतम स्थिति है; तो दूसरी न्यूनतम। पूर्ण संयम में रहना कठिन साधना है; तो पूर्ण असंयम में रहना सर्वथा अहितकर। दोनों अतियों के मध्य का मार्ग है—अणुव्रत। अणुव्रत नियमों का पालन करने वाले व्यक्तियों के संगठन का नाम रखा गया—'अणुव्रती-संघ'।

जनता ने इस आन्दोलन का अच्छा स्वागत किया। हजारों व्यक्ति अणुव्रती बने, लाखों ने उसका समर्थन किया और उसकी आवाज तो करोड़ों तक पहुँची। बम्बई में हुए पंचम अधिवेशन तक अणुव्रतियों के नाम की सूची रखी जाती रही, परन्तु फिर क्रमशः बढ़ती हुई संख्या की सुव्यवस्था रखने में शक्ति लगाने का विचार छोड़ दिया गया। संख्या का लोभ पहले भी नहीं रखा गया था, केवल भावना-प्रसार के रूप में ही जनता उसमें भाग ले; यही अभीष्ट माना गया। वहाँ अनेक नियमों में परिवर्तन किया गया। नाम के विषय में भी सुझाव आया कि 'संघ' शब्द सीमा को संकुचित करता है; जबकि 'आन्दोलन' शब्द अपेक्षाकृत मुक्त भावना का द्योतक है। सुझाव ठीक ही था; अतः मान लिया गया। तभी से इसका नाम 'अणुव्रत-आन्दोलन' कर दिया गया।

व्रतों का स्वरूप-निर्णय

आन्दोलन के प्रारम्भिक समय तक आचार्यश्री तथा मुनिजन बहुलांश

से राजस्थान के सम्पर्क में ही रहे थे। नियमावली बनाते समय यहाँ के गुण-दोष स्पष्ट रूप से सामने आ सके, अतः यहाँ की जीवन-यापन पद्धति को आधार मानकर ही व्रतों का स्वरूप-निर्धारण किया गया था। पहले-पहल व्रतों की संख्या चौरासी थी। आन्दोलन की ज्यों-ज्यों व्यापकता होती गई, त्यों-त्यों देश तथा विदेश के व्यक्तियों की प्रतिक्रियाएं सामने आने लगीं।

सुप्रसिद्ध विचारक भाई किशोरलाल मशरूवाला ने आन्दोलन के प्रयास को प्रशंसनीय बताते हुए कुछ बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उन्हें लगा कि अन्य व्रत तो असाम्प्रदायिक हैं, परन्तु अहिंसा-व्रत पर जैन पंथ की पूरी छाप है। उन्होंने उदाहरण के रूप में मांसाहार और रेशमी-वस्त्रों के विषय में लिखा है कि जैनों और वैष्णवों की एक छोटी-सी संख्या के अतिरिक्त देश या विदेश के अधिकांश व्यक्ति मांसाहार के नियम निभाने की स्थिति में नहीं होंगे। इसी प्रकार रेशम के लिए व्रत बना, तो मोती के लिए क्यों नहीं बना? रेशम के समान उसमें भी छोटे जीवों की हिंसा होती है।[1]

इस पर चिन्तन चला तो यह निष्कर्ष सामने आया कि मांसाहार यद्यपि मानव-जाति में बहुत व्यापक रूप से प्रचलित है, फिर भी यह विषय पुनर्विचार की अपेक्षा रखता है। जैनों और वैष्णवों ने इसका बहुत समय पूर्व से बहिष्कार कर रखा है, परन्तु आज वह केवल धार्मिक प्रश्न ही नहीं रह गया है। उसमें बहुत सारे वैज्ञानिक तथ्य भी हैं। शरीर-शास्त्रियों की मान्यता भी यही बनती जा रही है कि मांस मनुष्य के लिए खाद्य नहीं है। शाकाहार का समर्थन करने वाले व्यक्ति आज प्रायः हर देश में मिल जाते हैं, अतः इसमें किसी पंथ के दृष्टिकोण को महत्त्व देने या न देने का प्रश्न नहीं है। आचार्यश्री का चिन्तन रहा है कि निरामिषता का अधिक विकास होना चाहिए। साथ ही आमिष-भोजियों को अणुव्रत में स्थान न हो, यह भी अभीष्ट नहीं माना गया,

---

1. हरिजन सेवक, १० मार्च, १९५०

अतः प्रवेशक-अणुव्रती के व्रतों में वह व्रत न रखकर मूल अणुव्रतियों के व्रतों में रख दिया गया। इससे उनकी साधना को क्रमिक विकास का अवसर मिलेगा।

मोती में यद्यपि रेशम के समान ही हिंसा सन्निहित है; फिर भी उसका उपयोग रेशम के समान व्याप्त नहीं है। स्वल्प जनों से सम्बद्ध होने के कारण फिलहाल एतद्विषयक नियम को आगे के चिन्तन पर छोड़ दिया गया।

सत्य-अणुव्रत के विषय में आचार्य विनोबा का अभिमत था कि सत्य अखण्ड होता है; अहिंसा की तरह उसका अणुव्रत नहीं बनाया जा सकता। इस पर भी आचार्यश्री ने चिन्तन किया। लगा कि लक्ष्य की दृष्टि से सत्य जितना अखण्ड है; उतनी ही अहिंसा भी। परन्तु साधक की साधना में जब तक पूर्णता का समावेश नहीं हो जाता; तब तक न अहिंसा की पूर्णता आ पाती है और न सत्य की। सत्य और अहिंसा अभिन्न हैं। जहाँ हिंसा है, वहाँ सत्य नहीं हो सकता। स्वरूप की दृष्टि से इनकी अखण्डता को मान्य करते हुए भी आचार-साधना के क्रमिक विकास की दृष्टि से इनके खण्ड भी आवश्यक माने गए हैं।

जापान के कुछ व्यक्तियों की प्रतिक्रिया थी कि इनमें से कुछ नियमों को छोड़कर शेष नियमों का हमारे देश के लिए कोई उपयोग नहीं। वे सब भारतीय जीवन को दृष्टि में रखकर ही बनाये गये प्रतीत होते हैं। उन लोगों की यह बात कुछ अंशों में ठीक ही थी; क्योंकि स्थानीय परिस्थितियों का प्रभाव रहना स्वाभाविक ही है। पर आचार्यश्री को देशी और विदेशी का कोई भेद अभीप्सित नहीं रहा है।

इस प्रकार की अनेक प्रतिक्रियाओं तथा सुझावों के प्रकाश में नियमावली को फिर से संशोधित करने का निश्चय किया गया। इस बार के संशोधनों में यह बात मुख्यता से ध्यान में रखी गई कि असत्य की मूल प्रवृत्तियाँ सर्वत्र समान होती हैं; उपभेदों में भले ही अन्तर पाया जाये। इसलिए नियमावली मूल प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण स्थापित करने के

लिए ही बनाई गई। शेष नियम देश-कालानुसार स्वयं निर्धारित करने के लिए छोड़ दिये गए। इस क्रम से नियमों की संख्या घटकर केवल चमालीस रह गई।

तीन श्रेणियाँ

प्रथम रूप-रेखा में अणुव्रतियों की कोई श्रेणी नहीं थी। संशोधन के फलस्वरूप उनकी तीन श्रेणियाँ निश्चित की गईं—(१) प्रवेशक अणुव्रती, (२) अणुव्रती और (३) विशिष्ट अणुव्रती। ये श्रेणियाँ किसी पद की प्रतीक नहीं हैं; अपितु क्रमिक अभ्यास की प्रगति-सूचक सीढ़ियाँ हैं। प्रवेशक अणुव्रती के लिए ग्यारह नियम अथवा वर्गीय नियम हैं। अणुव्रती के लिए चमालीस और विशिष्ट अणुव्रती के लिए उन चमालीस नियमों के साथ-साथ छः नियम और हैं। इस प्रकार व्रतों के स्वरूप और श्रेणियों का जो निर्णय किया गया, वह कई परिवर्तनों के बाद की स्थिति है।

असाम्प्रदायिक रूप

आन्दोलन का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही असाम्प्रदायिक रहा है। यह विशुद्ध रूप से चरित्र-विकास की दृष्टि लेकर चला है और इसी उद्देश्य की पूर्ति में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देना चाहता है। सब धर्मों की समान भूमिका पर रहकर कार्य करते रहना ही इसने अपना श्रेयोमार्ग चुना है। परन्तु प्रारम्भ में लोगों को यह विश्वास नहीं हो पा रहा था कि सम्प्रदाय-विशेष का एक आचार्य इतना उदार बनकर सब धर्मों की समन्वयात्मकता के आधार पर कोई आन्दोलन चला सकता है। उस समय यह प्रश्न बार-बार आचार्यश्री के सामने आता रहता था कि अणुव्रती बनने पर क्या हमें आपको धर्म गुरु मानना होगा? दिल्ली में एक भाई ने यही प्रश्न सभा में खड़े होकर पूछा था। आचार्यश्री ने कहा—"यह कोई आवश्यक नहीं है। आपके लिए केवल आन्दोलन के व्रतों का पालन करना ही आवश्यक है। कौनसे धर्म को मानते हैं,

किसको धर्म गुरु मानते हैं, अथवा किसी धर्म को मानते भी हैं या नहीं, इन सब बातों में अपने विचार और प्रवृत्ति को यथापूर्व रखने में आप स्वतन्त्र हैं। आन्दोलन उसमें बाधक नहीं बनता।"

जनता ज्यों-ज्यों सम्पर्क में आती गई, त्यों-त्यों साम्प्रदायिकता का भय अपने-आप दूर होता गया। धीरे-धीरे उसमें सभी तबकों के मनुष्य सम्मिलित होने लगे। हिन्दू, सिक्ख, मुसलमान और ईसाई आदि सब धर्मों को इसमें अपने ही सिद्धान्त प्रतिबिम्बित हुए लगने लगे।

सर्वदलीय

आचार्यश्री ने इस आन्दोलन में राजनैतिक सम्प्रदायों का भी समन्वय किया है। वे इसे किसी भी राजनैतिक पार्टी का पिछलग्गू नहीं बना देना चाहते। समय-समय पर प्रायः अनेक राजनैतिक दलों के लोग आन्दोलन के कार्यक्रमों में सम्मिलित होते रहे हैं। उनके पारस्परिक मतभेद कुछ भी क्यों न रहते हों, किन्तु चरित्र-विशुद्धि की आवश्यकता तो वे सब समान रूप से ही समझते हैं।

सन् १९५६ में चुनावों की तैयारियाँ हो रही थीं; तब आचार्यश्री भी दिल्ली में ही थे। आम चुनावों में अनैतिक और अनुचित प्रवृत्तियों का समावेश न हो; इस लक्ष्य से आचार्यश्री के सान्निध्य में एक सभा का आयोजन किया गया। उसमें चुनाव-मुख्यायुक्त श्री सुकुमार सेन, कांग्रेस अध्यक्ष श्री उ० न० ढेबर, साम्यवादी नेता श्री अ० क० गोपालन, प्रजा समाजवादी नेता श्री जे० बी० कृपलानी आदि देश के प्रमुख राजनीतिज्ञ सम्मिलित हुए थे। सभी ने आन्दोलन के व्रतों को क्रियान्वित करने का विश्वास दिलाया था। इस भूमिका में आन्दोलन को निर्दलीय अथवा सर्वदलीय कहा जा सकता है।

सहयोगी भाव

असम्प्रदाय-भावना ने अणुव्रत-आन्दोलन को सबके साथ मिलकर

तथा सबका सहयोग लेकर सामूहिक रूप से कार्य करने का सामर्थ्य प्रदान किया है। व्यक्ति अकेला किसी ऐसी बुराई का; जो सर्व-साधारण में अव्याहत रूप से फैल चुकी हो; सामना करने में अपने-आप को असमर्थ पाता है। परन्तु जब समान उद्देश्य के अनेक व्यक्ति उस बुराई के विरुद्ध खड़े होते हैं तो उसमें भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने में एक विशेष सामर्थ्य का अनुभव होने लगता है। जब बुराई अनेक व्यक्तियों का सामूहिक सहयोग पाकर प्रबल बन जाती है तो अच्छाई को भी अनेक व्यक्तियों के सामूहिक सहयोग से प्रबल बनाना चाहिए। एक अच्छा व्यक्ति अनेक बुरे व्यक्तियों से श्रेष्ठ अवश्य होता है, पर जीवन-व्यवहार में निभ तभी सकता है; जबकि अनेक अच्छे व्यक्ति उसकी जीवन-यापन-पद्धति के पोषक तथा सहायक हो।

आचार्यश्री सभी दलों तथा व्यक्तियों का सहयोग इसीलिए अभीष्ट मानते हैं कि उससे धार्मिक तथा नैतिक जीवन व्यतीत करने की कामना रखने वाले व्यक्तियों को एकरूपता प्रदान की जा सके और उससे अधार्मिकता और अनैतिकता के वर्तमान प्रभाव को नष्ट किया जा सके। आचार्यश्री ने एक बार कहा था कि जब चोर आदि दुर्गुणी व्यक्ति सम्मिलित होकर काम कर सकते हैं तो अच्छा उद्देश्य रखने वाले दल सम्मिलित होकर काम क्यों नहीं कर सकते? इस कथन से सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने कहा—"मैं सर्वोदय-कार्यकर्ताओं के सम्मुख चर्चा करूँगा कि ऐसे समान उद्देश्यों के कार्यों में परस्पर सहयोगी बनें।"

प्रथम अधिवेशन

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रथम वार्षिक अधिवेशन भारत की राजधानी दिल्ली में हुआ था। यद्यपि आन्दोलन-प्रसार की दिशाएँ जयपुर से ही उन्मुक्त होने लगी थीं; पर सार्वजनिक रूप उसे दिल्ली में मिला। वह आचार्यश्री का दिल्ली में प्रथम बार पदार्पण था। आन्दोलन नया-

गया ही था। परिस्थितियाँ कोई अधिक अनुकूल नहीं थीं। अविश्वास, सन्देह और विरोध की मिली-जुली भावनाओं का सामना करना पड़ रहा था। फिर भी आचार्यश्री ने अपनी बात पूरे बल के साथ जनता में रखी। पहले-पहल शिक्षित-वर्ग ने उनकी बातों को उपेक्षा व उपहास की दृष्टि से देखा, पर उनकी आवाज समय की आवाज थी। उसकी उपेक्षा भी नहीं जा सकती थी। उनकी बातों ने धीरे धीरे जनता के मन को छुआ और आन्दोलन के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा।

कुछ दिन बाद वार्षिक अधिवेशन का आयोजन हुआ। दिल्ली-नगरपालिका-भवन के पीछे के मैदान में हजारों व्यक्ति एकत्रित हुए। वातावरण में एक उल्लास था। दिल्ली के नागरिकों ने एक आशा भरे दृष्टिकोण से अधिवेशन की कार्यवाही को देखा। नगर के सार्वजनिक कार्यकर्त्ता, साहित्यकार तथा पत्रकार आदि भी अच्छी संख्या में उपस्थित थे।

कार्य प्रारम्भ हुआ। कुछ भाषण हुए। प्रथम वर्ष की रिपोर्ट सुनाई गई। उसके पश्चात् व्रत स्वीकार कराये गए। आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों में जहाँ पिचहत्तर व्यक्ति थे; वहाँ प्रथम अधिवेशन के समय छ-सौपच्चीस व्यक्तियों ने व्रत ग्रहण किये। उपस्थित जनता के लिए यह एक अपूर्व बात थी। अधिवेशन का यही सबसे बड़ा आकर्षण था। उससे देश में नैतिक क्रान्ति के बीज अंकुरित होने का स्वप्न आकार ग्रहण करता हुआ दिखाई देने लगा। चारों ओर चलने वाली अनैतिकता में खड़े होकर कुछ व्यक्ति यह संकल्प करें कि वे किसी प्रकार का अनैतिक कार्य नहीं करेंगे; तो वह एक अघटनीय घटना ही लग सकती है। अनैतिक वातावरण में मनुष्य जहाँ स्वार्थ को ही प्रमुख मानकर चलता है, परमार्थ को भूलकर भी याद नहीं करता; वहाँ कुछ व्यक्तियों का अणुव्रती बनना एक नया उन्मेष था।

पत्रों की प्रतिक्रिया

पत्रकारों पर उस घटना का बहुत ही अनुकूल प्रभाव हुआ। देश

के प्राय सभी दैनिक पत्रों ने बड़े-बड़े शीर्षकों से उन समाचारों को प्रकाशित किया। अनेक दैनिक पत्रो में एतद्-विषयक सम्पादकीय लेख भी लिखे गए। हिन्दुस्तान टाइम्स (नई दिल्ली) ने अपने साप्ताहिक-संस्करण मे लिखा—"चमत्कार का युग अभी समाप्त नही हुआ, एक किरण दीख पड़ी है। ... जब अनुचित रूप से कमाये गये पैसे पर फूलने-फलने वाले व्यापारी एकत्रित होकर सच्चाई से जीवन बिताने का आन्दोलन शुरू करते है; तब कौन उनसे प्रभावित नहीं होगा। ... " उन्होंने यह सत्प्रतिज्ञा आचार्यश्री तुलसी के सामने अणुव्रती-सघ के पहले वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर ग्रहण की है। ... आचार्य तुलसी जो कि इस सगठन या आन्दोलन के दिमाग हैं, राजपूताना के रेतीले मैदानो को पार करके दिल्ली की पक्की सड़को पर आये है।"

हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड (कलकत्ता) ने २ मई, ५० को अणुव्रती सघ का स्वागत करते हुए लिखा था—" इस देश मे व्यापार-व्यवसाय मे मिथ्या जोरों पर है। यह भय है कि कही उससे समाज के जीवन का सारा नैतिक ढांचा ही नष्ट न हो जाये, इसलिए कुछ व्यापारियों का यह आन्दोलन कि वे व्यापार-व्यवसाय मे मिथ्या आचार न करेंगे, देश मे स्वस्थ व्यापार-व्यवसाय को जन्म दे सकेगा। इस दिशा मे अणुव्रती-सघ के आचार्यश्री तुलसी ने जो पहल की है; उसके लिए वे बधाई के अधिकारी हैं।"

कलकत्ता के सुप्रसिद्ध बगला दैनिक आनन्द बाजार पत्रिका ने 'नूतन सतयुग' शीर्षक से लिखा था—"तो क्या कलियुग का अवसान हो गया है! क्या सतयुग प्रकट होने को है ? नई दिल्ली, ३० अप्रेल का एक समाचार है कि मारवाड़ी समाज के कितने ही लखपति और करोड़पति लोगों ने यह प्रतिज्ञा की है कि वे कभी चोरबाजारी नहीं करेंगे। इसके प्रेरक हैं आचार्यश्री तुलसी; जिन्होने मानव-जाति की समस्त बुराइयों को दूर करने के लिए एक आन्दोलन प्रारम्भ किया है। उसी के समर्थन में ये प्रतिज्ञाएँ की गई हैं। हम आचार्यश्री तुलसी से सविनय अनुरोध करना चाहते हैं कि वे कलकत्ता नगरी मे पधारने की कृपा करें।"

'हरिजन-सेवक' के हिन्दी, अंग्रेजी व गुजराती-संस्करणों में श्री किशोरलाल मश्रुवाला ने संघ के व्रतों की विवेचना करते हुए सम्पादकीय में लिखा था—"अणुव्रत का अर्थ है—प्रत्येक व्रत का अणु से लेकर क्रमशः बढ़ता हुआ पालन। उदाहरण के लिए, कोई आदमी जो अहिंसा और अपरिग्रह में विश्वास तो रखता है, लेकिन उनके अनुसार चलने की ताकत अपने में नहीं पाता, वह इस पद्धति का आश्रय लेकर किसी विशेष हिंसा से दूर रहने या एक हद के बाहर और किसी खास ढंग से संग्रह न करने का संकल्प करेगा और धीरे-धीरे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ेगा। ऐसे व्रत अणुव्रत कहलाते हैं।"

इस प्रकार आन्दोलन की प्रतिध्वनि समस्त देश में हुई। कदाचित् विदेशी पत्रों में भी इस विषय में लिखा गया। न्यूयार्क के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'टाइम' (१५ मई १९५०) में यह संवाद प्रकाशित हुआ—"अन्य अनेक स्थानों के वृद्ध व्यक्तियों की तरह एक दुबला-पतला, ठिगना, चमकती आंखों वाला भारतीय संसार की वर्तमान स्थिति के प्रति अत्यन्त चिन्तित है। चौंतीस वर्ष की आयु का यह आचार्य तुलसी है, जो जैन तेरापंथ-समाज का आचार्य है। यह अहिंसा में विश्वास करने वाला धार्मिक समुदाय है। आचार्य तुलसी ने १९४९ में अणुव्रती-संघ की स्थापना की थी। ... अब समस्त भारत को व्रती बना चुके हैं; तब शेष संसार को व्रती बनाने की उनकी योजना है।"

देशी और विदेशी पत्रों में होने वाली उस प्रतिक्रिया से ऐसा लगता है कि मानो ऐसे किसी आन्दोलन के लिए मानव-समाज भूखा और प्यासा बैठा था। प्रथम अधिवेशन पर उसका यह स्वागत आशातीत और कल्पनातीत था।

आशावादी दृष्टियां

आन्दोलन का लक्ष्य पवित्र है, कार्य निष्काम है, अतः उसमें सबकी व्यक्ति की सहमति ही हो सकती है। अब देश के नागरिकों की तरफ-

शक्ति जागृत होती है; तब मन में अध्यात्म का एक अंकुर प्रस्फुटित होता है। आन्दोलन के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के उद्गार इस बात के साक्षी हैं। उनमें से कुछ ऐसे व्यक्तियों के उद्गार यहां दिये जा रहे है; जिनका राष्ट्रव्यापी प्रभाव है तथा जो किसी भी प्रकार के दबाव से अप्रभावित रहकर चिन्तन करने की क्षमता रखते है।

राष्ट्रपति-भवन में एक विशेष समारोह पर बोलते हुए राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा है—"पिछले कई वर्षों से अणुव्रत-आन्दोलन के साथ मेरा परिचय रहा है। शुरूआत में जब कार्य थोड़ा आगे बढ़ा था; मैंने इसका स्वागत किया और अपने विचार बतलाये। जो काम आज तक हुआ है; वह सराहनीय है। मैं चाहूंगा इसका काम देश के सभी वर्गों में फैले, जिससे सब इससे लाभान्वित हो सकें। इस आन्दोलन से हम दूसरों की भलाई करते हैं, इतना ही नहीं, अपने जीवन को भी शुद्ध करते हैं, अपने जीवन को बनाते हैं। संयम की जिन्दगी सबसे अच्छी जिन्दगी है। इसीलिए हम चाहते हैं कि सब वर्गों में इसका प्रचार हो। सबको इसके लिए प्रोत्साहित किया जाये[1]।"

उपराष्ट्रपति डॉ०राधाकृष्णन् ने अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में लिखा है—"हम ऐसे युग में रह रहे हैं; जब हमारा जीवात्मा सोया हुआ है। आत्म-बल का अकाल है और प्रमाद का राज्य है। हमारे युवक तेजी से भौतिकवाद की ओर झुकते चले जा रहे हैं। इस समय किसी भी ऐसे आन्दोलन का स्वागत हो सकता है, जो आत्म-बल की ओर ले जाने वाला हो। इस समय हमारे देश में अणुव्रत-आन्दोलन ही एक ऐसा आन्दोलन है, जो इस कार्य को कर रहा है। यह काम ऐसा है कि इसको सब तरफ से बढ़ावा मिलना चाहिए[2]।"

प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा है—"हमें अपने देश का

१. नव निर्माण की पुकार, पृ० ८३
२. अणुव्रत-आन्दोलन

मकान बनाना है। उसकी बुनियाद गहरी होनी चाहिए। बुनियाद यदि रेत की होगी तो ज्यों ही रेत बह जायेगी; मकान भी बह जायेगा। गहरी बुनियाद चरित्र की होती है। देश में जो काम हम करते हैं; वे बहुत लम्बे-चौड़े हैं। इन सबकी बुनियाद चरित्र है। इसे लेकर बहुत अच्छा काम अणुव्रत-आन्दोलन में हो रहा है। मैं मानता हूं, इस काम की जितनी तरक्की हो; उतना ही अच्छा है। इसलिए मैं अणुव्रत-आन्दोलन की पूरी तरक्की चाहता हूं[1]।"

अणुव्रत-सेमिनार में उद्घाटन-भाषण करते हुए यूनेस्को के डायरेक्टर-जनरल डॉ० लूथर इवान्स ने कहा—"हम लोग यूनेस्को के द्वारा शान्ति के अनुकूल वातावरण बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। इधर अणुव्रत-आन्दोलन भी प्रशंसनीय काम कर रहा है। यह बड़ी खुशी की बात है। मैं इसकी सफलता चाहता हूं। आपका यह सत्कार्य संसार में फैले और शान्ति का मार्ग-दर्शन करे[2]।"

राष्ट्र के सुप्रसिद्ध विचारक काका कालेलकर ने कहा है—"श्रमण और भिक्षु शान्ति-सेना के सैनिक हैं। नैतिक प्रचार और प्रसार के लिए उन्होंने जीवन को जगाया है, यह उचित है। अणुव्रत-आन्दोलन में नैतिक विचार-क्रान्ति के साथ-साथ बौद्धिक अहिंसा पर भी बल दिया गया है। यह इसकी अपनी विशेषता है[3]।"

श्री राजगोपालाचार्य ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"मेरी राय में यह जनता के नैतिक एवं सांस्कृतिक उद्धार की दिशा में पहला कदम है।"

आचार्य जे० बी० कृपलानी ने अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में अपने भाव यों व्यक्त किये हैं—"... मैं मानता हूं कि व्रतों के बिना दुनिया

१. अणुव्रत जीवन-दर्शन
२. नव निर्माण की पुकार, पृ० ३४
३. नव निर्माण की पुकार, पृ० ६०

चल नहीं सकती। व्रतों को त्यागने से सर्वनाश हो जाता है। मैं व्यक्ति-सुधार में विश्वास नहीं रखता। सामूहिक सुधार को सत्य मानकर चलता हूँ। व्यक्ति-सुधार की प्रक्रिया में वह वेग और उत्साह नहीं रहता; जितना सामूहिक सुधार में रहता है। इसके तात्कालिक परिणाम भी लोगों को आकृष्ट कर लेते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा में मार्गसूचक बने; ऐसी मेरी भावना है[1]।"

हिन्दी-जगत् के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार के विचार इस प्रकार हैं—"सिद्धान्त की कसौटी व्यवहार है, जो व्यवहार पर खरा सिद्ध नहीं होता; वह सिद्धान्त कैसा ? मुझे यह कहते प्रसन्नता है कि महाव्रत का मार्ग जगत् से एकदम निरपेक्ष नहीं है, अणुव्रत उसका उदाहरण है। व्रत जीवन में किनारे जैसे हैं। यदि नदी के किनारे न हों; तो उसका पानी रेगिस्तान में भूल जाये। किनारे नदी को बाँधने-वाले नहीं होने चाहिए, वे उसको मर्यादा में रखने वाले होने चाहिए। ऐसे ही वे किनारे जीवन-चैतन्य को विकास देने वाले और दिशा देने वाले हो सकते हैं[2]।"

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के भूतपूर्व महामन्त्री श्री श्रीमन्नारायण ने अपनी भावना यों व्यक्त की है—"अणुव्रत-आन्दोलन की जब से मुझे जानकारी हुई है; तभी से मैं इसका प्रशंसक रहा हूँ। इसके सम्बन्ध में मेरा आकर्षण इसलिए हुआ कि यह आन्दोलन जीवन की छोटी-छोटी बातों पर भी विशेष ध्यान देता है। बड़ी बातें करने वाले बहुत हैं; किन्तु छोटी बातों को महत्त्व देने वाले कम होते हैं।

यह आन्दोलन क्रमिक विकास को महत्त्व देता है; यह इसकी विशेषता है। एक साथ लक्ष्य पर नहीं पहुँचा जा सकता, एक-एक कदम आगे बढ़ा जा सकता है[3]।"

१. नव निर्माण की पुकार, पृ० ४२
२. नव निर्माण की पुकार, पृ० २२
३. नव निर्माण की पुकार, पृ० २१

संसद्-सदस्या श्रीमती सुचेता कृपलानी ने कहा है—"अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है। जब कार्य और कारण दोनों शुद्ध होते हैं, तब परिणाम भी शुद्ध होता है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक का व उनके साथी साधुओं का जीवन शुद्ध है। अणुव्रतों का कार्यक्रम भी पवित्र है, इसलिए इनके कहने का असर पड़ता है।

अणुव्रत-आन्दोलन के व्रत सार्वजनीन हैं। प्रत्येक वर्ग के लिए इसमें व्रत रखे गए हैं। यह इसकी अपनी विशेषता है। व्रतों की भाषा सरल व स्वाभाविक है। अहिंसा आदि व्रतों का विवेचन सामयिक व युगानुकूल है। अहिंसा की व्याख्या व व्रतों में शब्दों का संकलन मुझे बहुत ही भावोत्पादक लगा। कहा गया है—जीव को मारना या पीड़ा पहुँचाना तो हिंसा है ही, किन्तु मानसिक असहिष्णुता भी हिंसा है। अधिकारों का दुरुपयोग भी हिंसा है। कम पैसों से अधिक श्रम लेना भी हिंसा है, आदि-आदि। इसी प्रकार सभी व्रत जीवन को छूते हैं। अणुव्रतियों का जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। मुझ पर आन्दोलन का काफी असर है। आचार्यजी का सत्-प्रयास सफल हो; यह मेरी कामना है[1]।'

उपर्युक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं; जो अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में बहुत श्रद्धाशील और आशावादी हैं। उन सबके उद्‌गारों का संकलन एक पृथक् पुस्तक का विषय हो सकता है। यहाँ उन सबका उल्लेख सम्भव नहीं है।

सन्देह और समाधान

आन्दोलन के विषय में जहाँ अनेक व्यक्ति आशावादी हैं; वहाँ कुछ व्यक्तियों को तद्-विषयक नाना सन्देह भी हैं। किसी भी विषय में सन्देहों का होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वे बात को अधिक गहराई में जाँचने की प्रेरणा ही देते हैं। सावधान भी करते

१ नव निर्माण की पुकार, पृ० २३-२४

है। यहाँ आन्दोलन के विषय मे किये जाने वाले कुछ सन्देहो का प्रश्नोत्तर रूप से संक्षेप मे समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. प्रश्न—भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध और महात्मा गाँधी जैसे व्यक्ति भी जब विश्व को नैतिकता के ढाँचे मे नही ढाल सके तो आचार्यश्री यह कार्य कैसे कर सकेंगे?

उत्तर—समूचे विश्व को नैतिक बना देना किसी के लिए सम्भव नही है। नैतिकता का इतिहास जितना पुराना है, उतना ही अनैतिकता का भी। हर युग मे इन दोनो का परस्पर संघर्ष चलता रहा है। संसार के रग-मच पर कभी एक की प्रमुखता होती रही है तो कभी दूसरे की; पर सम्पूर्ण रूप से न कभी नैतिकता मिटी है और न ही अनैतिकता। जब-जब मानव-समाज मे नैतिकता की प्रबलता रही है, तब-तब उसका उत्थान हुआ है और जब-जब अनैतिकता की प्रबलता हुई है; तब-तब पतन। एक न्याय, मैत्री और साम्य की संवाहक बनकर शान्ति का साम्राज्य स्थापित करती है तो दूसरी अन्याय, विद्वेष और विषमता की संवाहक बनकर अशान्ति का दावानल प्रज्वलित करती है। सभी महापुरुषो का विचार रहा है कि विश्व नैतिक और आध्यात्मिक बने; किन्तु वे सब यह भी जानते रहे हैं कि यह सम्भव नही है। इसलिए वे फल की ओर से निश्चिन्त होकर केवल कार्य पर लगे रहे। उससे समाज में आध्यात्मिकता और नैतिकता का प्रामुख्य स्थापित हुआ। आचार्यश्री भी अपना पुरुषार्थ इसी दिशा में लगा रहे है। कितना क्या कुछ बनेगा; इसकी चिन्ता न वे करते हैं और न उन्हे करनी ही चाहिए।

२. प्रश्न—सारा संसार ही जब भ्रष्टाचार और दुर्व्यसनो मे फँसा है; तब चन्द मनुष्य अणुव्रती बनकर अपना सत्य कैसे निभा सकते हैं?

उत्तर—सत्य आत्मा का धर्म है। उसके लिए दूसरे का सहारा नितान्त अपेक्षित नही है। सफलता संख्या पर नही; भावना पर निर्भर है। संसार के प्रायः सभी सुधार थोड़े व्यक्तियों से ही प्रारम्भ हुए हैं। अधिक व्यक्ति तो उसके विरोध में रहे हैं; क्योकि विचारशील और

स्वार्थ त्यागी मनुष्य अपेक्षाकृत स्वल्प ही मिलते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अणुव्रतियों कि संख्या स्वल्प ही रहनी चाहिए; किन्तु यह है कि संख्या को सफलता का मापक यंत्र नहीं मानना चाहिए। अधिक व्यक्ति जिस मार्ग को चुनते हैं, वह सच्चा ही हो, यह आवश्यक नहीं है। अतः सत्य-सेवी के लिए बहुमत का महत्त्व अधिक नहीं रह जाता। उसे अपने आत्म-बल पर विश्वास रखते हुए बहु-जन-मान्य अनैतिक विषयों का सामना ही नहीं, अपितु उन पर प्रहार करने को भी उद्यत रहना चाहिए। इस प्रकार वह अपने सत्य को तो निभा ही लेता है; साथ-साथ उन अनेक व्यक्तियों को सत्य-मार्ग के लिए प्रेरित भी कर देता है; जो साथी के अभाव में अपने बल पर आगे बढ़ने से घबराते हैं।

३. प्रश्न—जिस गति से लोग अणुव्रती बन रहे हैं; वह बहुत धीमी है। इस गति से यहाँ का नैतिक दुर्भिक्ष मिट नहीं सकता। प्रतिवर्ष एक सहस्र व्यक्ति अणुव्रती बनते रहे तो भी अकेले भारत की चालीस करोड़ जनता को नैतिक बनाते लाखों वर्ष लग जायेंगे; तब आन्दोलन के पास इस समस्या का क्या हल है ?

उत्तर—यह स्वीकार किया जा सकता है कि गति बहुत धीमी है। उसे तेज करना चाहिए, किन्तु आन्दोलन गुण की निष्ठा लेकर चलता है। संख्या का महत्त्व उसमें गौण है। यदि गुण का आधिक्य हो तो औषधि की अल्प मात्रा भी जिस तरह प्रभूत परिणाम ला सकती है; उसी तरह अल्पसंख्यक गुणी व्यक्ति भी सारे समाज को प्रभावित कर सकते हैं। यह मानवीय भावना का प्रश्न है। इसे साधारण गणित के आधार पर समाहित नहीं किया जा सकता। मानवीय भावना गणित के फारमूलों से बंधकर नहीं चला करती।

हजारों व्यक्तियों की सम्मिलित भावना का जब कहीं एक स्थान पर तीव्र विस्फोट होता है, तब वह हमारी गणित की प्रक्रिया में एक के रूप में सम्मिलित किया जाता है। अवशिष्ट व्यक्ति गणना-क्षेत्र से बाहर रह जाते हैं। अणुव्रत-भावना को भी इसी आधार पर यों समझा जा

सकता है कि जब हजारों व्यक्तियों के मन पर अनीति के विरुद्ध नीति का प्रभाव होता है; तब उनमें से तीव्रतर या तीव्रतम प्रभाव वाला व्यक्ति; जो कि उन सहस्रों की भावना का एक प्रतीक समझा जा सकता है; प्रतिज्ञाबद्ध होता है। अणुव्रत-भावना से प्रभावित होते हुए भी अव-शिष्ट व्यक्ति उस संस्था से बाहर रह जाते हैं। इसलिए अणुव्रतियों की संख्या को ही अणुव्रत-भावना का विकास-क्षेत्र नहीं मान लेना चाहिए।

भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राम के अहिंसक सैनिक इस बात की सत्यता के लिए प्रमाणभूत माने जा सकते हैं। सारे भारतवासी तो क्या, पर शतांश भी उस संस्था के सदस्य नहीं थे। पर क्या इससे यह माना जा सकता है कि जितने उस संस्था के सदस्य थे; केवल उतने ही स्वतन्त्रता के पुजारी थे? अवशिष्ट व्यक्तियों को स्वतन्त्रता-संग्राम से कोई सम्बन्ध नहीं था?

इसके अतिरिक्त सारे भारत की बात सोचने से पहले यह तो हर एक व्यक्ति को मान्य होगा ही कि अभाव से तो स्वल्प-भाव अच्छा ही होता है। स्वल्प-भाव को सर्व-भाव की ओर बढ़ने में अपनी गति तीव्र करनी चाहिए; इसमें स्वयं अणुव्रत-आन्दोलन सहमत है, परन्तु सर्व-भाव न हो, तब तक के लिए अभाव ही रहना चाहिए, स्वल्प-भाव की कोई आवश्यकता नहीं है, इस बात से वह सहमत नहीं हो सकता।

४. प्रश्न—अणुव्रतों की रचना में मुख्यतः निषेधात्मक दृष्टि ही क्यों अपनाई गई है; जब कि जीवन-निर्माण में विधि-प्रधान पद्धति की आवश्यकता होती है।

उत्तर—यों तो विधि में निषेध और निषेध में विधि स्वतः गर्भित रहती ही है; फिर भी मनुष्य की आचार-संहिता में विधेय अधिक होते हैं और हेय कम। इसीलिए अपनी मर्यादा में रहकर मनुष्य को क्या-क्या करना चाहिए; इसकी लम्बी सूची बनाने से अधिक सुगम यह होता है कि उसे क्या-क्या नहीं करना चाहिए; यह बतलाया जाये।

सीमा या मर्यादा का आत्मात्मक अर्थ निषेध ही तो होता है। माता, पिता या गुरु अपने बालक को निषिद्ध वस्तु की मर्यादा ही बतलाते हैं। 'बिजली का मत छुआ करो' यह कहकर वे उसकी जो सुरक्षा कर सकते हैं, क्या वही 'कमरे की ये-ये वस्तुएं छुआ करो' कहकर कर सकते हैं ? सरकार भी विदेश से जिन-जिन व्यापारों का निषेध करना चाहती है, उन्हीं का नाम-निर्देश करती है; किन्तु जो-जो मँगाया जा सकता है, उसका सूची-पत्र प्रसारित नहीं करती। सरलता भी इसी में है।

५. प्रश्न—हर कार्य की उपलब्धि सामने आने पर ही उस पर विश्वास जमता है। अणुव्रत-आन्दोलन की कोई उपलब्धि दृष्टिगत क्यों नहीं हो रही है ?

उत्तर—भौतिक समृद्धि के लिए किये जाने वाले कार्यों से जो स्थूल उपलब्धियाँ होती हैं, वे प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं। परन्तु यह आन्दोलन उन कार्यों से सर्वथा भिन्न है। इसकी उपलब्धि किसी स्थूल पदार्थ के रूप में प्रत्यक्ष नहीं देखी जा सकती। अन्न, वस्त्र या फलों के ढेर की तरह आध्यात्मिकता, नैतिकता या हृदय-परिवर्तन का ढेर नहीं लगाया जा सकता। भौतिक और अभौतिक वस्तुओं को एक तुला पर तोलने की तो बात ही क्या की जा सकती है, जबकि भौतिक वस्तुओं में भी परस्पर अतुलनीय अन्तर होता है। पत्थर और हीरे को क्या कभी एक तराजू पर तोला जा सकता है ? अणुव्रत-आन्दोलन की उपलब्धि प्रत्यक्ष नहीं हो सकती, फिर भी उसने क्या कुछ किया है, इस बात का पता लगाने के लिए कुछ कार्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं। आन्दोलन का ध्येय हृदय-परिवर्तन के द्वारा जनता के चारित्रिक उत्थान कर रहा है। अतः उसने भ्रष्टाचार, मिलावट, झूठा तौल-माप, दहेज और रिश्वत आदि के विरुद्ध अनेक अभियान चलाये हैं। मद्यपान और धूम्रपान के विरुद्ध भी वातावरण तैयार करने का प्रयास किया है। हजारों व्यक्तियों को उपर्युक्त दुर्गुणों से दूर कर देना आत्म-शुद्धि के क्षेत्र में जहाँ एक महत्त्वपूर्ण कार्य है; वहाँ जन-साधारण की दृष्टि में आने वाली आन्दोलन की एक

महत्त्वपूर्ण उपलब्धि भी है। परन्तु आन्दोलन इस उपलब्धि की अपेक्षा उस सूक्ष्म उपलब्धि को अधिक महत्त्व देता है; जिससे कि जन-मानस में अध्यात्म का बीज-वपन होता है।

आन्दोलन की आवाज

अणुव्रत-आन्दोलन की आवाज तालाब में उठने वाली उस लहर की तरह है, जो कि धीरे-धीरे आगे बढ़ती और फैलती जाती है। आज जितने व्यक्ति इससे परिचित हैं, वे सब धीरे-धीरे ही इसके सम्पर्क में आये हैं। प्रारम्भ काल में बहुत से लोग इसे एक साम्प्रदायिक आन्दोलन मानते रहे थे। आचार्यश्री को अनेक बार एतद्-विषयक स्पष्टीकरण करना पड़ता था। फिर भी सबके मस्तिष्क में यह बात कठिनता से ही बैठ पा रही थी। आचार्यश्री यथाशीघ्र इस अविश्वसनीय स्थिति को मिटा देना चाहते थे। वे यह अच्छी तरह से जानते थे कि जब तक यह स्थिति मिट नहीं जाती; तब तक आन्दोलन गति नहीं पकड़ सकता।

वे इस विषय में दूसरों के सुझाव लेने में भी उदार रहे हैं। जयपुर में डॉ० राजेन्द्रप्रसाद आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। वे उन दिनों भारतीय विधान-परिषद् के अध्यक्ष थे। आचार्यश्री ने उनके सामने अणुव्रत-आन्दोलन की रूपरेखा और कार्यक्रम रखा तो उन्होंने कहा कि देश को ऐसे आन्दोलन की इस समय बहुत आवश्यकता है। इसका प्रचार तीव्र गति से होना चाहिए।

आचार्यश्री ने तब निःसंकोच भाव से अपनी समस्या रखते हुए कहा था कि हम भी यही चाहते हैं, परन्तु इसमें बाधा यह है कि लोग अभी तक इसको साम्प्रदायिक दृष्टि से देखते हैं। इससे प्रसार होने में बहुत बाधाएँ आती हैं।

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा कि आन्दोलन यदि असाम्प्रदायिक भाव से कार्य करता रहेगा तो ज्यों-ज्यों लोग सम्पर्क में आयेंगे; त्यों-त्यों यह दृष्टिकोण अपने आप मिट जायेगा। बात भी यही हुई। आज प्रायः सभी

व्यक्ति यह जानने लगे हैं कि अणुव्रत-आन्दोलन का नारा सम्प्रदाय-मत से प्रभावित नहीं है। राष्ट्रपति बनने के बाद डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने आन्दोलन की इस सफलता को महत्त्वपूर्ण मानते हुए लिखा था—"मुझे सबसे अधिक प्रसन्नता तो इस बात से है कि देश में इस आन्दोलन ने सार्वजनिक रूप ले लिया है। मैं समझता हूँ कि अब लोगों में ये भावनाएं नहीं रह गई हैं कि यह कोई साम्प्रदायिक आन्दोलन है। इस आन्दोलन का एक सार्वजनिक रूप ही उसके सुनहरे भविष्य का सूचक है'।"

इतना होने पर भी कदाचित् कुछ व्यक्ति आन्दोलन को किसी पक्ष या विपक्ष का मानने की भूल कर जाते हैं। डॉ० राममनोहर लोहिया तथा एन० सी० चटर्जी आदि कुछ व्यक्तियों ने ऐसा अनुभव किया कि आचार्यश्री द्वारा कांग्रेस की नींव गहरी की जा रही है। इस प्रकार के कई आक्षेप सम्मुख आये। आचार्यश्री का इस विषय में यही स्पष्टीकरण रहा कि आन्दोलन किसी भी राजनैतिक दल से सम्बद्ध नहीं है; पर साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि वह किसी भी दल से असम्बद्ध रहना भी नहीं चाहता। मानव-मात्र के लिये किये जाने वाले आन्दोलन को न किसी पक्ष विशेष से बंधना ही चाहिए और न किसी पक्ष-विशेष को उपेक्षित ही करना चाहिए। दो विरोधी पक्षों में भी उसे समन्वय की खोज करना आवश्यक होता है। इसी धारणा पर चलते रहने के कारण आज अणुव्रत-आन्दोलन को सभी दलों का स्नेह प्राप्त है। वह भी अपनी आवाज सभी दलों तक पहुँचाना चाहता है। समन्वय के क्षेत्र में दल, जाति, धर्म आदि का भेद स्वयं ही अभेद में परिणत हो जाता है। आन्दोलन का कार्य किसी की दुर्बलता को समर्थन देना नहीं है; वह तो हर एक को सबल बनाना चाहता है।

आन्दोलन का मुख्य बल जनता है। उसी के आधार पर इसकी प्रगति निर्भर है। यों सभी दलों तथा सरकारों का ध्यान इस ओर

---

१. अणुव्रत-आन्दोलन

आकृष्ट हुआ है। सबकी शुभकामनाएं तथा सहानुभूति उसने चाही है और वे उसे हर क्षेत्र से पर्याप्त मात्रा में मिलती रही हैं। जन-मानस की सहानुभूति ही उसकी आवाज को गाँवों से लेकर शहरों तक तथा किसान से लेकर राष्ट्रपति तक पहुँचाने में सहायक हुई है। आन्दोलन ने न कभी राज्याश्रय प्राप्त करने की कामना की है और न उसे इसकी आवश्यकता ही है।

राज्य सभा में

भारत की राज्य-सभा में सन् ५७ में जब अणुव्रत-आन्दोलन विषयक प्रश्नोत्तर चले थे; तब उसका उत्तर देते हुए गृहमन्त्रालय के मन्त्री श्री बी० एन० दातार ने कहा था—"इस आन्दोलन को राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री नेहरू की शुभ कामना प्राप्त है।" आन्दोलन के अन्तर्गत चल रहे भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था—"यह कार्य सिर्फ भाषणों तक ही सीमित नहीं रहेगा, अपितु साधु-जन घर-घर जाकर स्वतन्त्र रूप से उच्चाधिकारियों व कर्मचारियों को भ्रष्टाचार से बचने की प्रेरणा देंगे।" यह कथन सरकार की ओर से उसके संचालकों की शुभकामना का सूचक ही है। आन्दोलन के कार्यकर्ता आर्थिक सहयोग के लिए सरकार की ओर कभी नहीं झुके हैं। यही आन्दोलन की शक्ति है और इसी के आधार पर वह सबका मुक्त सहयोग पा सका है।

विधान परिषद् में

इसी प्रकार सन् ५६ की फरवरी में उत्तर-प्रदेश की विधान परिषद् में विधायक श्री सुगनचन्द्र द्वारा एक प्रस्ताव रखा गया; जिस पर अन्य सत्ताईस विधायकों के भी हस्ताक्षर थे। उसमें कहा गया था—"यह सदन निश्चय करता है कि उत्तर प्रदेशीय सरकार देश में आचार्यश्री

तुलसी द्वारा चलाये गये आन्दोलन में यथोचित सहयोग तथा सहायता दें[1]।"

इस प्रस्ताव से कुछ विधायकों को अवश्य ऐसा सन्देह हुआ था कि अणुव्रत-आन्दोलन के लिए आर्थिक सहायता माँगी जा रही है। किन्तु बहस के अवसर पर जब यह प्रश्न उठा; तब अनेक विधायकों ने उसका समुचित खण्डन कर दिया। चर्चा काफी लम्बी चली थी; पर यहाँ कुछ व्यक्तियों के ही कथनों को उद्धृत किया जा रहा है। विधायक श्री ललिताप्रसाद सोनकर ने विषय को स्पष्ट करते हुए कहा—"यह प्रस्ताव सरकार से धन की माँग नहीं करता है और न किसी अन्य वस्तु की माँग करता है, लेकिन यह प्रस्ताव सरकार से यही चाहता है कि उसके शासन में रहने वाले लोगों की नैतिक और अध्यात्म-सम्बन्धी या चरित्र-सम्बन्धी बातों में सुधार हो[2]।"

विधायक श्री शिवनारायण ने कहा—"सरकार से सहयोग का मतलब यह है कि सरकार की सहानुभूति प्राप्त हो। आज हर एक आदमी सहयोग का नारा लगा रहा है। सहयोग का मतलब है कि नीचे से लेकर ऊपर तक सभी इस काम में जुट जायें। · · · पैसे की कमी नहीं। मान्यवर ! पैसा माँगता कौन है[3] ?"

सामाजिक सुरक्षा तथा समाज-कल्याण राज्य-मन्त्री श्री लक्ष्मीरमण आचार्य ने कहा—"जहाँ तक सहायता का सम्बन्ध है और सहयोग तथा सहायता के शब्द प्रयोग किये गए हैं; शायद उसके माने यह है कि सरकार यह कह दे कि अणुव्रत-आन्दोलन एक ठीक आन्दोलन है। .. ...लेकिन यह सहायता रुपये-पैसे की नहीं है; मैं ऐसा समझता हूँ। जहाँ तक इन चीजों का सम्बन्ध है, श्रीमन् मुझे सरकार की तरफ से यह कहने में

---

१. जैन भारती, १५ नवम्बर, १९५६
२. जैन भारती, २७ दिसम्बर, १९५६
३. जैन भारती, २७ दिसम्बर, १९५६

संकोच नहीं है कि अणुव्रत-आन्दोलन को सरकार गलत नहीं समझती है और ऐसा भी ख्याल करती है कि अणुव्रत-आन्दोलन कोई रिट्रोग्रेटिव स्टेप नहीं है और न कोई प्रतिक्रियावादी शक्तियों की जंजीर है। यह धर्म की स्थापना का नया तरीका है[1]।"

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि अणुव्रत-आन्दोलन के समर्थकों ने जो सहयोग चाहा, वह आर्थिक न होकर वैचारिक तथा चारित्रिक है। इसी सहयोग के आधार पर आन्दोलन की आवाज व्यापक प्रसार पा सकती है। ऐसे आन्दोलनों में वैचारिक तथा आचारिक सहयोग से बढ़कर अन्य कोई सहयोग नहीं हो सकता। आर्थिक प्रधानता तो ऐसे आन्दोलनों को भ्रष्ट करने वाली ही हो सकती है। आन्दोलन की आवाज को आगे बढ़ाने में सरकार से लेकर किसान तक का सहयोग इसलिए उन्मुक्त है कि वह आर्थिक या राजनैतिक सहायता की अपेक्षा को कभी मुख्यता प्रदान नहीं करता।

जन-जन में

इस आवाज को जन-जन तक पहुँचाने के लिए आचार्यश्री ने इन बारह वर्षों में अनेक लम्बी यात्राएँ की और भारत के अनेक प्रान्तों में पहुँचे। लाखों व्यक्तियों से साक्षात्कार हुआ। शहरों और गाँवों के व्यक्तियों से आन्दोलन-विषयक चर्चा करने में ही उनका बहुत-सा समय खपता रहा है। पैदल चलना, मार्गस्थ गाँवों में थोड़ा-थोड़ा ठहरकर जनता को उद्बोध देना और फिर आगे चल पड़ना। यह एक ऐसी थका देने वाली प्रक्रिया है कि दृढ़ निश्चय के बिना लगातार ऐसा सम्भव नहीं हो सकता। अपनी बात को शिक्षितों में किस तरह रखना चाहिए और अशिक्षितों में किस तरह रखना चाहिए, इसे वे बहुत अच्छी तरह जानते हैं। वे जितना विद्वानों को प्रभावित करते हैं; उतना ही अशिक्षित ग्रामीणों को भी प्रभावित कर लेते हैं।

१. जैन भारती, २७ जनवरी, १९६०

अनेकों का श्रम

आचार्यश्री के शिष्यवर्ग ने भी इस कार्य में बहुत परिश्रम किया है। अनेक क्षेत्रों में उनके श्रम ने ही आन्दोलन के मूल को सुदृढ़ किया है। दिल्ली जैसे व्यस्त तथा राजनैतिक हलचलों से भरे शहरों में आन्दोलन की आवाज को घर-घर में पहुँचाने का काम, यद्यपि बहुत कठिन है; फिर भी अणुव्रत विभाग के परामर्शक मुनिश्री नगराजजी के निर्देश में रहते हुए मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने इस दुस्साध्य कार्य को सहज बना दिया। मुनिश्री नगराजजी की सूझ-बूझ तथा विज्ञता और मुनि महेन्द्रकुमारजी की श्रमशीलता का योग आन्दोलन के लिए बड़ा ही गुणकारी हुआ है। दिल्ली में रहने का अवसर मुझे भी अनेक बार मिला है। उस समय मेरे सहयोगी मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' ने भी वहां इस कार्य के लिए अपने शरीर से ऊपर होकर परिश्रम किया है। वहाँ साहित्यकारों और पत्रकारों से उन्होंने जो विशिष्ट सम्पर्क स्थापित किया; वह आन्दोलन के लिए अतिशय गुणकारी सिद्ध हुआ। मेरा विश्वास है कि आन्दोलन की आवाज का भारत की राजधानी ने जैसा स्वागत किया है वह प्रथम ही है। अन्य विभिन्न क्षेत्रों में मुनि गणेशमलजी, मुनि जसकरणजी, मुनि छत्रमलजी, मुनि मीठालालजी, मुनि धनराजजी, मुनि मगनमलजी, मुनि राकेशजी आदि साधुओं तथा कस्तूरांजी आदि साध्वियों का परिश्रम भी इस दिशा में उल्लेखनीय रहा है।

नये उन्मेष

बीज जब तक धरती में उप्त नहीं किया जाता; तब तक वह अपनी सुषुप्त-अवस्था में रहता है, किन्तु जब उसे अनुकूल परिस्थितियों में उप्त कर दिया जाता है; तो वह अंकुरित होकर नये-नये उन्मेष करता हुआ फल तक विकसित हो जाता है। विचारों का भी कुछ ऐसा ही क्रम होता है; वे या तो सुषुप्त रहते हैं या फिर जागृत होकर नये-नये उन्मेष प्राप्त करते हुए फल-निष्पत्ति की ओर अग्रसर होते हैं। अणुव्रत-आन्दो-

लन का प्रारम्भ हुआ तब साधारण आचार-संहिता के रूप में उसका बीज विचार-क्षेत्र से निकलकर कार्य-क्षेत्र में उप्त हुआ। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया; त्यों-त्यों उसमें अनेक नये-नये उन्मेष होते गये।

हर उत्थान अनेक उत्थानों को साथ लेकर आता है और हर पतन अनेक पतनों को। भारतीय जीवन में जब पुराकाल में आचरणों के प्रति सावधानी हुई; तब उसका विकास यहां तक हुआ कि माल से भरी दूकानों में भी ताला लगाने की आवश्यकता नहीं रही। लिखी हुई बात का तो कहना ही क्या, किन्तु कही हुई या यों ही सहज भाव से मुँह से निकली बात को निभाने के लिए प्राणोत्सर्ग तक भी कोई बड़ी बात नहीं रही; परन्तु जब उसी भारत में दूसरा दौर प्रारम्भ हुआ तो नैतिकता या सदाचार से जैसे विश्वास ही उठ गया। जेब में पड़ी चीजें भी गायब होने लगी। लिखी हुई बात भी विश्वसनीय नहीं रही। परमार्थ की वृत्ति में अग्रणी भारतीय आकण्ठ स्वार्थ में निमग्न हो गये।

साहित्य द्वारा

ऐसी स्थिति में आचार्यश्री ने पुन आचरण-परिशोध की बात प्रारम्भ की तो उसके साथ अनेक प्रकार के परिशोधों की ओर सहज ही दृष्टि जाने लगी। विचार-क्रान्ति को परिपुष्ट करने के लिए अणुव्रत-साहित्य का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। यह आन्दोलन का प्रथम नवोन्मेष था। जो बातें शत-शत बार के कथन से हृदयगम नहीं हो पाती; वे साहित्य के द्वारा सहज ही हृदयगम हो जाती हैं। अणुव्रत-साहित्य ने जीवन-परिशोध की जो प्रेरणाएँ दी, वे अन्यथा सुलभ नहीं हो सकती थी।

गोष्ठियाँ आदि

विचार-प्रसार के लिए समय-समय पर विचार-परिषदों, गोष्ठियों, प्रवचनों तथा सार्वजनिक भाषणों का क्रम प्रचलित किया गया। यह भी आन्दोलन की प्रवृत्तियों में एक नवोन्मेष ही था।

विविध अभियान

कार्य-क्षेत्र में भी विविध उन्मेष हुए। दहेज-विरोधी अभियान, सदाचारी-सप्ताह, मद्य-विरोधी तथा सिगरेट-विरोधी कार्यक्रम, ये सब आन्दोलन के कार्य-क्षेत्र को और अधिक विस्तृत करने में सहायक हुए। यही क्रम कुछ विकसित होकर नवीन नियमों के आधार पर विचार-प्रसार का माध्यम बना।

विद्यार्थी-परिषद्

विचारों की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए विद्यार्थियों को विशेष-रूप से उचित पात्र समझा गया। आन्दोलन ने उन पर विशेष ध्यान दिया। अध्यापकों और विद्यार्थियों के द्वारा वहाँ अणुव्रत विद्यार्थी-परिषदों की स्थापना हुई। दिल्ली में यह कार्य विशेष रूप से संगठित हुआ। लगभग पचास हायर सेकण्डरी स्कूलों में अणुव्रत विद्यार्थी परिषद् स्थापित हुई। उन सबको एक सूत्र में ग्रथित करने के लिए प्रत्येक स्कूल के प्रतिनिधियों के आधार पर केन्द्रीय अणुव्रत-विद्यार्थी परिषद् बनी। इस परिषद् ने दिल्ली में अनेक बार दहेज-विरोधी कार्यक्रम सम्पन्न किये। भाषण-प्रतियोगिता, वाद-विवाद-प्रतियोगिता आदि आयोजनों द्वारा छात्रों की सुरुचि को जागृत करने का प्रयास किया।

केन्द्रीय अणुव्रत-समिति

केन्द्रीय अणुव्रत-समिति की स्थापना भी आन्दोलन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उसकी स्थापना आन्दोलन के कार्यों को व्यवस्थित गति देने के लिए हुई थी। साहित्य-प्रकाशन तथा 'अणुव्रत' नामक पत्र का प्रकाशन भी समिति ने किया। अणुव्रत-अधिवेशन के रूप में प्रतिवर्ष विचारों का आदान-प्रदान तथा एकसूत्रता का वातावरण बनाये रखने के लिए वह सदा प्रयत्न करती रही है।

स्थानीय समितियाँ

आन्दोलन के प्रसारार्थ आचार्यश्री तथा मुनिजनों का विहार-क्षेत्र ज्यों-ज्यों विकसित हुआ; त्यों-त्यों स्थानीय अणुव्रत-समितियों की भी काफी संख्या में स्थापना हुई। उन्होंने अपने स्थानीय आधार पर बहुत-कुछ काम किया है। उनमें कुछ का स्थायित्व तो काफी प्रशंसनीय रहा है; परन्तु कुछ बहुत ही स्वल्पकालिक निकलीं।

कमजोर पक्ष

अणुव्रत-आन्दोलन का यह एक बहुत कमजोर पक्ष भी रहा है कि आचार्यश्री तथा मुनिजन कार्य को जहाँ आगे बढ़ाते रहे हैं; वहाँ पीछे से उसकी सार-संभाल बहुत ही कम हो सकी है। इस शिथिलता के कारण बिहार तथा उत्तर-प्रदेश के अनेक स्थानों में स्थापित अणुव्रत-समितियों से आज कोई विशेष सम्पर्क नहीं रह पाया है। यदि केन्द्रीय समिति इस कार्य को व्यवस्थित रूप दे सकती तो आन्दोलन की प्रगति को अधिक स्थायित्व मिलता और तब 'परिश्रम अधिक और फल कम' की बात कहने का किसी को अवसर नहीं मिलता।

सामूहिक सुधार

अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति-सुधार की दृष्टि से कार्य करता रहा है; किन्तु वह सामूहिक सुधार में भी दिलचस्पी रखता है। आचार्यश्री ने एक बार आन्दोलन का अगला कदम परिवार-सुधार को बतलाते हुए कहा था—"अब हमें व्यक्ति से समष्टि की ओर अग्रसर होना है। परिवार-सुधार सामूहिक सुधार की दिशा में ही एक कदम है। आचार्यश्री उस घोषणा के पश्चात् क्रमशः उस ओर आन्दोलन को प्रगति देते रहे हैं।

उन्हीं दिनों मैं (मुनि बुद्धमल्ल) दिल्ली में था। वहाँ राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद से मिलने के लिए १८ जुलाई १९५६ का दिन निश्चित

हुआ था। यथासमय मैं उनसे मिला। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा—"अब समय आ गया है जब कि अणुव्रत-आन्दोलन को सामूहिक सुधार की दिशा में काम करना चाहिए।"

मैंने तब आचार्यश्री द्वारा घोषित सामूहिक सुधार की योजना उन के सामने रखी और कहा कि दो चिन्तकों के मन मे एक ही प्रकार के विचार कार्य कर रहे हैं, यह आन्दोलन के लिए बहुत शुभ है।

राष्ट्रपति ने उस योजना में बड़ी दिलचस्पी ली और अपने अनेक सुझाव भी दिये।

नया मोड़

परिवार-सुधार की उस योजना को विकसित कर आचार्यश्री ने कुछ समय पश्चात् नये मोड के रूप मे समाज के सम्मुख कुछ बातें रखीं। उसमें प्राचीन रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासो के विरुद्ध जन-मानस को तैयार करने का उपक्रम किया गया। समाज के ऐसे बहुत से कार्य हैं; जो कि चालू परम्परा मे किये जाते हैं, परन्तु आज उनका मूल्य बदल गया है। समाज के धनी-मानी लोग नये मूल्यों के अनुसार नये कार्य तो प्रारम्भ कर देते हैं, किन्तु प्राचीन कार्यों को सहसा छोड नहीं पाते। मध्यम वर्ग के लोग उन्हें छोड़ना चाहते हुए भी इज्जत का प्रश्न बना लेते हैं और छोड़ने के बजाय उनसे चिमट कर रह जाते हैं। उनकी गति साँप-छछून्दर जैसी बन जाती है।

आचार्यश्री एक लम्बे समय से सामाजिक अभिशापों की बातें सुनते रहे हैं। उनके विषय में कुछ कहते भी रहे हैं। समाज में जन्म, विवाह और मृत्यु के समय किये जाने वाले संस्कार इतने विचित्र और इतने अधिक हैं कि उन सबको यथाविधि करने वाला तो शायद मिलना ही कठिन है, परन्तु प्राय हर व्यक्ति कुछ पुराने संस्कार छोड़ देता है तो कुछ नये अपना लेता है; यों वह बराबर उतना ही भार ढोये चलता है। दक्षिण के राजा रामदेव के मंत्री आचार्य हेमाद्रि ने अपने 'चतुर्वर्ग

चिन्तामणि' ग्रन्थ में तथा उसी समय के काशी के पण्डित नीलकण्ठ, कमलाकर भट्ट आदि ने अपने ग्रन्थों में हिन्दुओं के क्रिया-काण्डों का विशद विवेचन किया है। उनके अनुसार प्रत्येक नैष्ठिक हिन्दू को प्रति-वर्ष दो हजार के लगभग क्रियानुष्ठान करने आवश्यक होते हैं, अर्थात् प्रतिदिन ५-६ अनुष्ठान। आजकल उन अनुष्ठानों में से बहुत से तो केवल पुस्तकों में ही रह गये हैं; फिर भी जो अवशिष्ट हैं तथा नये-नये प्रचलित किये जा रहे हैं; वे भी इतने हैं कि साधारण व्यक्ति उनके भार से दबा जा रहा है। आचार्यश्री अनुभव कर रहे हैं कि जब तक सामाजिक जीवन में सादगी को महत्त्व नहीं दिया जायेगा; तब तक अणुव्रत-भावना के प्रसारार्थ क्षेत्र की अनुकूलता नहीं हो सकेगी। इसलिए वे नये मोड़ पर इतना जोर देते हैं और चाहते हैं कि हर गाँव में सामाजिक स्तर पर कुछ नियम बनाये जायें और उनमें सादगी को प्रमुखता दी जाये।

अनेक स्थानों पर इस भावना के अनुरूप नियम बने हैं। जहाँ अभी तक नहीं बने हैं; वहाँ के लिए प्रयास चालू है। प्राय हर गाँव में ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं जो सादगी को पसन्द करते हैं; परन्तु इस कार्य में बाधाएँ भी बहुत हैं। पुराने विश्वासों के स्थान पर नये विश्वासों को जमाना प्रायः सहज नहीं होता। यदि अणुव्रत-आन्दोलन यह कर देता है तो यह अपने लक्ष्य में से एक बहुत [illegible] कर लेता है।

आगा [illegible]

हुआ था। यथासमय मैं उनसे मिला। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा—"अब समय आ गया है जब कि अणुव्रत-आन्दोलन को सामूहिक सुधार की दिशा मे काम करना चाहिए।"

मैंने तब आचार्यश्री द्वारा घोषित सामूहिक सुधार की योजना उन के सामने रखी और कहा कि दो चिन्तकों के मन में एक ही प्रकार के विचार कार्य कर रहे हैं, यह आन्दोलन के लिए बहुत शुभ है।

राष्ट्रपति ने उस योजना में बड़ी दिलचस्पी ली और अपने अनेक सुझाव भी दिये।

नया मोड़

परिवार-सुधार की उस योजना को विकसित कर आचार्यश्री ने कुछ समय पश्चात् नये मोड़ के रूप में समाज के सम्मुख कुछ बातें रखी। उनमें प्राचीन रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के विरुद्ध जन-मानस को तैयार करने का उपक्रम किया गया। समाज के ऐसे बहुत से कार्य हैं; जो कि चालू परम्परा से किये जाते हैं, परन्तु आज उनका मूल्य बदल गया है। समाज के धनी-मानी लोग नये मूल्यों के अनुसार नये कार्य तो प्रारम्भ कर देते हैं, किन्तु प्राचीन कार्यों को सहमा छोड़ नहीं पाते। मध्यम वर्ग के लोग उन्हें छोड़ना चाहते हुए भी इज्जत का प्रश्न बना लेते हैं और छोड़ने के बजाय उनसे चिमट कर रह जाते हैं। उनकी गति सांप-छछून्दर जैसी बन जाती है।

आचार्यश्री एक लम्बे समय से सामाजिक अभिशापों की बातें सुनते रहे हैं। उनके विषय में कुछ कहते भी रहे हैं। समाज में जन्म, विवाह और मृत्यु के समय किये जाने वाले संस्कार इतने विविध और इतने अधिक हैं कि उन सबको यथाविधि करने वाला तो शायद मिलना ही कठिन है; परन्तु प्रायः हर व्यक्ति कुछ पुराने संस्कार छोड़ देता है तो कुछ नये अपना लेता है; यों वह बराबर उतना ही भार ढोये चलता है। दक्षिण के राजा रामदेव के मंत्री आचार्य हेमाद्रि ने अपने 'चतुर्वर्ग

चिन्तामणि' ग्रन्थ में तथा उसी समय के काशी के पण्डित नीलकण्ठ, कमलाकर भट्ट आदि ने अपने ग्रन्थों में हिन्दुओं के क्रिया-काण्डों का विशद विवेचन किया है। उनके अनुसार प्रत्येक नैष्ठिक हिन्दू को प्रति-वर्ष दो हजार के लगभग क्रियानुष्ठान करने आवश्यक होते हैं, अर्थात् प्रतिदिन ५-६ अनुष्ठान। आजकल उन अनुष्ठानों में से बहुत से तो केवल पुस्तकों में ही रह गये हैं; फिर भी जो अवशिष्ट हैं तथा नये-नये प्रचलित किये जा रहे हैं; वे भी इतने हैं कि साधारण व्यक्ति उनके भार से दबा जा रहा है। आचार्यश्री अनुभव कर रहे हैं कि जब तक सामाजिक जीवन में सादगी को महत्त्व नहीं दिया जायेगा, तब तक अणुव्रत-भावना के प्रसा-रार्थ क्षेत्र की अनुकूलता नहीं हो सकेगी। इसलिए वे नये मोड़ पर इतना जोर देते हैं और चाहते हैं कि हर गाँव में सामाजिक स्तर पर कुछ नियम बनाये जायें और उनमें सादगी को प्रमुखता दी जाये।

अनेक स्थानों पर इस भावना के अनुरूप नियम बने हैं। जहाँ अभी तक नहीं बने हैं, वहाँ के लिए प्रयास चालू है। प्रायः हर गाँव में ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं जो सादगी को पसन्द करते हैं; परन्तु इस कार्य में बाधाएँ भी बहुत हैं। पुराने विश्वासों के स्थान पर नये विश्वासों को जमाना प्रायः सहज नहीं होता। यदि अणुव्रत-आन्दोलन यह कर देता है तो यह अपने लक्ष्य में से एक बहुत बड़े कार्य की पूर्ति कर लेता है।

प्रकाश-स्तम्भ

आना ही न पड़ता

अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से जो कार्य हुआ है, वह परिणाम में भले ही बहुत कम हो; किन्तु मात्रा में काफी महत्त्वपूर्ण हुआ है। हृदय-परिवर्तन के ऐसे अनेक उदाहरण सामने आये हैं जो कि विरले ही मिल सकते हैं। एक बार दिल्ली सैन्ट्रल जेल में आचार्यश्री का भाषण हुआ। उसके कुछ ही दिन बाद एक सिपाही एक बन्दी को लिए हुए आ रहा था। एक अणुव्रती भाई भी उस तरफ ही आ रहा था। मार्ग में उस

भेंट आ गया। एक अणुव्रती होने के नाते उसने उसे नदी में बहा दिया। यदि वह चाहता तो जैसे आया था; वैसे लगा भी सकता था। पर हजारों रुपयों का नुकसान उठाकर भी उसने ऐसा नहीं किया।

यह मुझे मंजूर नहीं

एक अणुव्रती ने दोसौ रुपये का अधिक इन्कमटैक्स लगा देने पर मुकदमा लड़ा। लोगों ने कहा—"मुकदमा लड़ने पर तो दोसौ की जगह कहीं दो हजार खर्च होने की सम्भावना होती है; तब फिर ये दोसौ ही क्यों नहीं दे देते ?" उसने कहा—"दोसौ रुपये भी दूं और चोर भी बनूं, यह मुझे मंजूर नहीं।"

रिश्वत या जेल

इनके अतिरिक्त ऐसे भी अनेक उदाहरण सामने आये हैं जिनसे अनैतिकता का सामना करने की भावना को बढ़ाने में आन्दोलन की सतत जागरूकता का परिचय मिलता है। उदाहरण-स्वरूप उड़ीसा प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी तथा ग्राम-पंचायत के सदस्य एक अणुव्रती की घटना दी जा सकती है। एक बार उसके गाँव में सवर्ण तथा असवर्ण हिन्दुओं का परस्पर झगड़ा हो गया। उसमें एक ब्राह्मण-दम्पती की हत्या कर दी गई। पुलिस अफसर ने पंचायत वालों द्वारा जोर डालने पर भी न जाने क्यों; उस मामले पर विशेष ध्यान नहीं दिया। उन्हीं दिनों सम्बलपुर में नेहरूजी आने वाले थे। उस अवसर पर टिटलागढ़ सब-डिवीजन के प्रतिनिधि के रूप में उपर्युक्त अणुव्रती भाई वहाँ कांग्रेस-कमेटी में भाग लेने वाले थे। संयोगवश उसने पुलिस अफसर से कह दिया कि मैं यहाँ की सारी घटना सम्बलपुर-कांग्रेस-कमेटी में कहूँगा। बस; फिर क्या था, पुलिस ने झूठा गवाह तैयार करके उसे फांसा और ... में गिरफ्तार कर लिया। जब वह हिरासत में था; पुलिस वालों अपने ढंग से उसे यह जतला दिया कि कुछ देकर वह इस झंझट से

बच सकता है। किन्तु उसने रिश्वत देकर छूटने से साफ इन्कार कर दिया। आखिर मुकदमा चला और सोलह महीने के बाद वह निर्दोष होकर छूटा। उसका कहना है कि राज्य की न्याय-व्यवस्था तथा पुलिस पर आक्रोश के भाव तो मन में अवश्य उभरे, पर इस बात का सन्तोष है कि कष्ट सहकर भी मैंने रिश्वत देने की भ्रष्ट पद्धति का अवलम्बन नहीं लिया।

ब्लैक स्वीकार नहीं

एक व्यापारी को अपने साथी दूसरे व्यापारी के साथ प्लास्टिक चूर्ण का एक बड़ा कोटा मिला हुआ था। उस समय की ब्लैक-दर से उसमें लगभग तीन लाख का मुनाफा होता था; किन्तु उस भाई को अणुव्रती होने के नाते ब्लैक करना स्वीकार नहीं था, अतः उसे वह व्यापार ही छोड़ देना पड़ा।

गुड़ की चाय

आसाम के एक व्यवसायी अणुव्रती होने के बाद कोई भी वस्तु ब्लैक से नहीं खरीदते थे। ब्लैक से खरीदे बिना उस समय चीनी प्राप्त कर लेना कठिन ही नहीं; किन्तु असम्भव प्रायः ही था। वे भाई अपने नियम में पक्के रहे और गुड़ की चाय पीने लगे। एक बार उनके किसी सम्बन्धी के यहाँ कुछ अतिथि आये। उन अतिथियों में एक टैक्सटाइल सुपरिण्टेण्डेण्ट भी थे। चायपार्टी में वह अणुव्रती भाई भी सम्मिलित हुआ। किन्तु औरों के लिए जहाँ चीनी की चाय आई, वहाँ उसके लिए गुड़ की चाय मँगाई गई। अतिथि उनके उस विचित्र व्यवहार से बड़े चकित हुए; किन्तु जब उन्हें कारण से अवगत किया गया तो वे बहुत प्रभावित हुए। समागत अफसर ने तभी से ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि उन्हें प्रति-सप्ताह ढाई सेर चीनी नियन्त्रित भावों में मिलती रहे।

सत्य की शक्ति

एक सप्लाई-क्लर्क को उसके अफसर ने बुलाकर कहा—"स्टोर में

सीमेंट कम है और माँग अधिक है। जान-पहचान के कुछ व्यक्तियों को सीमेण्ट दिलाना है; अतः आप अपनी रिपोर्ट में अन्य व्यक्तियों की दरख्वास्त पर स्टॉक में सीमेण्ट न होना लिख देना।"

क्लर्क ने कहा—"श्रीमन् ! माफ करें। मैं तो गलत रिपोर्ट नहीं दे सकता। आपको ऐसा ही करना है तो मुझसे रिपोर्ट न माँगें। जिन्हें दिलाना चाहें; उनकी दरख्वास्त पर आर्डर लिख दें; मैं परमिट बना दूंगा।

उस अफसर पर उस बात का इतना प्रभाव पड़ा कि उसके पश्चात् वे उसके द्वारा पेश किये गए कागजों पर बिना किसी संशय के हस्ताक्षर कर देने लगे। यहाँ तक कि कभी-कभी तो दूसरे विभागों के कागजात भी उसके पास भेजकर कह देते थे कि इन पर आर्डर लिख देना; मैं हस्ताक्षर कर दूंगा। इन्हीं सब बातों को देखते हुए उस भाई का विश्वास है कि सत्य में काफी शक्ति होती है। पर उसकी परीक्षा में डटे रहना ही सबसे अधिक कठिन है।

दूकानों की पगड़ी

दिल्ली में एक भाई ने नया मकान बनवाया। उसमें आठ दूकानें किराये पर देने की थी। शहर में दूकानों की प्रायः कमी होती है, अतः लोग किराये के अतिरिक्त पगड़ी के रूप में भी हजारों रुपये पहले देने को तैयार रहते हैं। उस भाई की दूकानों के लिए भी पाँच-पाँच हजार रुपये की पगड़ी देने वाले कई व्यक्ति आये। इस प्रकार अनायास ही आठ दूकानों का चालीस हजार रुपया पगड़ी के रूप में मुफ्त ही मिल रहा था। परन्तु अणुव्रती होने के नाते उसने वह पैसा स्वीकार नहीं किया और अपनी सारी दूकानें केवल उचित किराये पर ही दे दीं।

एक सुमन

एक अणुव्रती भाई की दूकान पर सेल्स-टैक्स इन्स्पेक्टर आया। उसने कुछ कपड़ा खरीदना चाहा; परन्तु जो कपड़ा वह चाहता था; वह महंगे

ही स्टेशन-मास्टर द्वारा खरीदा जा चुका था । वैसा और कपड़ा दूकान में था नहीं । दूकानदार ने कहा—"आप दूसरा चाहे जो कपड़ा खरीद लें; पर यह खरीदा हुआ कपड़ा मैं आपको कैसे दे सकता हूँ ?"

इन्स्पेक्टर कुछ गर्म हुआ और चला गया; परन्तु उसके मन में उस बात की चुभन हो गई। एक बार सेल्स-टैक्स ऑफीसर को उस दूकानदार ने हर वर्ष की तरह अपने बही-खाता दिखाये । वह उस पर फैसला लिखने ही वाला था कि इतने में वह इन्स्पेक्टर वहाँ आ गया और बोला—"मैं इस फर्म की इन्क्वायरी करूँगा।" ऑफीसर ने कह दिया; कर लो । तब से उस दूकानदार का मामला सेल्स-टैक्स ऑफीसर से हटकर इन्स्पेक्टर के हाथ में आ गया ।

वह उसे आये दिन तंग करने लगा । समय-असमय बुला लेता और तरह-तरह के प्रश्न करता रहता । वह एक प्रकार से वैर लेने की वृत्ति से काम कर रहा था । उसे फँसाने के लिए उसने उन सब तारीखों को गुप्त रूप से संगृहीत कर रखा था; जिनमें कि विभिन्न स्थानों से उसकी दूकान पर माल आया था । उसके पास इनका भी पूरा-पूरा ब्यौरा था कि म्युनिसिपल कमेटी का टरमिनल टैक्स कब दिया और किसना दिया । बहुत दिनों तक वह उसके बहीखाते भी देखता रहा । आखिर कहीं भी पकड़ वाली बात हाथ न लगी; तब वह स्वयं ही अपने कार्य के प्रति लज्जित हुआ । दूकानदार के प्रति उसका हृदय भी बदला । आखिर उसने अपनी इन्क्वायरी की समाप्ति इन शब्दों में लिख कर की—"मैंने फर्म के बही-खाते बड़ी सावधानी से देखे हैं । इनमें कहीं भी गोलमाल नहीं मिला ।"

इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण हैं[1]; जो कि आन्दोलन के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्य के प्रति मन में निष्ठा उत्पन्न करते

---

१. इस प्रकार के अन्य बहुत सारे प्रेरणाप्रद संस्मरण अणुव्रत विभाग के परामर्शक मुनिश्री नगराजजी द्वारा 'प्रेरणादीप' नामक पुस्तक में संकलित किये गये हैं ।

हैं और दूसरों को यह प्रेरणा भी देते हैं कि सकल्प करने पर हर कोई वैसा बन सकता है। वस्तुतः शुभ सकल्प करना इतना कठिन नहीं होता; जितना कि बाद में प्रतिक्षण उस पर डटे रहना। किन्तु ऐसा किये बिना समाज में न आध्यात्मिकता पनप सकती है और न नैतिकता। उपर्युक्त उदाहरण हर एक व्यक्ति के लिए प्रकाश-स्तम्भ के समान हैं। कठिनाइयाँ पृथक्-पृथक् हो सकती हैं; परन्तु उन सबको हल करने का एकमात्र यही तरीका हो सकता है कि वह अपने-आपको इतना दृढ बनाये उस पर असत्य का नाग फन मार-मारकर भले ही मर जाये; पर उस उसके विष का कोई प्रभाव न हो सके।

विहार-चर्या

प्रशस्त चर्या

'विहार चर्या इसिण पसत्था' इस आगम-वाक्य मे ऋषियो के लिए विहार-चर्या को ही प्रशस्त बताया गया है। भारतवर्ष में प्राय हर सन्यासी के लिए यायावरता को अत्यन्त आवश्यक माना गया है। जीवन की गतिशीलता के साथ पैरो की गतिशीलता का अवश्य ही कोई अदृश्य सम्बन्ध रहा है। यहाँ के नीतिकारो ने देशाटन को चातुर्य का एक कारण माना है। उपनिषत्कारो ने 'चरैवेति-चरैवेति' सूत्र से केवल भावात्मक गतिशीलता को ही नही, अपितु देशाटन—यायावरता को भी विभिन्न उपलब्धियों का हेतु माना है।

जैन मुनियो के लिए तो यह चर्या मुनि जीवन के साथ ही सहज स्वीकृत होती है। आज जब कि वाहनो के विकास ने क्षेत्र की दूरी को सकुचित कर दिया है, जल, स्थल और आकाश की अगम्यता धीरे-धीरे गम्यता मे परिणत हो गई है, तब भी जैन मुनि उसी प्राचीन परिपाटीके अनुसार पाद-चार से ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए देखे जा सकते है।

सम्पर्क के लिए

विहार-चर्या जन-सम्पर्क की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। गाँवो और शहरो मे हर प्रकार के व्यक्तियो तक पहुचने के लिए एक मात्र सफल उपाय यही हो सकता है। तेज वाहनो पर चलने से वह सम्पर्क सम्भव नही हो सकता। मुनि-जीवन के लिए जिस साधारणीकरण को आवश्य-

मता होती है, वह इस चर्या के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वीकृत यह आदर्श अपने-आपमें जन-सम्पर्क की अद्वितीय क्षमता संजोये हुए है।

राजघाट पर आचार्यश्री तुलसी और विनोबाजी का मिलन हुआ। विनोबाजी ने कहा—"मैंने भी जैन मुनियों की तरह पैदल चलने का निश्चय किया है।" उनके इस कथन से मुझे लगा कि जन-सम्पर्क के लिए विनोबाजी ने भी इसे सर्वोत्तम साधन माना है। किन्तु दोनों की स्थितियों में अन्तर है। विनोबाजी की पदयात्रा उनका व्रत नहीं है; जब कि आचार्यश्री की पदयात्रा उनका व्रत है।

प्रचण्ड जिगमिषा

यों तो प्रत्येक जैन मुनि दीक्षा-ग्रहण के साथ ही आजीवन के लिए पदयात्री बन जाता है; परन्तु आचार्यश्री की पदयात्राएँ अपने साथ एक विशेष कार्यक्रम लिए हुए हैं। वे आज तक जितना घूम चुके हैं; उससे कहीं अधिक घूमना उनके लिए अवशिष्ट है। उनकी गति की त्वरता यही बतलाती है कि अभी उनके लिए बहुत काम अवशिष्ट है, शिथिल गति से उसकी पूर्ति नहीं की जा सकती। वे लगभग सोलह-सत्रह हजार मील चल चुके हैं, परन्तु अब भी उनका चलने का उत्साह बिलकुल नया बना हुआ है।

एक यात्रा समाप्त करते हैं, उससे पहले ही अन्य यात्राओं की भूमिका बाँध लेते हैं। गुजरात यात्रा के अवसर पर वे 'बाव' गये थे; परन्तु उससे बहुत पहले वहाँ आने की स्वीकृति दे चुके थे। मेवाड़ में थली में आने से पूर्व ही वापिस मेवाड़ और उदयपुर पहुँचने की अन्तिम तिथि का निर्धारण उन्होंने कर दिया। दक्षिण-यात्रा का विचार उनके मन में एक अधूरे स्वप्न की तरह सदैव अपनी पूर्ति की माँग करता रहता है। वस्तुतः यात्रा में वे अपने-आप को अपेक्षाकृत अधिक ताजा और प्रसन्न अनुभव करते हैं। नवीनता से वे चिर-बन्धन करके आये हैं।

एक स्थिति में या एक क्षेत्र में ठहरना उनके मन ने कभी स्वीकार नहीं किया है। वे गति चाहते हैं; अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी। एक प्रचण्ड जिगमिषा उन्हें अज्ञात रूप से सतत प्रेरित करती रहती है।

दैनिक गति

आठ-दस मील चलने को अब वे बहुत साधारण गिनते हैं। चौदह-पन्द्रह मील चलने पर उन्हें कहीं विहार करने का मनस्तोष मिल पाता है। आवश्यकता होने पर बीस-बाईस मील चल लेना भी उन्हें कोई अधिक कठिन कार्य नहीं लगता। वि० सं० २०१३ में सरदारशहर से दिल्ली पहुँचे तो प्रायः प्रतिदिन बीस मील के लगभग चले। कलकत्ता से थली में आये तो प्रायः प्रतिदिन पन्द्रह-सोलह मील चले। बीच-बीच में; क्वचित् उससे अधिक भी चले। उन्हें मानो गति में थकान नहीं आती, स्थिति में आती है। अपने आचार्य-काल के प्रथम बारह वर्षों में वे बहुत कम घूमे। उस समय उनकी गतिविधि केवल थली (बीकानेर डिवीजन) तक ही सीमित रही। परन्तु अगले बारह वर्षों में वे इतने घूमे कि पूर्व-काल में कम घूमने की बात अविश्वसनीय-सी बन गई।

शाश्वत यात्री

अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना और सुदूर यात्राएँ प्रायः साथ-साथ ही प्रारम्भ हुईं। राजस्थान, दिल्ली, पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, मध्यभारत, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रान्त उनके चरण-स्पर्श का लाभ प्राप्त कर चुके हैं। भारत के अवशिष्ट प्रान्त उत्सुकतापूर्वक उनकी प्रतीक्षा में हैं। आगामी यात्राओं का उनका क्या कार्यक्रम है; यह तो वे ही जानें; परन्तु पिछली यात्राओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उनकी यात्राओं का क्रम अनवरत रूप से चालू रहेगा। जन-मानस को प्रेरित करने के लिए ऐसी यात्राएँ बहुत ही उपयोगी होती हैं।

उनकी यात्राओं को चार भागों में बाँटा जा सकता है—दिल्ली-

पंजाब-यात्रा, गुजरात-महाराष्ट्र-मध्यभारत-यात्रा, उत्तरप्रदेश-बिहार-बंगाल-यात्रा और राजस्थान-यात्रा। यद्यपि उनके इस भ्रमण के लिए 'यात्रा' शब्द उतना अनुकूल नहीं बैठता, क्योंकि यात्री किसी एक निर्दिष्ट स्थान से चलता है और जब पुनः अपने स्थान पर पहुँच जाता है, तब उसकी एक यात्रा समाप्त मानी जाती है। परन्तु आचार्यश्री के लिए अपना कोई स्थान नहीं है। यों सभी स्थानों को वे अपना ही मानते हैं, पराया उनके लिए कोई नहीं है। तब फिर कहाँ से यात्रा का प्रारम्भ हो और कहाँ अन्त ? वे शाश्वत यात्री हैं और उनकी यात्रा भी शाश्वत है। वह उनके जीवन की एक अभिन्न चर्या है। इसीलिए ऐसी यात्रा को आगम 'विहार-चर्या' के नाम से पुकारते हैं। केवल जन-प्रचलित भाषा-प्रयोग की निकटता के लिए ही यहाँ मैंने 'यात्रा' शब्द का प्रयोग कर लिया है।

प्रथम यात्रा

चरत भिक्खवे

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जब कि अध्यात्म-प्राण भारत-भूमि में हिंसा, जातीयता, कामुकता, शोषण और संग्रह आदि की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही थीं, तब गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा था :

चरत भिक्खवे चारिकं, चरत भिक्खवे चारिकं
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय

"हे भिक्षुओ ! बहुत जनों के हित और सुख के लिए तुम पाद-विहार करो।" भिक्षुओं ने पूछा—"भदन्त ! अज्ञात प्रदेश में जाकर हम लोगों से क्या कहें ?" बुद्ध ने कहा :

पाणो न हन्तब्बो,
अदिन्नं न दातब्बं,

कामेसु मुच्छा न चरितव्वा,
मूसा न भासितव्वा,
मज्जं न पातव्वं।

"प्राणियों की हिंसा मत करो, चोरी मत करो, कामासक्त मत बनो, मृषा मत बोलो और मद्य मत पीओ। उन्हें इस पंचशील का सन्देश दो।" अपने शास्ता की आज्ञा को शिरोधार्य कर भिक्षु चल पड़े। उस छोटी-सी घटना ने वह विस्तार पाया कि एक दिन समस्त एशिया भूखण्ड में पंचशील का घोष फैल गया।

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ भी उसी प्रकार की स्थितियों में हुआ। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ भारत में हिंसा, जातीयता, गरीबी और शोषण आदि का दुश्चक्र बहुत तेजी से घूमने लगा। लम्बी पराधीनता के कारण जनता का चरित्र-बल शून्यता के आसपास ही पहुँच चुका था। देश को सर्वाधिक तात्कालिक आवश्यकता चरित्र-निर्माण की थी। उस समय आचार्यश्री ने अपने शिष्यों से कहा—"साधुओ! स्व-पर-कल्याण के लिए विहार करो और गाँवों तथा नगरों में पहुँचकर चरित्र-उत्थान का सन्देश दो।" उन्होंने उन सबको पंचशील के स्थान पर पंच अणुव्रतों की व्यवस्थित रूप-रेखा दी। वे पाँच अणुव्रत ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और और अपरिग्रह।

उन्होंने कहा—"अहिंसा आदि की पूर्णता तक पहुँचना जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए और उनको अणु रूप से प्रारम्भ कर अधिकाधिक जीवन-व्यवहार में उतारते जाना प्रतिदिन का काम होना चाहिए। अतः तुम संसार को अणु से पूर्ण की ओर बढ़ने का सन्देश दो।" मुनिजन अपने नियामक के निर्देश को घर-घर पहुँचाने में जुट गए। उत्तर में शिमला से लेकर दक्षिण में मद्रास तक तथा पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में बम्बई-महाराष्ट्र तक पद-यात्राओं का एक सिलसिला प्रारम्भ हो गया। अणुव्रतों के घोष से वायुमण्डल मुखरित हो उठा। जनता के सुप्त मानस में पुनः एक हलचल आरम्भ हुई।

जयपुर में

आचार्यश्री अब भी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी ऐतिहासिक पदयात्राओं के लिए चल पड़े। सरदारशहर (राजस्थान) में अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात कर वे राजस्थान के लघु ग्रामों में यह सन्देश देते हुए वहाँ की राजधानी जयपुर में पहुँचे। यहाँ अणुव्रत-आन्दोलन को प्राथमिक बल मिला। पत्र-पत्रिकाओं में उसकी चर्चा हुई। प्रारम्भ काल था, अतः विविध सन्देहों के बादल भी घिरे। प्रकाश-किरण को सर्वथा अस्तित्वहीन कर देने का सामर्थ्य बादलों में नहीं होता। वे कुछ समय के लिए उसको धूमिल या मन्द कर सकते हैं, परन्तु आखिर उन्हें हटना ही पड़ता है। विरोधों और अवरोधों के बावजूद आन्दोलन का प्रकाश फैला, जनता आकृष्ट हुई, चारों ओर से ऐसे कार्यक्रमों की आवश्यकता स्वीकार की जाने लगी। आचार्यश्री को अपने कार्य की उपयोगिता पर और अधिक दृढ़ता से विश्वास करने का अवसर मिला।

दिल्ली में

वहाँ से वे आगे बढ़े और अलवर, भरतपुर, आगरा व मथुरा जैसे देश के प्रसिद्ध नगरों तथा मार्ग के देहातों की पदयात्रा करते हुये भारत की राजधानी दिल्ली में पधारे। दिल्ली में तेरापंथ के आचार्यों का यह सर्व प्रथम पदार्पण था। वहाँ उन्होंने अपने प्रथम भाषण में ही यह घोषणा की—"मैं अपने संघ की शक्ति को राष्ट्र की नैतिक सेवा व नैतिक उत्थान के लिए अर्पित करने राजधानी में आया हूँ।"

उस घोषणा को कुछ ने आश्चर्य की दृष्टि से व कुछ ने उपहास और उपेक्षा की दृष्टि से देखा। दिल्ली जैसे हलचल से भरे और आधुनिकता में पगे शहर के नागरिकों को उस समय यह विश्वास होना भी कठिन हो रहा था कि आधुनिक साधन-सामग्री से सर्वथा विहीन यह पैदल चलने वाला व्यक्ति विश्व-हित की भावना लेकर देश को कोई सन्देश दे सकेगा? किन्तु धीरे-धीरे उनका वह भ्रम दूर हो गया। आचार्य-

श्री की आवाज को यहाँ वह बल मिला; जिसकी कि सारे देश तथा विदेशो मे प्रतिक्रिया हुई।

दूसरी बार

वहाँ से हरियाणा तथा पजाब के विभिन्न स्थानो पर अपना सन्देश देते हुए आचार्यश्री वर्षावास करने के लिए पुनः दिल्ली पधारे। वह उनकी देश के चारित्रिक उत्थान के लिए की गई प्रथम यात्रा कही जा सकती है। उसमे उन्होने जन-साधारण से लेकर राष्ट्र के कर्णधारो तक अणुव्रत-आन्दोलन की विचारधारा को पहुँचाया।

उसी यात्रा मे उनका राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू तथा आचार्य विनोबा भावे आदि के साथ आन्दोलन तथा राष्ट्र की नैतिक और चारित्रिक स्थितियो के विषय मे प्रथम विचार-विमर्श हुआ। आचार्यश्री की उस प्रथम यात्रा का महत्त्व यदि अति संक्षिप्त शब्दो मे कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि उनकी उस यात्रा ने भारतीय जन-मानस को यह विश्वास करा दिया कि आध्यात्मिक दुर्भिक्षता के अवसर पर आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन के रूप मे एक जीवनदायी वरदान लेकर आये हैं।

तीसरी बार

उस यात्रा के लगभग पाँच वर्ष बाद आचार्यश्री तीसरी बार दिल्ली मे फिर गये। प्रथम यात्रा की तुलना मे उस समय बहुत बड़ा अन्तर आ गया था। पहले-पहल जहाँ आचार्यश्री तथा अणुव्रत-आन्दोलन को प्रचण्ड विरोध सहना पड़ा था, तरह-तरह की आशकाओ का सामना करना पड़ा था, साम्प्रदायिक संकीर्णता, धार्मिक गुटबन्दी तथा पूंजीपतियो का राजनैतिक स्टण्ट होने के आरोप झेलने पड़े थे; वहाँ तीसरी बार की यात्रा मे उनका आशातीत स्वागत और कल्पनातीत समर्थन किया गया। प्रथम बार ही आचार्यश्री की वाणी ने राजधानी के आध्यात्मिक व

राजधानी के अनेक विशिष्ट नेता तथा कार्यकर्ता आचार्यश्री के सम्मुख यह अनुरोध करते रहे थे कि वि०स० २०१३ का वर्षा-काल वे दिल्लीमे ही बितायें। किन्तु अनेक कारणो से आचार्यश्री उस अनुरोध को स्वीकार नही कर सके और उन्होंने वह वर्षा-काल सरदारशहर मे बिताया। वहां उन लोगो का यह निवेदन रहा कि वर्षा-काल समाप्ति के तत्काल बाद यदि आचार्यश्री दिल्ली पहुँच जायें तो उन सभी सास्कृतिक कार्यक्रमो तथा जन-सम्पर्क का सहज प्राप्य लाभ अणुव्रत-आन्दोलन के लिए विशेष उपयोगी हो सकता है।

ग्यारह दिनों में

आचार्यश्री को उन लोगो का सुझाव उपयुक्त लगा। वे दिल्ली की तीसरी यात्रा का वातावरण बनाने लगे। उन्होंने इस विषय मे मुनिजनो से आवश्यक विचार-विनिमय किया और दिल्ली-यात्रा की घोषणा कर दी। चातुर्मास समाप्त होते ही उन्होने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। अपने एक प्रवचन मे उन्होने दिल्ली-यात्रा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा था—"मेरा वहाँ जाने का उद्देश्य देश-विदेश से आये लोगो से सम्पर्क करना और दिल्लीवासियों की प्रार्थना पूरी करना है। वहाँ के नेताओ का भी खयाल है कि मेरा वहा जाना उपकारक हो सकता है[1]।"

आचार्यश्री को वहाँ जिन कार्यक्रमो मे भाग लेना था, उनकी तिथियां काफी पहले से निश्चित हो चुकी थीं। उनमे परिवर्तन की गुजायश नहीं थी। समय बहुत कम था और मार्ग बहुत लम्बा। सरदारशहर से दिल्ली लगभग दो-सौ मील है। आचार्यश्री लम्बे विहार करते हुए सिर्फ ग्यारह दिनों मे वहाँ पहुँच गए।

विभिन्न सम्पर्क

जिस उद्देश्य को लेकर वे दिल्ली गये थे; वह आशातीत रूप से

१. नव निर्माण की पुकार, पृ० १०

आचार्यश्री के प्रवचन मुख्यत अणुव्रत-विचार-प्रसार के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। 'अणुव्रत-सेमिनार' का उद्‌घाटन अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-नामा विद्वान् डॉ० लूथर इवान्स ने, मैत्री-दिवस का उद्‌घाटन राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने तथा चरित्र-निर्माण सप्ताह का उद्‌घाटन प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने किया था।

जीत लिया

दिल्ली के वे चालीस दिन आचार्यश्री ने इतनी व्यस्तता में बिताये थे कि उनके पास प्राय. अतिरिक्त समय बच ही नहीं पाता था, फिर भी वे वहाँ के नागरिकों की आध्यात्मिक और नैतिक भूख को पूरा नहीं कर सके। उन्होंने मर्यादा-महोत्सव की स्वीकृति सरदारशहर के लिए पहले ही दे दी थी, अत. उससे अधिक ठहरना वहाँ सम्भव नहीं था। वह स्वल्पकालीन प्रवास सभी दृष्टियों से इतना प्रभावक रहा कि सुप्रसिद्ध पत्रकार श्रीसत्यदेव विद्यालंकार ने उसकी तुलना रोम-सम्राट् जूलियस सीजर की मिश्र-विजय पर प्रस्तुत की गई रिपोर्ट के शब्दों से की है। जूलियस सीजर ने अपनी बात को अति संक्षेप में यों कहा था—"मैं गया, मैंने देखा और मैंने जीत लिया।" सत्यदेवजी कहते हैं— जूलियस सीजर के शब्दों को कुछ बदल कर हम आचार्यश्री की धर्मयात्राओं का विवरण इन शब्दों में देने का साहस कर रहे हैं—"वे आये, उन्होंने देखा और जीत लिया[1]।"

चौथी बार

उस यात्रा के बाद आचार्यश्री चौथी बार दिल्ली में तब गये जब कि वे कलकत्ता से राजस्थान आ रहे थे। परन्तु उस समय वे वहाँ केवल चार दिन ही ठहरे थे। वह प्रवास दिल्ली के लिए नहीं था, फिर भी पत्रकार-सम्मेलन, विचार-परिषद् तथा राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री आदि

---

१. नव निर्माण की पुकार, पृ० ६

से हुई मुलाकातों से वह अति स्वल्पकालीन प्रवास भी काफी महत्त्व का हो गया। दिल्ली की ये सभी यात्राएँ अपने-अपने प्रकार का पृथक्-पृथक् महत्त्व रखती हैं। इन सबमें अणुव्रत-आन्दोलन के कार्यक्रम को बहुत बल मिला है।

द्वितीय यात्रा

गुजरात की ओर

आचार्यश्री की द्वितीय यात्रा वि० सं० २०१० के राणावास मर्यादा-महोत्सव के बाद प्रारम्भ हुई। कुछ दिन कांठे के गाँवों में विचर कर वे आबू के मार्ग से गुजरात में प्रविष्ट हुए। आबू में रघनाथजी के मन्दिर में ठहरे। वहाँ से दूसरे दिन देलवाड़ा के प्रसिद्ध जैन-मन्दिरों में गये। प्राचीन काल के गौरव-मण्डित जैन-इतिहास के साक्षी बनकर खड़े ये मन्दिर अपनी अपूर्व भव्यता से मन को आकृष्ट करते हैं। शान्त और स्निग्ध वातावरण में प्रशान्त मुद्रासीन मूर्तियाँ भगवान् की साधना को अनायास ही स्मृति-पटल पर ला देती हैं। देलवाड़ा मार्ग में नहीं था। टेढ़े मार्ग से जाना पड़ा था, अतः वापिस आबू ही आ गये। आबू राजस्थानियों की ओर से दी गई विदाई और गुजरातियों की ओर से किये गये स्वागत का सधिस्थल बन गया।

वाव में

गुजरात में प्रवेश हुआ, उस समय तक गर्मी काफी तेज पड़ने लगी थी। लुएँ झुलसाने डालती थी; तो सूर्य की किरणों का ताप शरीर को पिघाल-पिघाल डालता था। फिर भी मंजिल पर मंजिल करती गई और आचार्यश्री वाव पहुँच गये। वाव अब थराद 'सब-डिवीजन' का प्रमुख शहर है, परन्तु पहले भूतपूर्व राजा राणा हरिसिंह की राजधानी था। राणा आचार्यश्री के प्रति बहुत श्रद्धा रखते रहे हैं। दूर-दूर तक आकर दर्शन भी करते रहे हैं। पाँच-छः वर्ष पूर्व वाव के श्रावकों तथा

राणा ने आचार्यश्री के दर्शन किये थे। तब बाव-पदार्पण के लिए काफी प्रार्थना की थी। वह प्रार्थना इतनी प्रभावशाली सिद्ध हुई कि आचार्यश्री ने उसी समय यह स्वीकृति दे दी थी कि उधर आयेंगे, तब यथावसर बाव भी आने का विचार रखेंगे। इतने लम्बे समय के बाद अब वह वचन पूर्ण हुआ।

सौराष्ट्र की प्रार्थना

वहां से आचार्यश्री अहमदाबाद पधार गए। वह क्षेत्र कच्छ, सौराष्ट्र तथा गुजरात—तीनों के ही लिए अनुकूल पड़ सकता है, अतः वर्षाकाल वहीं व्यतीत करने की प्रार्थना की गई, पर वह स्वीकृत नहीं हुई। सौराष्ट्र के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री ढेबर भाई की सौराष्ट्र-पदार्पण के लिए काफी आग्रह-भरी प्रार्थना थी, पर वह भी स्वीकृत नहीं हुई। आचार्यश्री ने पहले से ही अपने मन में निर्णय कर रखा था, उसी के अनुसार उन्होंने सूरत की ओर प्रस्थान कर दिया।

सूरत में

गुजरात में तेरापंथ के प्रतिष्ठापन में सूरत प्रमुख रूप से कार्य करने वाला क्षेत्र रहा है। धर्म-प्रचार में जी-जान लगाने वाले सुप्रसिद्ध श्रावक मगन भाई वहीं के थे। वहां केवल तीन दिन ठहरना हुआ। सम्भवतः वहां और अधिक विराजते, किन्तु उस क्षेत्र की वर्षा ऋतु के क्रम को देखते हुए शीघ्र ही बम्बई पहुंच जाना आवश्यक था।

बम्बई की ओर

बम्बई की ओर विहार करते हुए आचार्यश्री प्रतिदिन प्रायः पन्द्रह-सोलह मील चला करते; फिर भी मार्ग में वर्षा शुरू हो गई। उससे गर्मी की तीव्रता से तो कुछ छुटकारा मिला, पर दूसरी अनेक दुविधाएं पैदा हो गईं। वर्षा के कारण विहार का समय बिलकुल अनिश्चित हो गया। कभी समय पर विहार हो जाता और कभी नहीं। मार्ग

कड़ाका था। पर कभी मध्याह्न में और कभी अपराह्न में चलना पड़ता। नंगे पाँवों से चलने के लिए रेल की पटरी का सहारा लिया गया, किन्तु वहाँ कंकरों के मारे पैर छलनी हो जाते। धीरे-धीरे गर्मी से भीगी हुई बिजली सिट्टी पैरों में इतनी मात्रा में चिपक जाती कि उनका भार महसूस होने लगता। इसी प्रकार की अनेक कठिनाइयों को पार करते हुए आचार्यश्री बम्बई के एक उपनगर 'बोरीवली' पहुँच गए। तब तक वे लगभग एक हजार बीस कोस चल चुके थे। उनकी अद्भुत यात्रा का यहाँ एक चरण सम्पन्न हो गया।

नौ महीने

चातुर्मासिक काल से पूर्व तथा पश्चात् बम्बई के विभिन्न उपनगरों में रहना हुआ। वर्षा-काल सिक्कानगर में बिताया। मर्यादा-महोत्सव के लिए भी पुनः सिक्कानगर आये। लगभग नौ महीने का यह प्रवास हुआ। उस प्रवास-काल के प्रारम्भिक महीनों में ज्यों-ज्यों कार्य बढ़ा, त्यों-त्यों एक ओर तो जनता आकृष्ट हुई, पर दूसरी ओर कुछ व्यक्तियों द्वारा विरोध भी हुआ। वहाँ के कुछ दैनिक पत्र ऐसे व्यक्तियों के हाथ में थे; जो आचार्यश्री तथा उनके मिशन से विरोध रखते थे। धीरे-धीरे उन लोगों को यह पता लग गया कि आचार्यश्री का विरोध कर वे जन-दृष्टि में अपने पत्र के ही महत्त्व को गिरा रहे हैं। फलतः पिछले महीनों में विरोध की तीव्रता मन्द हो गई।

मर्यादा-महोत्सव के बाद आचार्यश्री ने उस यात्रा का दूसरा चरण प्रारम्भ किया। उस समय उन्हें चौपाटी पर विदाई दी गई। एक ओर चौपाटी का विशाल समुद्र था तथा दूसरी ओर जन-समुद्र था। उस समय दोनों ही उद्वेलित थे। एक वायु से तो दूसरा विदाई के वातावरण से। लोकमान्य तिलक की मानवाकार पाषाण-मूर्ति उन दोनों की ही समस्याओं को समझने का प्रयत्न करती हुई-सी पास में खड़ी थी। लोगों के मन में उस समय एक ओर कृतज्ञता के भाव तथा दूसरी ओर

विरह के भाव उमड़ रहे थे, किन्तु आचार्यश्री उन दोनों से अलिप्त रहकर आगे बढ़ने को उद्यत हुए।

पूना में

वे पूना पधारे। पूना को दक्षिण भारत की काशी कहा जा सकता है। वहाँ संस्कृत के धुरीण विद्वान् काफी संख्या में हैं। वहाँ के विद्या-व्यसनी कुछ व्यक्तियों ने तो अपना जीवन ही इस कार्य में झोंक दिया है। आचार्यश्री के पदार्पण से वहाँ का सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्र मानो एक सुगन्ध से महक उठा। यद्यपि वहाँ का प्रवास-काल अति संक्षिप्त था, फिर भी स्थानीय विद्वानों से परिचय की दृष्टि से वह बहुत महत्त्वपूर्ण रहा।

एलौरा और अजन्ता में

वहाँ से महाराष्ट्र के विभिन्न गाँवों में विहार करते हुए आचार्यश्री एलौरा तथा अजन्ता की सुप्रसिद्ध गुफाओं में पधारे। ये दोनों ही स्थल प्राकृतिक दृष्टि से अत्यन्त रमणीय हैं। ये गुफाएँ वहाँ उस पहाड़ को उत्कीर्ण करके ही बनाई गई हैं। वहाँ की उत्कीर्ण मूर्तियाँ बहुत ही कलापूर्ण और सजीव हैं। उन्हें प्राचीन स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। एलौरा में जहाँ जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों ही संस्कृतियों की गुफाएँ तथा मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं; वहाँ अजन्ता में केवल बौद्ध मूर्तियाँ ही हैं। उनमें बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनाएँ तथा जातक कथाएँ आलिखित तथा उत्कीर्ण हैं। आलिखित चित्रों का रंग बहुत प्राचीन होने पर भी नवीन-सा लगता है। कई मूर्तियाँ इस प्रकार के कौशल से उत्कीर्ण की गई हैं कि उन्हें विभिन्न तीन कोणों से देखने पर तीन विभिन्न आकृतियाँ दिखाई पड़ती हैं। वहाँ के कई स्तम्भ ऐसे हैं कि उन्हें हाथ से बजाने पर तबले की-सी ध्वनि उठती है। वहाँ मनुष्यों तथा पशुओं की तो अनेक भावपूर्ण मुद्राएँ अंकित की गई हैं; किन्तु बेल-

जन-सम्पर्क हुआ; वहाँ छोटे-छोटे गाँवों में भी वह कम नहीं हुआ। पर मानस-सम्पर्क की जहाँ तक बात है; वहाँ शहरों की अपेक्षा गाँव सदैव आगे रहे हैं। शहरों की जनता जहाँ सभ्यता, शिष्टता और भारी-भरकम शब्दों के क्रमिक विधि-विधानों के माध्यम से बात करती है; वहाँ ग्रामीण जनता सीधे मन से सम्बद्ध सरल और आडम्बरहीन ढंग से बात करना पसन्द करती है। ग्रामवासियों का व्यवहार यद्यपि असभ्य और अशिष्ट नहीं होता, परन्तु वह सभ्यता और शिष्टता को भाषा में भी नहीं बंधता। वह कुछ अपने ही प्रकार का विलक्षण भाव होता है। उसे नजदीक से पहचानने के लिए यदि कोई शब्द प्रस्तुत करना ही हो तो उसे 'सहज भाव' कहा जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से ग्रामीण जन अवश्य ही गरीब होते हैं, परन्तु सहजता और नम्रता के तो इतने धनी होते हैं कि उन जैसा धनी शहर में चिराग लेकर खोजने पर भी मिलना कठिन है। आचार्यश्री के सम्पर्क में दोनों ही प्रकार के व्यक्ति आते रहे हैं। वे उनकी प्रकृति-भिन्नता से बहुत अच्छी तरह परिचित हैं। दोनों की विभिन्न समस्याओं का भी उन्हें पता है। वे उन दोनों के लिए मार्ग-दर्शन देते हैं, अतः दोनों के लिए ही समान रूप से श्रद्धा-भाजन बन गये हैं।

विहार में

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् आचार्यश्री कानपुर से चले। बंगाल पहुँचने का लक्ष्य सामने था। बिहार मार्ग में पड़ता था। क्रमश: वे चले , बिहार-भूमि में प्रविष्ट हुए। वह भगवान् महावीर की जन्म-भूमि और निर्वाण- भूमि होने के साथ उनकी मुख्य तपोभूमि भी रही है।

तीर्थ स्थानों में

वहाँ आचार्यश्री पटना, पावा, नालन्दा, राजगृह आदि ऐतिहासिक क्षेत्रों में भी गये। नालन्दा में सरकार द्वारा स्थापित 'नव नालन्दा महाविहार' एक महत्त्वपूर्ण विद्या-संस्थान है। पाली भाषा के अध्ययनार्थ

वह एक तीर्थ का रूप लेता जा रहा है। नालन्दा में बौद्ध तथा जैन विद्वानों द्वारा आचार्यश्री का बड़ा भावभीना स्वागत किया गया। राजगृह में जैन संस्कृति-सम्मेलन रखा गया। उसमें अनेक विद्वानों ने भाग लिया। दोनों श्रमण-परम्पराओं के ये दोनों विभिन्न तीर्थ-स्थान परस्पर बहुत समीप हैं।

भय और आग्रह

शहरों की स्थिति से वहाँ गाँवों की स्थिति भिन्न थी। गाँवों में जैन साधुओं को बहुत कम लोग जानते हैं, प्राय नहीं ही जानते, अतः ठहरने के लिए स्थान आदि की बड़ी दिक्कतें रहती। साधुओं का परिचय न होने के कारण कहीं-कहीं आचार्यश्री के साथ चलने वाले काफिले को भी इसी सन्देह की दृष्टि से देखा जाता। कहीं-कहीं यह भय भी स्थान देने में बाधक बनता कि इतने व्यक्तियों को कहीं भोजन कराना न पड़ जाये? परन्तु उन लोगों का वह भय तब निर्मूल सिद्ध हो जाता, जबकि आचार्यश्री के साथ चलने वाले गृहस्थ अपनी रोटी आप पकाते। उन लोगों पर गाँव पर किसी प्रकार का कोई भार नहीं होता। रात को आचार्यश्री उपदेश देते, भजन सुनाते, सत्य की प्रेरणा देते और दुर्व्यसन छोड़ने को उत्साहित करते। लोगों को तब अपने पूर्वकृत व्यवहार पर पछतावा होता। जो लोग पहले दिन स्थान देना तक नहीं चाहते, वे ही दूसरे दिन अधिक ठहरने का आग्रह करने लगते।

बंगाल में

बिहार को पार कर आचार्यश्री बंगाल में प्रविष्ट हुए। सैंथिया में मर्यादा-महोत्सव किया। बंगाल में राजस्थान के जैन लोग बहुत बड़ी संख्या में रहते हैं। उनमें अधिकांश आचार्यश्री को बहुत श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वहाँ के काफी लोग ठेठ कानपुर से ही आचार्यश्री के साथ थे।

कलकत्ता में

भारत की महानगरी कलकत्ता के लोगों का प्रारम्भ से ही यह आग्रह था कि आचार्यश्री का वहाँ पदार्पण हो। उनकी प्रार्थना को मान्य करते हुए आचार्यश्री ने जब कलकत्ता में प्रवेश किया, तब वहाँ के जन-समुदाय का हर्ष देखने योग्य था। प्रवेश के समय आया हुआ जन-समुद्र सचमुच ही अगाध समुद्र के समान बन गया था।

कलकत्ता पहुंचने पर वे कुछ दिनों तक विभिन्न उपनगरों में रहे और बाद में वर्षा-काल व्यतीत करने के लिये 'बड़ा बाजार' क्षेत्र में आ गए। तेरापंथी महासभा-भवन में ठहरे। प्रवचन वहाँ से कुछ ही दूर बनाये गए विशाल अणुव्रत-पण्डाल में हुआ करता था।

उपस्थिति

प्रतिदिन के प्रवचन में उपस्थिति प्रायः सात-आठ हजार व्यक्तियों की हो जाया करती थी। रविवार को इससे भी अधिक होती थी। कलकत्ता जैसे व्यस्त व्यापारिक क्षेत्र में आर्थिक विषय के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय में अधिक उत्साह कम ही देखने को मिलता है, किन्तु वहाँ वह पर्याप्त देखा जा सकता था। जन-जागृतिमूलक कार्य भी वहाँ बड़े उत्साह से सम्पन्न किये जाते रहे। वहाँ के निम्न-वर्ग से लेकर आभिजात्य-वर्ग तक के लोग आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। जन-सम्पर्क तथा उससे मिलने वाले श्रेयोभाग ने अनेक व्यक्तियों को ईर्ष्यालु भी बनाया। ऐसे व्यक्तियों ने अपनी शक्ति का उपयोग आचार्यश्री के विरुद्ध वातावरण बनाने में किया। परन्तु उससे आचार्यश्री क्यों घबराते ? वे अपना काम करते रहे और आचार्यश्री अपना।

चातुर्मास-समाप्ति के बाद आचार्यश्री वहाँ से वापिस चले; तो बिहार, उत्तरप्रदेश, दिल्ली होते हुए हाँसी में आकर मर्यादा-महोत्सव किया। वहीं उस प्रलम्ब यात्रा की समाप्ति समझी जा सकती है।

चतुर्थ यात्रा

अन्तर-काल

इन विशिष्ट यात्राओं के अतिरिक्त आचार्यश्री ने जो परिव्रजन किया है, उसे मैंने चतुर्थ यात्रा के रूप में मान लिया है। उपर्युक्त तीनों यात्राओं से पूर्व आचार्यश्री लगभग बारह वर्ष तक राजस्थान के बीकानेर डिवीजन में विचरते रहे। वह समय उन्होंने मुख्यतः संघ के विद्या-विकास पर ही लगाया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी हर एक यात्रा राजस्थान से ही प्रारम्भ की है, अतः एक यात्रा से दूसरी यात्रा का अन्तर-काल राजस्थान के विहार का ही काल रहा है। काल-व्यवधान को गौण रखकर यहाँ उनकी इस यात्रा को एक रूप में ही देखा गया है।

राजस्थान में

राजस्थान को प्रकृति ने विभिन्न परिस्थितियाँ प्रदान की हैं। कहीं वह बालू-प्रधान है, कहीं पर्वत-प्रधान और कहीं समतल। कहीं ऐसा रेगिस्तान है कि हरियाली देखने को भी कठिनता से ही मिलती है; तो कहीं खूब हरा-भरा भी है। आचार्यश्री का पाद-विहार यहाँ के बीकानेर, जोधपुर, अजमेर, उदयपुर और जयपुर डिवीजनों में ही बहुधा होता रहा है।

अजस्र-स्रोत

इस प्रकार उनकी यात्रा का स्रोत अजस्र चालू है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तथा एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में वे उसी सहज भाव से आते-जाते रहते हैं; जैसे कि कोई व्यक्ति अपने मकान के एक कमरे से दूसरे कमरे में जाना-आना रहता है। कोई विश्राम, अनभावन या परायापन नहीं। कोई थकान नहीं; तो कोई समाप्ति भी नहीं।

: ७ :

जन-सम्पर्क

तीन विभाग

आचार्यश्री का जन-सम्पर्क व्यापक है। "जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ"[1] अर्थात्— "किसी बड़े आदमी को जो मार्ग बतलाये वही एक गरीब आदमी को भी" इस आगम-वाक्य को वे अपना प्रकाश-स्तम्भ बनाकर चलते हैं। आध्यात्मिकता और नैतिकता के मार्ग का लक्ष्य सभी के लिए एक है। कौन कितना अपना सकता है या किसको कितनी साधना की आवश्यकता है, यह अवश्य व्यक्तिगत स्थितियों पर निर्भर कर सकता है। आचार्यश्री के सम्पर्क मे आने वाले व्यक्तियो की विभिन्न स्थितियो के आधार पर उनके जन-सम्पर्क को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है १. साधारण जन-सम्पर्क, २. विशिष्ट जन-सम्पर्क और ३. प्रश्नोत्तर। 'साधारण जन-सम्पर्क' से तात्पर्य है— बहुधा सम्पर्क मे आते रहने वाले जन-समुदाय का सम्पर्क। इसी प्रकार 'विशिष्ट जन सम्पर्क' से तात्पर्य है—जिनका समाज मे विशिष्ट स्थान है और जो क्वचित् ही सम्पर्क मे आ सकते है, उनका सम्पर्क। 'प्रश्नोत्तर' मे देशी विदेशी जिज्ञासुओ के प्रत्यक्ष या पत्रादि के माध्यम से किये गये प्रश्न और आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर हैं।

साधारण जन-सम्पर्क

निष्काम वृत्ति से

आदिवासी से लेकर राजनेता तक उनके सम्पर्क में आते हैं, अपनी

---

१. आचारांग सूत्र, श्रु त० १, अ० २, उ० ६

बात कहते हैं और मार्ग-दर्शन भी पाते हैं। पारिवारिक कलह से लेकर सामाजिक कलह तक की समस्याएं उनके सामने आती हैं। न्यायालयों में वर्षों तक जो कलह नहीं निपटते वे कुछ ही समय में आचार्यश्री के मार्ग-दर्शन से निपटते देखे गए हैं। कहीं न भी निपटे, तो आचार्यश्री को उसका कोई क्षोभ नहीं होता, कलह-निवारण का प्रयास करना वे अपना कर्तव्य मानते हैं। फैसला हो जाये तो उन्हें उन लोगों से कोई पारिश्रमिक या भेंट लेनी नहीं है और न हो तो उनके पास से कुछ जाता नहीं है। निष्काम वृत्ति से जितना होता है या किया जा सकता है, उसी में वे आत्म-तुष्टि का अनुभव करते हैं। यहाँ उनके साधारण जन-सम्पर्क की कुछ घटनाएँ उद्धृत की जाती हैं।

एक पुकार

मेवाड़ में भील जाति के लोग काफी बड़ी संख्या में रहते हैं। वे अपने-आपको भील के स्थान पर 'गमेती' कहना अधिक पसन्द करते हैं। मेवाड़ के महाजनों ने गरीब तथा भोले लोगों को ब्याज आदि से काफी दबा रखा है। तरह-तरह से वे लोग उन पर अन्याय भी करते रहते हैं। आचार्यश्री जब वि० सं० २०१७ में मेवाड़ गये तब 'राजनगर' के आस-पास के गमेतियों ने अपनी दशा को आचार्यश्री के सम्मुख रखा था। वे अपनी दशा और महाजनों के अत्याचारों के विषय में चार पृष्ठ का एक पत्र भी लिख कर लाये थे। उसे उन्होंने प्रस्तुत किया। आचार्यश्री ने उस विषय में महाजनों को कहा भी तथा कुछ व्यक्तियों को एतद्-विषयक दोनों पक्षों की पूरी जानकारी के लिए वहाँ छोड़ा भी। उस पत्र के कुछ अंश इस प्रकार हैं—"श्री श्री १००८ श्री श्री श्री आचारज तुलसीगणजी पुजजीराज महाराज, गमा री अरजी आपा महाराजजी पुजजी महाराज से दुखी (दुखियों) की पुकार

नरक में तणा, अन्न नाथ महाराज पुजजीराजां का सेवगा गरीब गमेती री हेलो अरज सुणेगा, अबार (इणवार) लो लेवा। अरजदार रो

भरोसो है। गमेली जनता री हाथ जोड़कर के अरज है के मारी गरीब जाती बोत दुखी है।" कुछ महाजनों के नाम देकर आगे लिखा है—"फरजी जुदा-जुदा खत मांडकर गरीबां रे माग मे अमी ले लीदी है और गायां, भैसां, बकरयां बी ले लीदी है। बडा भारी जुलम कीदा है, जुदा-जुदा दावा करके कुरकी करावे ने जोर-जबरदस्ती करने वसूली करे है। गरीबां ने ५) रुपया देने ५००) रुपया रा खत मांडे। सो म्हारा सब पंचा (पंचो) री राय है, के जलदी सूं जलदी पद मंगाकर देखायो जावे, जलदी सूं जलदी फैसला दिया जावे।

द० दलीग सब जन्ता (जनता) रा केवा सुं
२०१७ जेठ सुद सातम[1]"

इस पत्र का भावार्थ है—"आचार्यश्री से दुःखियों की पुकार-हमें विश्वास है कि आप हम गरीबों की पुकार अवश्य सुनेंगे, और फैसला कर हमें उचित न्याय देंगे। गमेली जनता बहुत दुखी है अमुक-अमुक व्यक्तियों ने झूठे खत लिखकर हमारे खेत ले लिये हैं पशु भी ले लिये हैं। झूठे दावे कुर्की करा दी जाती है और फिर बल पूर्वक उसको वसूला जाता है। पाँच रुपये देकर पाँचसौ लिख लिये जाते हैं, अतः हमारे पंचों की राय है कि आप हमारा फैसला करें।

हस्ताक्षर—'दलीग' सब जनता के कहने से
वि० स० २०१७ ज्येष्ठ शुक्ला सप्तमी"

हरिजनों का पत्र

मारवाड के काणाना गाँव मे मेघवाल जाति के हरिजन व्यक्तियों द्वारा भी ऐसा ही एक पत्र आचार्यश्री के चरणों में प्रस्तुत किया गया। उसमें कुछ महाजनो के व्यक्तिगत नाम लिखकर अपनी पुकार की गई थी। उस पत्र के कुछ अंश इस प्रकार हैं—"हम मेघवश सूत्रकार-जाति

१. जैन भारती, ६ अक्टूबर १६६०

जन्म से यहीं के निवासी हैं। यहाँ के महाजन हमारे पर लेन-देन को लेकर काफी ज्यादती करते हैं। अतः उन्हें समझाया जाये। वे लोग बेईमानी कर हमें हर समय दुःख देते हैं। यदि यह भार हम पर कम हुआ तो हम ऊपर उठ सकते हैं।

साथ ही साथ वे इतनी छुआछूत रखते हैं कि हमें दुकानों पर चढ़ने तक का अधिकार नहीं। क्या हम मानव-पुत्र नहीं हैं?

आपके उपदेश बड़े हितकर व मानव-कल्याणमूलक हैं। हम आपके उपदेशों पर चलेंगे और आपके अणुव्रत-आन्दोलन के नियमों की कभी भी अवहेलना नहीं करेंगे।

हम हैं आपके विश्वासपात्र
मेघवंशी समाज (काणाना)[1]"

आचार्यश्री ने उस पत्र का अपने व्याख्यान में जिक्र किया और यह प्रेरणा दी कि किसी को हीन मानना बहुत बुरा है। जैन होने के नाते लेन-देन में धोखा, अधिक ब्याज और झूठे मुकदमे भी तुम लोगों के लिए अशोभनीय हैं। उस व्याख्यान का लोगों पर अच्छा असर रहा। अनेक व्यक्तियों ने अपने आपको उन दुर्गुणों से बचाने का संकल्प किया।

छात्रों का अनशन

काणाना के महाजनों में भी परस्पर झगड़ा था। वर्षों से वे दो गुटों में विभक्त थे। आचार्यश्री का पदार्पण हुआ, तब स्थानीय छात्रों ने उस अवसर का लाभ उठाने की सोची। वे गाँव की उस दलबन्दी को तोड़ना चाहते थे। लगभग सवासौ छात्र एकत्रित होकर एकता-सम्बन्धी नारे लगाते हुए आचार्यश्री के पास आये। उन्होंने आचार्यश्री से निवेदन किया कि जब तक पंच मिलकर फैसला नहीं कर लेंगे; तब तक हम अनशन करेंगे। आचार्यश्री से भी अनुरोध किया कि वे तब तक के लिए

---

१. जैन भारती, २३ अप्रैल, १९६१

भरोसो है। गमेंनी जनता री हाथ जोड़कर के अरज है के म्हारी गरीब जनता घणी दुखी है।" कुछ महाजनों के नाम देकर आगे लिखा है—"इणां जुदा-जुदा खत मांडकर गरीबां रे नाम से जमीं ने लीनी है और गाय, भैंसा, बकरयां भी ले लीधी है। बड़ा भारी अनाय कीदो है, जुदा-जुदा दावा करने कुरकी कराने ने जोर-जबरदस्ती करने वसूली करे है। गरीब ने ५) रुपया देने १००) रुपया रा खत मांडे। सो म्हारा सब पंचा (पंचों) री राय है, के जलदी सूं जलदी पग मेलाकर देखाया जावें, जलदी सूं जलदी फैसला दिया जावें।

द० दलील सब जन्ता (जनता) रा केवा सूं
२०१७ जेठ सुद सातम"

इस पत्र का भावार्थ है—"आचार्यश्री से दुःखियों की पुकार—हमें विश्वास है कि आप हम गरीबों की पुकार अवश्य सुनेंगे, और फैसला कर हमें उचित न्याय देंगे। गमेंनी जनता बहुत दुखी है। अमुक-अमुक व्यक्तियों ने झूठे खत लिखकर हमारे खेत ले लिये हैं, पशु भी ले लिये हैं। झूठे दावे कुर्की करा दी जाती है और फिर बल-पूर्वक उसको वसूला जाता है। पांच रुपये देकर पांच सौ लिख लिये जाते हैं; अतः हमारे पंचों की राय है कि आप हमारा फैसला करें।

हस्ताक्षर—'दलील' सब जनता के कहने से
वि० सं० २०१७ ज्येष्ठ शुक्ला सप्तमी"

हरिजनों का पत्र

मारवाड़ के काणाना गांव में मेघवाल जाति के हरिजन व्यक्तियों द्वारा भी ऐसा ही एक पत्र आचार्यश्री के चरणों में प्रस्तुत किया गया। उसमें कुछ महाजनों के व्यक्तिगत नाम लिखकर अपनी पुकार की गई थी। उस पत्र के कुछ अंश इस प्रकार हैं—"हम मेघवंश सूत्रकार-जाति

१. जैन भारती, ९ अक्टूबर १९६०

जन्म से यहीं के निवासी हैं। यहाँ के महाजन हमारे पर लेन-देन को लेकर काफी ज्यादती करते हैं। अतः उन्हें समझाया जाये। वे लोग बेईमानी कर हमें हर समय दुःख देते हैं। यदि यह भार हम पर कम हुआ तो हम ऊपर उठ सकते हैं।

साथ ही साथ वे इतनी छुआछूत रखते हैं कि हमें दुकानों पर चढ़ने तक का अधिकार नहीं। क्या हम मानव-पुत्र नहीं हैं?

आपके उपदेश बड़े हितकर व मानव-कल्याणमूलक हैं। हम आपके उपदेशों पर चलेंगे और आपके अणुव्रत-आन्दोलन के नियमों की कभी भी अवहेलना नहीं करेंगे।

हम हैं आपके विश्वासपात्र
मेघवंशी समाज (कारणाना)[१]"

आचार्यश्री ने उस पत्र का अपने व्याख्यान में जिक्र किया और यह प्रेरणा दी कि किसी को हीन मानना बहुत बुरा है। जैन होने के नाते लेन-देन में धोखा, अधिक ब्याज और झूठे मुकदमे भी तुम लोगों के लिए अशोभनीय हैं। उस व्याख्यान का लोगों पर अच्छा असर रहा। अनेक व्यक्तियों ने अपने आपको उन दुर्गुणों से बचाने का सकल्प किया।

छात्रों का अनशन

काणाना के महाजनों में भी परस्पर झगड़ा था। वर्षों से वे दो गुटों में विभक्त थे। आचार्यश्री का पदार्पण हुआ; तब स्थानीय छात्रों ने उस अवसर का लाभ उठाने की सोची। वे गाँव की उस दलबन्दी को तोड़ना चाहते थे। लगभग सवासौ छात्र एकत्रित होकर एकता-सम्बन्धी नारे लगाते हुए आचार्यश्री के पास आये। उन्होंने आचार्यश्री से निवेदन किया कि जब तक पंच मिलकर फैसला नहीं कर लेंगे; तब तक हम अनशन करेंगे। आचार्यश्री से भी अनुरोध किया कि वे तब तक के लिए

१. जैन भारती, २३ अप्रैल, १९६१

अपना व्याख्यान स्थगित रखे। उनके अनुरोध पर आचार्यश्री ने प्रवचन नहीं किया। अनेक वर्षों बाद आचार्यश्री आयें और वे प्रवचन भी न करें; यह बात सभी को अखरी। आखिर दोनों पक्षों के व्यक्ति मिले और शीघ्र ही समझौता हो गया। गाँव में पड़े दो तड़ मिट गये।

नाना का दोष

रावलिया में शोभालाल नामक एक चौदह वर्षीय बालक ने आचार्यश्री के हाथ में एक चिट्ठी दी।

आचार्यश्री ने पूछा—क्या है इसमें ?

उसने कहा—गुरुदेव ! मेरे नाना और गाँव वालों में परस्पर कलह चलता है। इस पत्र में उसे मिटाने की आपसे प्रार्थना की गई है।

आचार्यश्री ने चिट्ठी पढ़ी और उस बालक से ही पूछा—तुझे इसमें किसका दोष मालूम देता है ?

बालक ने कहा—अधिक दोष तो मेरे नाना का ही लगता है।

आचार्यश्री ने उसके नाना से कुछ बातचीत की और उसे समझाया। फलस्वरूप उसी रात्रि को वह झगड़ा मिट गया। प्रातः आचार्यश्री के सम्मुख परस्पर क्षमायाचना कर ली गई। जो व्यक्ति समूचे गाँव और पंचों की बात ठुकरा चुका था, वही आचार्यश्री की कुछ प्रेरणा पाकर सरल बन गया।

एक सामाजिक विग्रह

कुछ समय पूर्व थली के ओसवालों में 'देशी-बिलायती' का एक सामाजिक विग्रह उत्पन्न हो गया था। वह अनेक वर्षों तक चलता रहा। उसमें समाज को अनेक हानियाँ उठानी पड़ीं। एक प्रकार से उस समय समाज की सारी शृंखला ही टूट गई थी। धीरे-धीरे वर्षों बाद उसका उपरितन रोष और खिंचाव तो ठंडा पड़ गया, किन्तु उसकी जड़ नहीं गई। सामूहिक भोज आदि के अवसर पर उसमें अनेक बार नये अंकुर फूटते रहते थे।

वि० सं० १९९९ के चूरू-चातुर्मास में आचार्यश्री ने लोगों को एतद्-विषयक प्रेरणा दी। दोनों ही दलों के व्यक्तियों को पृथक्-पृथक् तथा सामूहिक रूप से समझाया। आखिर अनेक दिनों के प्रयास के बाद उन लोगों ने समझौता किया और आचार्यश्री के सम्मुख परस्पर क्षमा-याचना की। वह विग्रह चूरू से ही प्रारम्भ होकर समग्र थली में फैला था और संयोगवशात् चूरू में ही उसकी अन्त्येष्टि भी हुई।

ऐसे उदाहरण यह बतलाते है कि विभिन्न समाजो के व्यक्तियो पर आचार्यश्री का कितना प्रभाव है और वे सब उनके वचनो का कितना आदर करते है। अपने पारिवारिक तथा सामाजिक कलह को इस प्रकार उपदेशमात्र से मिटा लेना आचार्यश्री के प्रति रही हुई श्रद्धा से ही सम्भव है। यह श्रद्धा और विश्वास उनके नैरन्तरिक सम्पर्क से ही उद्भूत हुआ मानना चाहिए।

विशिष्ट जन-सम्पर्क

व्यापक सम्पर्क

आचार्यश्री का सम्पर्क जितना जन-साधारण से है, उतना ही विशिष्ट व्यक्तियों से भी। वे धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक दलबन्दी को प्रश्रय नही देते, पर परिचित सभी से रहना अभीष्ट समझते हैं। समाज तथा राष्ट्र के वर्तमान नेतृ-वर्ग से भी उनका प्रगाढ परिचय है। साहित्य-कारों तथा पत्रकारो से भी वे बहुधा मानवीय समस्याओ पर विचार-विमर्श करते रहते हैं। वे विचारों के आदान-प्रदान में विश्वास करते है, अत अनुकूल और प्रतिकूल बातो को समरसता से सुन लेने के अभ्यस्त हैं।

दूसरो के सुझावो में से ग्राह्य तत्त्व को वे बहुत शीघ्रता से पकड़ते है। वे जिस रसानुभूति के साथ राजनीतिज्ञों से बातें करते हैं, उतनी ही तीव्र रसानुभूति के साथ किसी साधारण गृहस्थ से। उनको जितना सहयोग मिला है; उससे कहीं अधिक उनकी आलोचनाएँ हुई हैं; फिर भी उनके सामर्थ्य ने कभी धैर्य नहीं खोया। तभी तो आलोचकों की संख्या

घटती गई है और समर्थकों की संख्या बढ़ती गई है।

दूरी व्यक्ति से पीछे होती है; पहले मन में होती है। अविश्वास या घृणा उसका माध्यम बनती है। जो न घृणा करता हो और न अविश्वास; वही उस खाई को पाट सकता है। आचार्यश्री ने उसे पाटा है। वे किसी को अपने से दूर नहीं मानते, किसी से घृणा नहीं करते और सभी का विश्वास खुलकर लेते हैं तथा देते हैं। विचार और विश्वास के आदान-प्रदान की कृपणता उन्हें प्रिय नहीं। इसीलिए उनके सम्पर्क का दायरा तथा उसकी गहराई निरन्तर बढ़ती रही है। जितने व्यक्तियों से उनका सम्पर्क हुआ है; उनका विवरण बहुत बड़ा है। उन सबका नामोल्लेख कर पाना सम्भव नहीं है; फिर भी दिग्दर्शन के रूप में कुछ व्यक्तियों का सम्पर्क-प्रसंग यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

जैनेन्द्रकुमारजी

जैनेन्द्रकुमारजी भारत के सुप्रसिद्ध साहित्यकारों में से एक हैं। गम्भीर चिन्तन और भावानुसारी शब्दाङ्कन; उनकी अपनी विशेषता है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति उनकी भावनाएँ बहुधा मुखर होती रहती हैं। तेरापंथ की एकता के प्रति उनके मन में आश्चर्य-गर्भा जिज्ञासाएँ उभरती हैं और उत्तर मांगती हैं। उन्होंने अपनी दार्शनिक पद्धति के आधार पर उन जिज्ञासाओं को उत्तर प्रदान किया है। आचार्यश्री के प्रति वे अतिशय आकृष्ट हैं। वे अनेक बार उनके सम्पर्क में आते रहे हैं। उनकी यह निकटता धीरे-धीरे ही सम्पन्न हुई है। पहले वे अपने आप में बहुत दूरी का अनुभव करते थे। अपनी प्रथम भेंट के विषय में लिखते हैं— "पहली भेंट में व्यक्ति से नहीं पा सका, गुरु के ही दर्शन हुए।" किन्तु वे ही अपनी दूसरी भेंट के विषय में लिखते हैं—"उस दिन से मैं तुलसीजी के प्रति अपने में आकर्षण अनुभव करता हूँ और उनके प्रति सराहना के भाव रखता हूँ।"..."उस परिचय को मैं अपना सद्भाग्य गिनता हूँ।" [illegible] और उनके विभिन्न कार्यक्रमों में बड़ी आत्मी-[illegible] से भाग लेते रहे हैं।

आचार्य कृपलानी

इसी प्रकार आचार्य कृपलानी से भी प्रथम परिचय अत्यन्त नीरस रहा था। वि०सं० २००४ मे जब वे कांग्रेस के अध्यक्ष थे, किसी कार्यवश फतहपुर आये थे। कुछ व्यक्तियो की इच्छा रही कि आचार्यश्री से कृपलानी जी का सम्पर्क हो सके तो अच्छा रहे। वे लोग फतहपुर गये और उन्हें रतनगढ ले आये। वे आचार्यश्री के पास आये तो सही; पर न आचार्य श्री उनकी प्रकृति से परिचित थे और न वे आचार्यश्री की प्रकृति से। जब उन्हें संघ का परिचय दिया जाने लगा तो वे बोले—"मैने तो अपना गुरु गाँधी को मान लिया है, अब आप मुझे क्या समझायेंगे?" और दूसरी बात चले, उससे पूर्व ही उन्होने यह भी कह दिया—"मैं तो सुनने के लिए नही; किन्तु सुनाने के लिए आया हू।" वे लगभग १० मिनट ठहरे होगे, किन्तु किसी पूर्व-आग्रह से भरे होने के कारण बात-चीत के क्रम मे कोई सरसता नही आ सकी।

वे ही कृपलानीजी जब वि० सं२०१३ मे दिल्ली मे दुबारा मिले, तब वह तनाव तो था ही नही अपितु अत्यन्त सौजन्य ने उसका स्थान ले लिया था। अणुव्रत-गोष्ठी मे भी उन्होने भाग लिया और बहुत सुन्दर बोले। उसके बाद सुचेताजी के साथ जब वे आचार्यश्री से मिले तो ऐसा लगा मानो प्रथम भेट वाले कृपलानी कोई दूसरे ही थे। आचार्यश्री ने जब प्रथम भेट की याद दिलाई तो वे हँस पड़े।

आचार्यश्री और डॉ० राजेन्द्रप्रसाद

भारतीय जनतंत्र के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद आध्यात्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे। उनकी विद्वता और पद-प्रतिष्ठा जितनी महत् थी; उतने ही वे नम्र थे। आचार्यश्री के प्रति उनके मन में बहुत आदर-भाव था। वे पहले-पहल जयपुर मे आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये। उस समय वे भारतीय विधान परिषद् के अध्यक्ष थे। उसके बाद वह सिलसिला चालू रहा और अनेक बार सम्पर्क तथा विचार-विमर्श करने

का अवसर प्राप्त होता रहा। वे अणुव्रत-आन्दोलन के प्रबल प्रशंसक थे। आचार्यश्री के सान्निध्य में मनाये गए प्रथम मैत्री-दिवस का उद्घाटन करते हुए उन्होंने कहा था कि आप यदि अणुव्रत-आन्दोलन में मुझे कोई पद देना चाहें तो मैं समर्थक का पद लेना चाहूँगा।

राष्ट्रपतिजी का आचार्यश्री से अनेक बार और अनेक विषयों पर वार्तालाप होता रहता था। उसमें से कुछ वार्ता-प्रसंग यहाँ दिये जाते हैं :

राजेन्द्र बाबू—इस समय देश को नैतिकता की सबसे बड़ी आवश्यकता है। स्वतन्त्रता के बाद भी यदि नैतिक स्तर नहीं उठ पाया तो यह देश के लिए बड़े खतरे की बात है।

आचार्यश्री—इस क्षेत्र में सबको सहयोगी बनकर काम करने की आवश्यकता है। यदि सब एक होकर जुट जायें तो यह कोई कठिन काम नहीं है।

राजेन्द्र बाबू—राजनैतिक नेताओं की बात आप छोड़िये। उनमें परस्पर बहुत विचार-भेद तथा बुद्धि-भेद है। इस वस्तुस्थिति के अन्दर रहकर इसे किस तरह संभाला जाये; यह विचारणीय है।

आचार्यश्री—जो नेता-गण आध्यात्मिकता में विश्वास करते हैं; वे सब सहयोग-भाव से इस कार्य में लग सकते हैं।

राजेन्द्र बाबू—सर्वोदय समाज भी इन कार्यों में रुचि रखता है, अत: आपका उससे सम्पर्क हो सके तो ठीक रहे।

आचार्यश्री—सबके उदय के लिए सबके सहयोग की आवश्यकता है। मैं ऐसे किसी भी सम्पर्क का प्रशंसक हूँ।[1]

आचार्यश्री और डा० राधाकृष्णन्

भारत के वर्तमान राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आचार्यश्री तथा उनके कार्यक्रमों में अच्छी रुचि रखते हैं। वि०सं० २०१३ में जब

1. वार्तालाप-विवरण

आचार्यश्री दिल्ली पधारे, तब उनसे मिले थे। उस समय वे उपराष्ट्र-पति के पद पर थे। वे अणुव्रत-गोष्ठी में भाग लेने वाले थे, किन्तु पत्नी का देहावसान हो जाने से नहीं आ सके थे। जब आचार्यश्री उनकी कोठी पर पधारे; तब वार्ताक्रम में उन्होंने कहा भी था कि मैं आपके किसी भी कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं हो सका।

उस समय आचार्यश्री के साथ उनका अनेक विषयों पर महत्वपूर्ण वार्तालाप हुआ। उसके कुछ अंश इस प्रकार है

डा० राधाकृष्णन्—जैन-मन्दिर में हरिजन-प्रवेश के विषय में आपका क्या अभिमत है?

आचार्यश्री—जहाँ धर्माभिलाषी व्यक्ति प्रवेश न पा सके, वह क्या मन्दिर है? किसी को अपनी अच्छी भावना को फलित करने से रोकना, मैं धर्म में बाधा डालना मानता हूँ। वैसे हम तो अमूर्तिपूजक हैं। जैनों में मुख्य दो परम्पराएँ हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। दोनों ही परम्पराओं में दो प्रकार के सम्प्रदाय है—एक अमूर्तिपूजक और दूसरा मूर्तिपूजक। जैन सम्प्रदायों में मान्यता के विषय में मौलिक दृष्टि से प्राय सभी एक-मत है। कुछ एक प्रसगो को लेकर थोड़ा पार्थक्य है, जो अधिकांश बाह्य व्यवहारों का है और क्रमश कम होता जा रहा है। अभी जैन-सेमिनार में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के साधुओं ने भाग लिया। वहाँ मुझे भी प्रमुख वक्ता के रूप में निमन्त्रित किया गया था और अच्छा सहिष्णुता का वातावरण बना था।

डा० राधाकृष्णन्—समन्वय का प्रयत्न तो होना ही चाहिए। आज के समय की यह सबसे बड़ी माँग है और इसी के सहारे बड़े-बड़े काम किये जा सकते है।

आचार्यश्री—आपका पहले राजदूत के रूप में और अब उपराष्ट्रपति के रूप में राजनीति में प्रवेश हमें कुछ अटपटा-सा लगा था कि एक दार्शनिक किधर जा रहे हैं, पर अब आपकी सांस्कृतिक रुचियों और

आप कामों को देखकर लगा कि यह तो एक प्राचीन प्रणाली का निर्वाह हो रहा है। वर्तमान की जो राजनीति है, उसमें कोई विचारक ही सुधार कर सकता है और उसे एक नया मोड़ दे सकता है। क्योंकि उसके पास सोचने की नयी पद्धति होती है और नया चिन्तन होता है। वह जहाँ भी जाता है, सुधार का काम शुरू कर देता है।

डा० राधाकृष्णन् - आज द्रव्य-हिंसा का तो फिर भी कुछ अंशों में निषेध हो रहा है, पर भाव-हिंसा का प्रसार तो और भी जोरों से चल रहा है, इसके निषेध के लिए कुछ प्रयत्न होना चाहिए।

आचार्यश्री — हाँ, अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा में सक्रिय है।

डा० राधाकृष्णन्—मैं ऐसा मानता हूँ कि जीवन-उदाहरण का जो असर होता है, वह उपदेश या बोध से नहीं होता। इसलिए आप जो काम करते हैं; उसका जनता पर स्वतः सुन्दर प्रभाव होता है? क्योंकि आपका जीवन उसके अनुरूप है[1]।

आचार्यश्री और जवाहरलाल नेहरू

आचार्यश्री का भारत के प्रधान मन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के साथ अनेक बार विचार-विमर्श हुआ है। प्रथम बार का मिलन वि०सं० २००८ में हुआ था। उस समय वे प्रायः मुनते ही अधिक रहे, परन्तु दूसरी बार जब वि०सं० २०१३ में मिलना हुआ तो काफी खुल कर बातें हुईं। आचार्यश्री ने उनसे यह कहा भी था—"मैं चाहता हूँ; आज हम स्पष्ट रूप से विचार-विमर्श करें। हमारा यह मिलन औपचारिक न होकर वास्तविक हो।" वस्तुतः वह बातचीत खुले दिमाग से हुई और परिणामदायक हुई।

आचार्यश्री ने बात का सिलसिला प्रारम्भ करते हुए कहा— हम जानते हैं कि गांधीजी व आप लोगों के प्रयत्नों से भारत को आजादी मिली। पर आज देश की क्या स्थिति है ? चरित्र गिरता जा रहा है।

---

१. नव निर्माण की पुकार

कुछेक व्यक्तियों को छोड़कर देश का चित्र खींचा जाये तो वह स्वस्थ नहीं होगा। यही स्थिति रही तो भविष्य कैसा होगा ? कोरी बातों से चरित्र उन्नत नहीं होगा। लोगों को चरित्र-सम्बन्धी कोई काम दिया जाये; यही मैं चाहता हूँ। अणुव्रत-आन्दोलन ऐसी ही स्थिति पैदा करना चाहता है। छोटे-छोटे व्रतों के द्वारा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना आवश्यक है। पाच वर्ष पूर्व मैंने आपको इसकी गतिविधि बताई थी। आपने सुना अधिक, कहा कम। आपने आज तक कुछ भी सहयोग नहीं दिया। सहयोग से मतलब हमें पैसा नहीं लेना है। यह आर्थिक आन्दोलन नहीं है।

प० नेहरू—मैं जानता हूँ, आपको पैसा नहीं चाहिए।

आचार्यश्री—इस आन्दोलन को मैं राजनीति में भी जोड़ना नहीं चाहता।

प० नेहरू—मैं तो राजनैतिक व्यक्ति हूँ, राजनीति से ओत-प्रोत हूँ, फिर मेरा सहयोग क्या होगा ?

आचार्यश्री—जैसे आप राजनैतिक है; वैसे स्वतन्त्र व्यक्ति भी है। हम आपके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का उपयोग चाहते है, राजनैतिक जवाहरलाल नेहरू का नहीं। पहली मुलाकात में आपने कहा था—'मैं उसे पढ़ूंगा' पता नहीं, आपने पढ़ा या नहीं।

प० नेहरू—मैंने यह पुस्तक (अणुव्रत-आन्दोलन) पढ़ी है, पर मैं बहुत व्यस्त हूँ। आन्दोलन के बारे में मैं कह सकता हूँ।

आचार्यश्री—आपने कभी कहा तो नहीं, क्या आप इस आन्दोलन की उपयोगिता नहीं समझते ?

प० नेहरू—यह कैसे हो सकता है ?

आचार्यश्री—हमारे सैकड़ों साधु-साध्वियाँ चरित्र-विकास के कार्य में सलग्न है। उनका आध्यात्मिक क्षेत्र में यथेष्ट उपयोग किया जा सकता है।

प० नेहरू—क्या 'भारत-साधु समाज' से आप परिचित हैं ?

आचार्यश्री—जिस भारत-सेवक-समाज के आप अध्यक्ष हैं; उससे

जो सम्बन्धित है; वही तो ?

पं० नेहरू—हाँ, भारत-सेवक-समाज का मैं अध्यक्ष हूँ। वह राजनैतिक संस्था नहीं है। उसी से सम्बन्धित वह 'भारत-साधु-समाज' है। आप श्री गुलजारीलाल नन्दा से मिले हैं ?

आचार्यश्री—पाँच वर्ष पहले मिलना हुआ था। भारत-साधु-समाज से मेरा सम्बन्ध नहीं है। जब तक साधु लोग मठों और पैसों का मोह नहीं छोड़ते; तब तक वे सफल नहीं हो सकते।

पं० नेहरू—साधुओं ने धन का मोह तो नहीं छोड़ा है। मैंने नन्दाजी से कहा भी था; तुम यह बना तो रहे हो; पर इसमें खतरा है।

आचार्यश्री—जो मैं सोच रहा हूँ; वही आप सोच रहे हैं। आज आप ही कहिये; उनसे हमारा सम्बन्ध कैसे हो ?

पं० नेहरू—उनसे आपको सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता भी नहीं है। साधु-समाज अगर काम करे तो अच्छा हो सकता है; ऐसी मेरी धारणा है। पर काम होना कठिन हो रहा है।

वार्तालाप की समाप्ति पर पंडितजी ने कहा—"आन्दोलन की गतिविधियों को मैं जानता रहूँ, ऐसा हो तो बहुत अच्छा रहे। आप नन्दाजी से चर्चा करते रहिये। मुझे उनके द्वारा जानकारी मिलती रहेगी। मेरी उसमें पूरी दिलचस्पी है[1]।"

आचार्यश्री और अशोक मेहता

समाजवादी नेता श्री अशोक मेहता ६ दिसम्बर १९५६ को प्रातःकालीन व्याख्यान के बाद आये। आचार्यश्री से विचार-विनिमय के प्रसंग में जो बातें चलीं; उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

श्रीमेहता—अणुव्रती व्रत लेते हैं; वे उनका पालन करते हैं या नहीं, इसका आपको क्या पता रहता है ?

---

1 नव निर्माण की पुकार

आचार्यश्री—प्रतिवर्ष होने वाले अणुव्रत-अधिवेशन में अणुव्रती परिषद् के बीच अपनी छोटी-छोटी गलतियों का भी प्रायश्चित्त करते हैं। इससे पता चलता है कि वे व्रत-पालन की दिशा में कितने सावधान हैं। कई लोग वापस हट भी जाते हैं। इससे भी ऐसा लगता है कि जो प्रतिवर्ष व्रत लेते हैं; वे उन्हें दृढ़ता से पालते हैं। अणुव्रतियों में अधिकांश जो हमारे सम्पर्क में आते रहते हैं; उनकी सार-संभाल तो मैं और सौ सवासौ जगह अलग-अलग घूमने वाले हमारे साधु-साध्वियाँ लेते रहते हैं। कठिनाइयों के कारण अगर कोई व्रत नहीं निभा सकता है, तो उसे अलग कर दिया जाता है और ऐसा हुआ भी है। इस पर से खरे उतरने वाले अणुव्रतियों का भाग अस्सी प्रतिशत रहता है।

हम नैतिक सुधार का जो काम कर रहे हैं; उसमें हमें सभी लोगों के सहयोग की अपेक्षा है। रुपये-पैसे के सहयोग की हमें अपेक्षा नहीं है। हम चाहते हैं कि अच्छे लोग यदि समय-समय पर अपने आयोजनों में इसकी चर्चा करते रहें; तो इससे आन्दोलन गति पकड़ सकता है। अतः हम आपसे भी चाहेंगे कि आप हमें इस प्रकार का सहयोग दें।

श्रीमेहता—उपदेश करने का तो हमारा अधिकार है नहीं; क्योंकि हम लोग राजनैतिक व्यक्ति हैं। राजनीति में जिस प्रकार हमने निर्लोभ सेवा की है, उस पर से हमें उसके सम्बन्ध में कहने का अधिकार है। पर धर्म का यह उपदेश नहीं कर सकते और करना भी नहीं चाहिए। वैसे तो मैं कभी-कभी इसकी चर्चा करता हूँ और आगे भी करता रहूँगा।

चुनाव के सम्बन्ध में किये जाने वाले कार्यक्रम को लेकर जब उन्हें उनकी पार्टी का सहयोग देने के लिए कहा गया तो उन्होंने कहा—मैं अभी यहाँ रहने वाला हूँ नहीं। हमारी पार्टी के दूसरे सदस्य इस कार्यक्रम में जरूर भाग लेंगे। पर काम केवल घोषणा से नहीं होने वाला है। इसके लिए तो खड़े होने वाले उम्मीदवारों और विशेषतः जनता को जागरूक बनाने की आवश्यकता है। अतः आप जनता में भी कार्य करें।

आचार्यश्री—जनता में हमारा प्रयास चालू है। इसको हम उम्मीदवारों में भी शुरू करना चाहते हैं'।

आचार्यश्री और सन्त विनोबा भावे

आचार्यश्री ने वि०सं० २००८ का वर्षा-वास दिल्ली में बिताया था। उसके पूर्ण होते ही उन्हें वहाँ से अन्यत्र विहार करना था। कुछ दिन पूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के साथ हुई बातचीत के प्रसंग में आचार्यश्री को पता चला कि विनोबाजी एक-दो दिन में ही दिल्ली पहुंचने वाले हैं। राष्ट्रपतिजी की इच्छा थी कि वे विनोबाजी से अवश्य मिलें। आचार्यश्री स्वयं भी उनसे विचार-विनिमय करना चाहते थे। विनोबाजी आये, उधर चातुर्मास समाप्त हुआ। मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को राजघाट पर मिलने का समय निश्चित हुआ। आचार्यश्री वहाँ गये और उधर से विनोबाजी भी आ गए। गांधी-समाधि के पास बैठ कर बातचीत प्रारम्भ हुई। उसके कुछ अंश यहाँ दिये जाते हैं।

सन्त विनोबा—श्रमण-परम्परा में तो पद-यात्रा सदा से चलती ही है, अब मैंने भी आपकी उस वृत्ति को ले लिया है।

आचार्यश्री—लोग मुझसे पूछा करते हैं कि आज के युग में आप पैदल यात्रा क्यों अपनाये हुए हैं? वायुयान या मोटर से जितना शीघ्र अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुंचा जा सकता है; वहाँ पैदल चलकर पहुंचने में समय का बहुत अपव्यय होता है। मैं उन्हें कहा करता हूं कि भारत की जनता ग्रामों में बसती है और उससे सम्पर्क करने के लिए पद-यात्रा बहुत उपयोगी है। आपका ध्यान भी इधर गया है; यह प्रसन्नता की बात है। अब यदि किसी कांग्रेसी ने मेरे सामने यह प्रश्न रखा तो मैं कहूंगा कि वह उसका उत्तर विनोबाजी से ले ले।

और फिर वातावरण हँसी से गूंज उठा।

---

१. नवनिर्माण की पुकार

सन्त विनोबा—आप प्रतिदिन कितना चल लेते हैं ?

आचार्यश्री—साधारणतया लगभग दस-बारह मील ।

सन्त विनोबा—इतना ही लगभग मैं चलता हूँ ।

आचार्यश्री—जनता के आध्यात्मिक और नैतिक स्तर को ऊँचा करने की दृष्टि से अणुव्रती-संघ के रूप में एक आन्दोलन प्रारम्भ किया गया है । क्या आपने उसके नियमोपनियम देखे हैं ?

सन्त विनोबा—हाँ, मैंने उसे पढ़ा है । आपने अच्छा किया है । अणुव्रत का तात्पर्य यही तो है कि कम-से-कम इतना व्रत तो होना ही चाहिए ।

आचार्यश्री—हाँ, आप ठीक कह रहे हैं । पूर्ण व्रत की असमर्थता में से अणुव्रत है । नैतिक जीवन की यह एक साधारण सीमा है ।

सन्त विनोबा—अहिंसा और सत्य का मेल नहीं हो पा रहा है, इसीलिए अहिंसा का पक्ष दुर्बल हो रहा है । अहिंसा पर जितना बल दिया गया है, उतना बल सत्य पर नहीं दिया गया । यही कारण है कि जैन गृहस्थों में अहिंसा-विषयक जितनी सावधानी देखी जाती है उतनी सत्य-विषयक नहीं ।

आचार्यश्री—अहिंसा और सत्य की पूर्णता परस्परापेक्ष है । एक के अभाव में दूसरे की भी गौरवपूर्ण पालना नहीं हो सकती । अणुव्रत-कार्यक्रम व्यवहार में चलने वाले असत्य का एक प्रबल प्रतिकार है । अहिंसक दृष्टिकोण के साथ जब सत्यमूलक व्यवहार की व्यापकता होगी, तभी आध्यात्मिक और नैतिक स्तर उन्नत बन सकेगा ।

अणुव्रत-नियमों में निषेधात्मक नियम ही अधिक हैं । हमारे विचार में किसी भी बुराई के विरुद्ध में निषेध जितना पूर्ण होता है, उतना विधान नहीं । इस विषय में आपके क्या विचार हैं ?

सन्त विनोबा—मैं नकारात्मक दृष्टि को पसन्द करता हूँ । इसका मैंने कई बार समर्थन भी किया है[1] ।

---

1. कार्यकर्त्ता-शिविर

आचार्यश्री और मुरारजी देसाई

आचार्यश्री बम्बई में थे। उस समय मुरारजी देसाई वहां के मुख्यमन्त्री थे। वे बम्बई के कार्यक्रमों में दो बार सम्मिलित हो चुके थे; परन्तु बातचीत करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। वे चाहते थे कि आचार्यश्री से व्यक्तिगत बातचीत हो। आचार्यश्री भी उसके लिए उत्सुक थे। समय की कमी और विभिन्न व्यवधानों के कारण ऐसा नहीं हो सका। जब बम्बई से विहार करने का अवसर आया; तब अन्तिम दिन आचार्यश्री मुरारजी भाई की कोठी पर गये। एक तरफ विदाई का कार्यक्रम था तो दूसरी तरफ मुरारजी भाई से वार्तालाप। बीच में बहुत थोड़ा ही समय था। फिर भी आचार्यश्री वहां पधारे। मुरारजी भाई ने बड़ा सत्कार किया और बहुत प्रसन्न हुए। औपचारिक वार्तालाप के पश्चात् जो बातें हुईं, उनमें से कुछ ये हैं :

आचार्यश्री—आप दो बार सभा में आये; पर वैयक्तिक बातचीत नहीं हो सकी।

श्री देसाई—मैं भी ऐसा चाहता था; परन्तु मुझे यह कठिन लगा। इधर कुछ दिनों से मैंने धार्मिक उत्सवों में जाना कम कर दिया है और आपको अपने यहां बुला कैसे सकता था !

आचार्यश्री—धार्मिक कार्यों में कम भाग लेने का क्या कारण है ?

श्री देसाई—मेरे नाम का वहां उपयोग किया जाता है। यह सम्प्रदाय बढ़ाने का तरीका है। मैं सम्प्रदायों से दूर भागने वाला व्यक्ति इसे कतई पसन्द नहीं करता।

आचार्यश्री—जहां सम्प्रदाय बढ़ाने की बात हो, वहां के लिए तो मैं नहीं कहता, पर जहां असाम्प्रदायिक रूप से काम किया जाता हो और उससे यदि आध्यात्मिकता और नैतिकता को बल मिलता हो तो उसमें किसी के नाम का उपयोग होना मेरी दृष्टि में कोई बुरा नहीं है।

श्री देसाई—आप लोग प्रचार-कार्य में क्यों पड़ते हैं ? धर्मों को

तो प्रचार से दूर रहना चाहिए।

आचार्यश्री—साधुत्व की अपनी मर्यादा में रहते हुए जनता में सत्य और अहिंसा-विषयक भावना को जागृत करने का प्रयास मेरे विचार से उत्तम कार्य है।

श्री देसाई—बुराई न करने की प्रतिज्ञा दिलाना मुझे उपयुक्त नहीं लगता। इस विषय में गांधीजी से भी मेरा विचार-भेद था। मैंने उनसे कहा था—"आप प्रतिज्ञा दिलाकर लोगों को आश्रम में रखते हैं। लोग आपको खुश करने के लिए यहाँ आ जाते हैं। यहाँ की प्रतिज्ञाएँ न निभा पाने पर वे उसे छिपकर तोड़ते हैं।" गांधीजी से मेरा यह मतभेद अन्त तक चलता ही रहा। आपके सामने भी वही बात रखना चाहूँगा कि आपको खुश करने के लिए लोग अणुव्रती बन तो जाते हैं; परन्तु वे इसे ठीक ढंग से निभाते हैं; इसका क्या पता ?

आचार्यश्री—प्रतिज्ञा के बिना संकल्प में दृढ़ता नहीं आती, इसलिए उसमें मेरा दृढ़ विश्वास है। कोई भी व्रत या प्रतिज्ञा आस्था से ली जाती है और आस्था से ही पाली जाती है। बलात् न वह ग्रहण कराई जा सकती है और न पालन कराई जा सकती है। कौन प्रतिज्ञाओं को पालता है और कौन नहीं; इस विषय में मैं उसके आत्म-साक्ष्य को ही महत्त्व देता हूँ।

अणुव्रतों के विषय में आपके कोई सुझाव हों तो बतलाइये।

श्री देसाई—इस दृष्टि से मैंने अभी तक पढ़ा नहीं है। अब आपने कहा है; इसलिए इस दृष्टि से पढ़ूँगा और आपके शिष्य मिलेंगे; उन्हें बतला दूँगा[1]।

प्रश्नोत्तर

आचार्यश्री का जन-सम्पर्क इतने विविध रूपों में है कि उन सब की गणना करना एक प्रयास-साध्य कार्य है। कुछ व्यक्ति उनके पास धर्मो-

1. वार्तालाप-विवरण

पदेश सुनने के लिए आते हैं तो कुछ धर्म-चर्चा के लिए। कुछ उन्हें सुझाव देने के लिए आते हैं तो कुछ मार्ग-दर्शन लेने के लिए। कुछ की बातों में केवल व्यावहारिक रूप होता है तो कुछ की बातों में तत्त्व की गहरी जिज्ञासा। देश और विदेश के विभिन्न व्यक्ति विभिन्न रूपों में अपनी जिज्ञासाएँ उनके सामने रखते रहे हैं। आचार्यश्री उन सब की जिज्ञासाओं को शान्त करने का प्रयत्न करते रहे हैं। प्रायः जिज्ञासुओं को आचार्यश्री के उत्तर तथा व्यवहार से तृप्त होकर जाते देखा गया है। यह बात मैं अपनी ओर से नहीं कह रहा; किन्तु उन व्यक्तियों के द्वारा आचार्यश्री के प्रति लिखे गये या व्यक्त किये गये उद्गार इस बात के साक्षी हैं। यहाँ हम देशी तथा विदेशी विद्वानों के द्वारा किये गये कतिपय प्रश्न और आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर दे रहे हैं।

डा० के० जी० रामाराव

दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० के० जी० रामाराव एम० ए०, पी-एच० डी० आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। आचार्यश्री के साथ उनके जो तात्त्विक प्रश्नोत्तर चले, उनमें से कुछ यों हैं :

श्री रामाराव—जीवन सक्रियता का प्रतीक है (Life is activity)। क्रमशः वैराग्य का होना कर्म-विमुखता है, अतः वैराग्य तथा जीवन का सामञ्जस्य कैसे हो सकता है?

आचार्यश्री—जिस रूप में आप जीवन को सक्रिय बतलाते हैं; जीवन की वे क्रियाएँ सोपाधिक हैं। जैसे; भोजन करना तब तक आवश्यक है, जब तक भूख का अस्तित्व हो। जिन कारणों से ये सोपाधिक सक्रियताएँ रहती हैं; वे कारण यदि नष्ट हो जायें तो फिर उनकी (सक्रियताओं) की आवश्यकता नहीं रहेगी। आत्मा की स्वाभाविक सक्रियता है—ज्ञान के निज स्वरूप में रमण करना; जो हर क्षण रह सकती है। इस रूप में सक्रिय रहती हुई आत्मा अन्यों से (आत्म-रमण-व्यतिरिक्त अन्य क्रियाओं से) अक्रिय रहती है। सोपाधिक सक्रियता वैकारिक या वैभाविक है।

उसे मिटाने के लिए त्याग, तपस्या आदि की आवश्यकता होती है।

श्री रामाराव—समाज-प्रवृत्ति का हेतु है—दूसरों के लिए जीना। यदि प्रत्येक व्यक्ति वैराग्य अंगीकार कर ले तो वह एक प्रकार का स्वार्थ होगा। स्वार्थपरता दो प्रकार की है—एक तो यह कि अपने लिए धन आदि सांसारिक सुख-साधनों के संचय का प्रयत्न करना। दूसरी यह कि दूसरों की चिन्ता न करते हुए केवल अपनी मुक्ति की लालसा करना। इस स्थिति में केवल अपनी मुक्ति की लालसा रखने से क्या जीवन का ध्येय पूर्ण हो सकता है?

आचार्यश्री—दूसरे प्रकार की स्वार्थपरता जो आपने बतायी, वस्तुत: वह स्वार्थपरता नहीं है। यदि सभी व्यक्ति उस पर आ जाये तो मेरे खयाल में उसमें दूसरों को हानि की कोई सम्भावना नहीं होगी। सभी विकासोन्मुख होंगे। वह स्वार्थ नहीं; परमार्थ होगा। जब कि हम मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन-विकास करने का जन्म-सिद्ध अधिकारी है, जब कि वह अकेला जन्मता है, अकेला मरता है, तब यदि अकेला अपने-आपको उठाने की आत्म-विकास करने की, चेष्टा करता है तो उसका ऐसा करना स्वार्थ कैसे माना जायेगा?

श्री रामाराव—क्या पुण्य-कर्म मोक्ष का रास्ता—मोक्ष की ओर ले जाने वाला नहीं है?

आचार्यश्री—पुण्य शुभ कर्म है। कर्म-बन्धन है, अतः पुण्य भी मोक्ष में बाधक है। 'कर्म' शब्द के दो अर्थ हैं—१. क्रिया, २. क्रिया के द्वारा जो दूसरे विजातीय पुद्गल आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं—चिपक जाते हैं; वे भी कर्म कहे जाते हैं। अच्छे कर्म पुण्य और बुरे कर्म पाप कहलाते हैं। बुरे कर्म तो स्पष्टत: मोक्ष में बाधक हैं ही। अच्छे कर्मों का फल दो प्रकार का है—उनसे पुराने बन्धन टूटते हैं; किन्तु साथ-साथ में शुभ पुद्गलों का बन्धन भी होता रहता है। बन्धन मोक्ष में बाधक है।

श्री रामाराव—अच्छे कर्मों के बन्धनों के टूटने के साथ-साथ पुनः बन्धन क्या ?

आचार्यश्री—उदाहरणस्वरूप बगीचे में हम घूमने जायेंगे; वहाँ उससे स्वच्छता से पुद्गल दूर होंगे और स्वच्छता के अच्छे पुद्गल समाविष्ट होंगे। अच्छी क्रिया में मुख्य फल आत्म-शुद्धि है; किन्तु जब तक उस क्रिया में राग-द्वेष का अंश समाविष्ट रहता है; उसमें बन्धन भी है। गेहूं की खेती की जाती है, गेहूं के साथ चारा या भूसा भी पैदा होता है। बादाम के साथ छिलके भी पैदा होते हैं। जब तक वीतरागता नहीं आयेगी, तब तक की अच्छी प्रवृत्ति यत्-किंचित् अंश में राग-द्वेष से सर्वथा विरहित नहीं होगी, अतः बन्धन होता रहेगा।

श्री रामाराव—बन्धन से छुटकारा कैसे हो ?

आचार्यश्री—ज्यों-ज्यों कषायावस्था का शमन होता रहेगा; त्यों-त्यों जो क्रियाएँ होंगी; उसमें बन्धन कम होगा; हल्का होगा; आत्मा ऊँची उठती जायेगी। एक अवस्था ऐसी आयेगी; जिसमें सर्वथा बन्धन नहीं होगा; क्योंकि उसमें बन्धन के कारणों का अभाव होगा।

श्री रामाराव—क्या निष्काम भाव से कर्म करने पर बन्धन कम होगा ?

आचार्यश्री—निष्काम भावना के साथ आत्म-अवस्था भी शुद्ध होनी चाहिए। बहुत-से लोग कहने को कह देते हैं कि वे निष्काम कर्म करते हैं; किन्तु जब तक आत्म-अवस्था विशुद्ध नहीं होती; तब तक वह निष्कामता नहीं कही जा सकती।

श्री रामाराव—साइकोलोजी (मनोविज्ञान-शास्त्र) का विचार-क्षेत्र मानसिक क्रिया से ऊपर नहीं जाता। आपके विचार इस विषय में क्या हैं ?

आचार्यश्री—आत्मा की मानसिक, वाचिक व कायिक क्रिया तो है ही; इनके अतिरिक्त 'अध्यवसाय' या 'परिणाम' नाम की एक सूक्ष्म क्रिया भी है। स्थावर जीवों के मन नहीं होता; किन्तु उनके भी वह

सूक्ष्म क्रिया होती है; उसे 'योग', 'लेश्या' आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

श्री रामाराव—जिनके मन नहीं होता; क्या उनके आत्मा नहीं होती है।

आचार्यश्री—आत्मा के आलोचनात्मक ज्ञान के साधन का नाम मन है। जिस प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ ज्ञान का साधन है, उसी प्रकार मन भी। यदि दूसरे शब्दों में कहा जाये तो आत्मा की बौद्धिक क्रिया का नाम मन है। जिनकी बौद्धिक क्रिया अविकसित होती है, उन्हें अमनस्क कहा जाता है; अर्थात् उनके मन नहीं होता।

श्री रामाराव—क्या इन्द्रियों की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति से आत्मा मुक्ति पाती है?

आचार्यश्री—प्रवृत्ति दो प्रकार की है—सत् प्रवृत्ति तथा असत् प्रवृत्ति। सत्प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों आत्म-मुक्ति की साधनभूत हैं।

श्री रामाराव—मनोविज्ञान ऐसा मानता है कि विचार शक्ति से मनुष्य कार्यप्रवृत्ति में (सतत चेष्टा से) विकास कर सकता है, किन्तु कुछ बातें ऐसी होती है जो संस्कारलभ्य हैं। मनोविज्ञान में विचारधारा के तीन प्रकार माने गये हैं: १ माता-पिता की अपनी सन्तति के प्रति जैसी रक्षात्मक भावना होती है, वैसी भावना रखना और दूसरे से वैसी ही रक्षात्मक भावना की माँग करना, २. घृणित भावनाओं से घृणा करना व उन्हें छोड़ने की प्रवृत्ति करना, ३. उत्तेजक काम-क्रोध वासना आदि। ये तीनों भावनाएँ स्वाभाविक शक्तियाँ (Energies) हैं। इनको सरलतया मिटाया नहीं जा सकता। इनको दूसरी ओर लगाया जा सकता है; अर्थात् दूसरे मार्ग पर ले जाने की कोशिश की जा सकती है। स्कूलों में चरित्र-गठन की शिक्षा के लिए यह विधि प्रयुक्त की जाती है कि पहली को प्रोत्साहन दिया जाये और तीसरी को रोकने की चेष्टा की जाये; क्या यह ठीक है?

आचार्यश्री—तीसरी को रोकने का प्रयास करना बहुत ठीक है।

पहली में प्रवृत्ति करने की या प्रोत्साहन देने की प्रेरणा एक सामाजिक भावना है। जो दूसरी विचारधारा है; उसको प्रश्रय देना, प्रोत्साहन देना उत्तम है।[1]

डा० हर्बर्टटिसि

डा० हर्बर्टटिसि एम० ए०, डी० फिल् आस्ट्रिया के यशस्वी पत्रकार तथा लेखक हैं। वे डा० रामाराव के साथ ही हाँसी में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये थे। आचार्यश्री के साथ हुए उनके कुछ प्रश्नोत्तर इस प्रकार हैं.

डा० हर्बर्टटिसि—लगभग पचास वर्ष पूर्व रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय वालों में ऐसी भाव-धारा उत्पन्न हुई कि वे जो कुछ कहते हैं; वह सर्वथा मान्य, विश्वसनीय व सत्य है। उसमें अविश्वास या भूल की कोई गुञ्जायश नहीं। किन्तु इस पर लोगों ने यह शंका की कि मनुष्य से भूल का होना सम्भव है। क्या आप भी आचार्य के विषय में ऐसा मानते हैं? अर्थात् वे जो कुछ कहते हैं, क्या वह एकान्ततः स्खलन-शून्य ही होता है?

आचार्यश्री—यद्यपि संघ के लिए, अनुयायियों के लिए आचार्य ही एक मात्र प्रमाण हैं। उनका कथन—आदेश सर्वथा मान्य व स्वीकार्य होता है; किन्तु हम ऐसा नहीं मानते कि आचार्यों से कभी भूल होती ही नहीं। जब तक सर्वज्ञ नहीं होते, तब तक भूल की सम्भावना रहती है। यदि ऐसा प्रसंग हो तो आचार्य को वह बात निवेदन की जा सकती है। वे उस पर उचित ध्यान देते हैं।

डा० हर्बर्टटिसि—क्या कभी ऐसा काम पड़ सकता है; जब कि एक पूर्वतन आचार्य के बनाये नियमों में परिवर्तन किया जा सके।

आचार्यश्री—ऐसा सम्भव है। पूर्वतन आचार्य उत्तरवर्ती आचार्य के

---

1. सन्त-चर्चा

लिए ऐसा विधान करते हैं कि देश, काल, भाव, परिस्थिति आदि को देखते हुए व्यवस्थामूलक नियमों में परिवर्तन करना चाहें तो कर सकते हैं। किन्तु साथ-साथ में यह ध्यान रहे—धर्म के मौलिक नियमों में परिवर्तन करने का अधिकार किसी को भी नहीं है। वे सर्वदा व सर्वथा अपरिवर्तनशील हैं।

डॉ० हर्बर्टटिसि—क्या जीव पुद्गल पर कुछ असर कर सकता है?

आचार्यश्री—हाँ, जीव पुद्गलों को अनुकूल-प्रतिकूल प्रवर्तित या परिणत करने का सामर्थ्य रखता है। जैसे—कर्म पुद्गल हैं। जीव कर्म-बन्ध भी करता है और कर्म-निर्जरण भी। इससे स्पष्ट है कि जीव पुद्गलों पर अपना प्रभाव डाल सकता है।

डा० हर्बर्टटिसि—जीव मनुष्य के शरीर में कहाँ है?

आचार्यश्री—शरीर में सर्वत्र व्याप्त है। कहीं एकत्र—एक स्थान-विशेष पर नहीं। उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, जब शरीर के किसी भी अंग-प्रत्यंग पर चोट लगती है, तत्क्षण पीड़ा अनुभव होती है।

डा० हर्बर्टटिसि—जब सब जीव संसार-भ्रमण शेष कर लेंगे, तब क्या होगा?

आचार्यश्री—बिना योग्यता व साधनों के सब जीव कर्म-मुक्त नहीं हो सकते। जीव संख्या में इतने हैं कि उनका कोई अन्त नहीं है। उनमें से बहुत कम जीवों को वह सामग्री उपलब्ध होती है, जिससे वे मुक्त हो सकें। जब कि संसार की स्थिति यह है कि करोड़ों लोगों में लाखों शिक्षित हैं, लाखों में हजारों विद्वान् या कवि हैं, हजारों में भी ऐसे बहुत कम हैं; जो स्वानुभूत बात कहने वाले तत्त्वज्ञानी हों। तब अध्यात्म-रत योगी संसार में कितने मिलेंगे; जो संसार-भ्रमण शेष कर लेते हैं?[1]

डा० फेलिक्स वेलिय

प्राच्य संस्कृति विषयक उच्चतर अध्ययन के लिए एवं विद्या-संस्थान

---

1. तत्त्व-चर्चा

के प्रतिष्ठापक तथा सम्पादक डा० कॅनिथम वेल्खि द्वारा किये गये प्रश्नों के आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर इस प्रकार हैं :

डा० वेल्खि—योग की उपयोगिता क्या है ?

आचार्यश्री—मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियों के विकास के लिए व इन्द्रिय-विजय के लिए उसका व्यवहार होता है ।

डा० वेल्खि—इन्द्रिय-दमन का प्रथम स्तर क्या है ?

आचार्यश्री—आत्मा और शरीर में भेद का ज्ञान होना एवं आत्मा के निर्वाण-स्वरूप तक पहुँचने की भावना होना; इन्द्रिय-दमन का प्रथम स्तर है ।

डा० वेल्खि—ज्ञान व चरित्र—इन दोनों में जैनों ने किसको अधिक महत्त्व दिया है ?

आचार्यश्री—जैन-दृष्टि में ज्ञान और चरित्र-निर्माण; दोनों समान महत्त्व रखते हैं।

डा० वेल्खि—जैन-योग का अन्तिम ध्येय क्या है ?

आचार्यश्री—जैन-योग का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है ।

डा० वेल्खि—काम-विजय के सक्रिय उपाय कौनसे हैं ?

आचार्यश्री—मोहजनक कथा न करना, चक्षु-संयम रखना, मादक व उत्तेजक वस्तुएँ न खाना, अधिक न खाना, विकारोत्पादक वातावरण में न रहना, मन को स्वाध्याय, ध्यान या अन्य सत्प्रवृत्तियों में लगाये रहना आदि काम-विजय के सक्रिय उपाय हैं ।

डा० वेल्खि—क्या जैन विवाह को एक धर्म-संस्कार मानते हैं ? विवाह-विच्छेद-प्रथा के प्रति जैनों का दृष्टिकोण क्या है ?

आचार्यश्री—जैन विवाह को धर्म-संस्कार नहीं मानते । विवाह-विच्छेद की प्रथा जैन समाज में नहीं है । जैन लोग उक्त प्रथाओं को धर्म में सम्मिलित नहीं करते ।

डा० वेल्खि—जैन साधुओं में परस्पर प्रतिस्पर्धा है या नहीं ?

आचार्यश्री—आत्म-साधना एवं अध्ययन के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा होनी

है। यश-प्राप्ति की स्पर्धा वैध नहीं है। यश की अभिलाषा रखना दोष समझा जाता है।

डा० वेल्स—क्या धर्मगुरु से कभी कोई गलती नहीं होती ? क्या वे सदा सन्तुष्ट रहते हैं ? क्या वे हमेशा स्वस्थ रहते हैं ? क्या औषधोपचार भी विहित है ? क्या उन्हें स्वास्थ्यकर भोजन हमेशा मिलता रहता है ?

आचार्यश्री—गुरु भी अपने को साधक मानता है। साधना में कोई भूल हो जाये तो वे उसका प्रायश्चित्त करते हैं। हमारी दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ सुख आत्म-सन्तोष है। इसकी गुरु में कमी नहीं होती। शारीरिक स्थिति के बारे में कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह भिन्न-भिन्न क्षेत्र और परिस्थितियों पर निर्भर है। साधु भिक्षा द्वारा भोजन प्राप्त करते हैं, इसलिए भोजन सदा स्वास्थ्यकर ही मिले; यह बात आवश्यक नहीं।

साधु को शारीरिक व्याधाएँ होती हैं और मर्यादा के अनुकूल उनका उपचार करना भी वैध है। औषधि-सेवन करना या अपनी आत्म-शक्ति से ही उसका प्रतिकार करना, यह वैयक्तिक इच्छा पर निर्भर है।

डा० वेल्स—संसार के प्रति साधुओं का कर्तव्य क्या है ?

आचार्यश्री—हमें विश्व के दुःख के जो मूल-भूत कारण हैं, उन्हें नष्ट करना चाहिए। अपने आत्म-विकास और साधना के साथ-साथ जन-कल्याण करना; अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का प्रचार करना; साधुओं का लक्ष्य है।[1]

श्री जे० आर० बर्टन

आचार्यश्री बम्बई के उपनगरों में थे; तब दो अमेरिकन सज्जन श्री जे० आर० बर्टन और श्री डब्ल्यू० डी० वेल्स दर्शनार्थ आये। वे विभिन्न धर्मों की अन्तर्-भावना का परिशीलन करने के लिए एशियाई

---

१. जनपद विहार, भा० २, पृष्ठ २३से२६

देशों में भ्रमण करते हुए यहां आये थे। आचार्यश्री के साथ उनका वार्तालाप-प्रसंग इस प्रकार हुआ :

श्री बर्टन—मैंने बौद्ध दर्शन में यह पढ़ा है कि तृष्णा या आकांक्षा को मिटाना जीवन-विकास का साधन है। जैन दर्शन की इस विषय में क्या मान्यता है ?

आचार्यश्री—जैन धर्म में भी वासना, तृष्णा, लिप्सा आदि का वर्जन करने के उपदेश हैं। आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप तक पहुँचाने में ये दोष बड़े बाधक हैं।

श्री बर्टन—ईसा के उपदेशों के सम्बन्ध में आपका क्या खयाल है ?

आचार्यश्री—अपरिग्रह और अहिंसा आदि अध्यात्म तत्त्वों के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने कहा है; वह हृदयस्पर्शी है।

श्री बर्टन—क्या आप धर्म-परिवर्तन भी करते हैं ?

आचार्यश्री—हमारा कार्य तो धर्म के सत्य तत्त्वों के प्रति व्यक्ति के मन में श्रद्धा और निष्ठा पैदा करना है। हृदय-परिवर्तन द्वारा व्यक्ति को आत्म-विकास के पथ का सच्चा पथिक बनाना है। कहीं भी रहता हुआ व्यक्ति ऐसा करने का अधिकारी है। एक मात्र बाहरी रंग-ढंग को बदलने में मुझे श्रेयस् प्रतीत नहीं होता, क्योंकि धर्म का सीधा सम्बन्ध आत्म-स्वरूप के परिमार्जन और परिष्कार से है।

श्री बर्टन—श्रद्धा का क्या तात्पर्य है ?

आचार्यश्री—सत्य विश्वास को श्रद्धा कहते हैं।

श्री बर्टन—सत्य विश्वास किसके प्रति ?

आचार्यश्री—आत्मा के प्रति, परमात्मा के प्रति और आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रति।

श्री बर्टन—क्या कर्तव्य ही धर्म है ?

आचार्यश्री—धर्म अवश्य कर्तव्य है; पर सब कर्तव्य धर्म नहीं। सामाजिक जीवन में रहते हुए व्यक्ति को पारिवारिक, सामाजिक आदि कई कर्तव्य ऐसे भी करने पड़ते हैं; जो धर्मानुमोदित नहीं होते। समाज

की दृष्टि से तो वे कर्तव्य हैं, पर अध्यात्म धर्म नहीं। आत्म-विकास उनसे नहीं सधता।[1]

श्री वुडलेंड केलर

अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी मण्डल के उपाध्यक्ष तथा यूनेस्को के प्रतिनिधि श्री वुडलैण्ड केलर जो शाकाहार एवं अहिंसावादी लोगों से मिलने व विचार-विमर्श करने सपत्नीक भारत में आये थे, बम्बई में आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये। श्री केलर ने कहा कि भारतवर्ष एक शाकाहार-प्रधान देश है और जैन धर्म में विशेष रूप से आमिषवर्जन का विधान है। अतः भारतवर्ष से; तथा मुख्यतः जैनों से; हमारा एक सहज सम्बन्ध एवं आत्मीय भाव जुड़ जाता है।

आचार्य प्रवर के साथ श्री केलर का जो वार्तालाप हुआ; उसका सारांश यों है :

श्री केलर—इस विश्व की उलझनों अथवा समस्याओं के लिए साम्यवाद के रूप में जो समाधान प्रस्तुत करता है; उसके सम्बन्ध में आपका क्या विचार है ?

आचार्यश्री—साम्यवाद समस्याओं का स्थायी और शुद्ध हल नहीं है, वह अर्थ-सम्बन्धी समस्याओं का एक सामयिक हल है। आर्थिक समस्याओं का सामयिक हल जीवन की समस्याओं को सुलझा सके; यह सम्भव नहीं।

श्री केलर—क्या राजनैतिक विधि-विधानों से लोक-जीवन की बुराइयों और विकृतियों का विच्छेद हो सकता है ?

आचार्यश्री—विकारों अथवा बुराइयों के मूलोच्छेद का सही साधन है—हृदय-परिवर्तन। विकारों के प्रति व्यक्ति के मन में घृणा और परिहेयता के भाव पैदा होने से उसमें स्वतः परिवर्तन आता है। हृदय बदलने पर जो बुराइयाँ छूटती हैं; वे स्थायी रूप से छूटती हैं और कानून

---

1. जैन भारती, २८ नवम्बर, १९५४

या डण्डे के बल पर जो बुराइयाँ छुड़ाई जाती हैं; वे तब तक छू रहती हैं; जब तक विकारों में फँसे व्यक्ति के सामने डण्डे का भय रहे

श्री केलर—संसार में जो कुछ दृश्यमान है; वह क्षणभंगुर है; नाश वान् है फिर व्यक्ति क्यों क्रियाशील रहे; किसलिए प्रयास करे ?

आचार्यश्री—दृश्यमान-अदृश्यमान भौतिक पदार्थ नाशवान् हैं भौतिक सुख क्षण-विध्वंसी हैं; पर आत्म-सुख तो शाश्वत, चिरन्त और अविनश्वर हैं। उसी के लिए व्यक्ति को सत्कर्मनिष्ठ और प्रयत्न शील रहने की अपेक्षा है। भौतिक दृश्यमान जगत् या सुख-सामग्री जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। चरम लक्ष्य है—आत्म-साक्षात्कार आत्म-विशोधन।

श्री केलर—दूसरे लोगों में जो बुराइयाँ हैं; उनके विषय में आप टीका करते हैं या मौन रहते हैं ?

आचार्यश्री—वैयक्तिक आक्षेप या टीका करने की हमारी नीति नहीं है। पर सामुदायिक रूप में बुराइयों पर तो आघात करना ही होता है; जो आवश्यक है।

श्री केलर—मनुष्य जो कर्म करता है; क्या उसका फल-परिपाक ईश्वराधीन है ?

आचार्यश्री—ईश्वर या परमात्मा केवल द्रष्टा है। व्यक्ति जैसा कर्म करता है; उसका फल स्वयं उसे मिलता है। फल-परिपाक कर्म का सहज गुण है। ईश्वर या परमात्मा विगत बन्धन है, निर्विकार है, स्वस्वरूप में अधिष्ठित है। कर्म-फल-प्रदातृत्व से उसका क्या लगाव[1] ?

डानेल्ड-दम्पति

कैनेडियन पादरी श्री डानेल्ड कैंप अपनी पत्नी तथा चर्च के अन्य कार्यकर्ताओं के साथ जलगाँव में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उनसे

---

१. जैन भारती, २० फरवरी, १९६९

वार्तालाप-प्रसंग निम्नांकित है :

श्रीमती कैंप—बाइबिल के अनुसार हम ऐसा मानते हैं कि न्यायी व्यक्ति श्रद्धा से जीवन बिताता है ।

आचार्यश्री—हमारी भी मान्यता है कि सच्चा श्रद्धावान् वही है; जो अपने जीवन में अन्याय को प्रश्रय नहीं देता ।

श्रीमती कैंप—प्रभु यीशू ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे कि जिसको तू मारना चाहता है; वह तू ही है ।

आचार्यश्री—भगवान् महावीर का कथन है कि जिस तरह तुझे अपना जीवन प्रिय है; उसी तरह वह सबको प्रिय है। सब जीव जीना चाहते हैं; इसलिए तुम्हें क्या अधिकार है कि तुम दूसरों के प्राण हरो। इस प्रकार बहुत-सी बातें ऐसी हैं; जो विभिन्न धर्मों में समन्वय बनाती हैं।

श्री कैंप—संसार में व्याप्त अशान्ति और दुःख का कारण क्या है ?

आचार्यश्री—आज का संसार भौतिकवाद में बुरी तरह फँसा है। परिणामस्वरूप उसकी लालसाएँ असीमित बन गई हैं। स्वार्थ के अतिरिक्त उसे कुछ नजर नहीं आता। अध्यात्म; जो शान्ति का सही तत्त्व है; वह दिन-पर-दिन भुलाया जा रहा है। जहाँ तक मैं सोचता हूँ; आज के संघर्ष और अशान्ति का यही कारण है।

श्री कैंप—हमारी मान्यता यह है कि मनुष्य जब पैदा होता है तो पापमय—पापों को लिये हुए पैदा होता है।

आचार्यश्री—हमारी मान्यतानुसार जब मनुष्य पैदा होता है तो पाप और पुण्य दोनों लिये हुए पैदा होता है। यदि पुण्य साथ नहीं लाता तो उसे अनुकूल सुख-सुविधाएँ कैसे मिलती ?

श्री कैंप—जो प्रभु यीशू की शरण में आ जाते हैं; उनकी मान्यता रखते हैं; उनके पापों के लिए वे पेनैल्टी (दण्ड) चुका देते हैं।

आचार्यश्री—तब मनुष्य का अपना कर्तव्य क्या रहा ? हमारी मान्यता यह है कि मनुष्य को पैदा करने वाली ईश्वर-जैसी कोई शक्ति

नहीं है। मनुष्य-जाति अनादिकालीन है। सत्-असत्, शुभ-अशुभ मनुष्य के स्वकृत कार्मों पर आधारित है। उनके लिए मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। अपने भले-बुरे कार्यों के लिए व्यक्ति का अपना उत्तरदायित्व न हो तब मनुष्य का क्या दोष ? वह तो ईश्वर के चलाये चलता है।

श्री वैप—मेरी ऐसी मान्यता है कि हम लोग खुद कुछ नहीं कर सकते, सब ईश्वरीय प्रेरणा से करते हैं।

आचार्यश्री—इसमें हमारा विचार-भेद है। हमारे विचारानुसार हम अपने सत्-असत् के स्वयं उत्तरदायी हैं और हमारी मान्यता यह है कि व्यक्ति आत्म-शक्ति से ही कार्य करता है। किसी दूसरी शक्ति से नहीं[1]।

[1] जैन भारती, २६ मई, १९५५

: ८ :

महान् साहित्य-स्रष्टा

अतुलनीय विशेषता

आचार्यश्री जहाँ एक सफल आध्यात्मिक नेता तथा कुशल संघ संचालक हैं; वहाँ महान् साहित्य-स्रष्टा भी हैं। साहित्य-सर्जन की उनकी प्रक्रिया में एक अतुलनीय विशेषता पायी जाती है। साहित्यकार को बहुधा एकान्त तथा शान्त वातावरण की आवश्यकता होती है, किन्तु इस प्रकृति के विपरीत वे जन-संकुल और कोलाहलपूर्ण वातावरण में बैठकर भी एकाग्र हो जाते हैं और साहित्य-रचना करते रहते हैं। यह स्वभाव सम्भवतः उनको इसलिए बना लेना पड़ा है कि एकान्त चाहने पर भी जनता उनका पीछा नहीं छोड़ती। कुछ उनके स्वभाव की मृदुता भी इसमें बाधक होती रही है। इतने पर भी साहित्य-स्रोतस्विनी अपनी अव्याहत गति से बहती ही रहती है।

विविधांगी साहित्य

उनका साहित्य पद्य और गद्य, दोनों ही रूपों में है। भाषा की दृष्टि से वे राजस्थानी, हिन्दी तथा संस्कृत में लिखते हैं। राजस्थानी तो उनकी मातृ-भाषा है ही, किन्तु हिन्दी और संस्कृत को भी उन्होंने मातृभाषावत् ही बना लिया है। विषय की दृष्टि से उनका साहित्य काव्य, दर्शन, उपदेश, भजन तथा स्तवन आदि वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उनके धर्म-सन्देश तथा दैनन्दिन प्रवचनों के संग्रह भी स्वतन्त्र कृतियों के समान ही अपना महत्त्व रखते हैं।

आचार्य-चरितावलि

आचार्यश्री ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के जीवन-चरित लिखकर तेरापंथ के इतिहास को एक महत्त्वपूर्ण देन दी है। तेरापंथ के प्रथम पांच आचार्यों के जीवन-चरित पूर्वाचार्यों द्वारा पद्यबद्ध किये जा चुके थे, परन्तु उनके पश्चात् तीन आचार्यों के जीवन-चरित अप्रणीत थे। वे सम्भवतः आचार्य श्री की कुशल लेखनी की प्रतीक्षा में थे। आचार्यश्री ने उस कार्य को हाथ में लिया और अत्यन्त व्यस्तता में भी उसे सम्पन्न किया। फलस्वरूप माणकमहिमा, डालिम-चरित्र और कालू यशोविलास नामक ग्रन्थों ने तेरापंथ के पूर्वाचार्यों की चरितावलि की विच्छिन्न कड़ी को जोड़ा और उसे परिपूर्णता का रूप प्रदान किया।

अजस्र प्रवाह

आचार्यश्री के साहित्य का प्रवाह अनवरत रूप से प्रवहमान है। एक के पश्चात् एक रचनाएं सामने आती जा रही हैं। उनमें भाषाओं की विभिन्नता है, विषयों की भी विभिन्नता है, किन्तु वे सब भेद वाणी-मंदिर में चढ़े हुए विभिन्न रंग तथा रूप के पुष्पों के सदृश हैं। उनकी साहित्यिक कृतियां आज के लिए तो अमाप्य ही कही जा सकती हैं; क्योंकि जिस त्वरा से वे चल रहे हैं उसमें उनकी इयत्ता स्थापित नहीं की जा सकती। उसकी अपेक्षा भी नहीं है। उनके साहित्य का अजस्र प्रवाह अव्याहत चलता रहे, यही काम्य है।

काव्य-साहित्य

आचार्यश्री के काव्य-साहित्य में राजस्थानी तथा हिन्दी के ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं। राजस्थानी ग्रंथों में 'कालू-यशोविलास,' 'माणक-महिमा,' 'डालिमचरित्र,' 'उदाई,' 'गजसुकुमाल' तथा 'सुकुमालिका' आदि प्रमुख हैं। हिन्दी-ग्रन्थों में 'आषाढभूति', 'भरत-मुक्ति' तथा 'अग्नि-परीक्षा' आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त 'कालू-उपदेश-वाटिका',

श्रद्धेय के प्रति' तथा 'प्रणुव्रत गीत' आदि उपदेशात्मक, भक्त्यात्मक तथा प्रेरणात्मक गीतो के विभिन्न संकलन है। यहाँ कुछ उद्धरणो द्वारा उनके काव्य-साहित्य का रसास्वादन करा देना अप्रासंगिक नही होगा।

कालू-यशोविलास

कालू-यशोविलास मे तेरापथ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी का जीवन-चरित्र वर्णित है। इसकी भाषा राजस्थानी है; किन्तु कहीं-कहीं गुजराती से भावित है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि प्राचीन काल मे दोनो प्रदेशों का तथा उनकी भाषाओ का निकट सम्बन्ध रहा है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि गुजराती भाषा के जैन-ग्रन्थ राजस्थान मे विहार करने वाले साधु-साध्वियो द्वारा भी बहुधा पढे जाते रहे है और उससे उनकी कृतियों मे भी भाषा का मिश्रण होता रहा है। तेरापथ के आद्य आचार्य स्वामी भीखणजी तथा चतुर्थ आचार्यश्री जयाचार्य के साहित्य मे—एटले, माटे, छुछे, एम, केटला आदि गुजराती भाषा के अनेक शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं। आचार्यश्री ने 'कालू-यशोविलास' मे उसी प्राचीन परम्परा को प्रयुक्त किया है। इसमे उन्होने हिन्दी का भी प्रयोग किया है। वस्तुतः वे पहले-पहले भाषा के विषय मे काफी मुक्त होकर चले हैं। इसमे विभिन्न भाषाओ के शब्द तो प्रयुक्त हुए ही हैं, किन्तु पद्य की सुविधा के लिए शब्दो का अपभ्रश भी किया गया है। उनके राजस्थानी तथा हिन्दी के कुछ प्रथम ग्रन्थो मे यह क्रम रहा है; परन्तु 'कालू-उपदेश-वाटिका' की प्रशस्ति से यह बात सिद्ध होती है कि बाद मे स्वय उनको यह मिश्रण खटकने लगा। वे कहते हैं :

> पर प्राचीन पद्धति रै अनुसार जो
> भाषा थयी मूँग चावल री खीचड़ी।
> वापिस देख्या एक-एक कर द्वार जो
> तो अखरी बोली मिश्रित बैठी सड़ी॥

यहाँ हिन्दी को 'खडी बोली' कहा जाता रहा है; अतः 'बैठी बोली' से आचार्यश्री का तात्पर्य राजस्थानी से है। इस अखरन ने आचार्यश्री की आगे की कृतियों पर काफी प्रभाव डाला है। उनमें भाषा का मिश्रण न होकर विशुद्ध किसी एक भाषा का ही प्रयोग हुआ है।

'कालू यशोविलास' विभिन्न मधुर लयों में निबद्ध है। उसमें प्रसंगानुसार ऋतुओं, स्थानों तथा मनोभावों का अत्यन्त कुशलता से वर्णन किया गया है। घटनाओं का तथा उस समय तक स्वयं लेखक का भी राजस्थान से ही अधिक सम्पर्क रहा था; अतः उसमें राजस्थान के अनेक स्थलों का अत्यन्त रोचक वर्णन हुआ है। एक जगह उन्होंने राजस्थान की भयंकर गर्मी और उसमें होने वाली हैरानियों का लेखा-जोखा देकर उस स्थिति में गृहस्थ-जीवन और साधु-जीवन का भेद उपस्थित करते हुए ग्रीष्म-ऋतु की सजीव अभिव्यक्ति इस प्रकार की है :

ज्येष्ठ महीनो हो ऋतु गरमी नों, मध्यम सीनो हो छिवे दृढ धीनों।
लूहर झालां हो अति विकराळां, वह्नि-ज्वाला हो जिम चोफाळां॥
भू थई भट्ठी हो तरणी तापे, रेणू कट्ठी ही तनु संतापे।
आजिम 'र भट्ठी हो मही व्यापे, अति दुरघट्टी हो घड़ी मापे॥
स्वेद-निझरणा हो रूं-रूं झारे, चीवर कर नो हो लूह-लूह हारे।
तनु पे उपड़े हो फुंसी-फोड़ा, भू पे उपड़े हो जिम भूफोड़ा॥
जैन-मुनी नो हो मारग झीणो, अन्न अचीणो हो धोवण पीणो।
न्हावण-धोवण हो भ्रम न करणो, आत्म-तपावण हो दिल सवरणो॥
मलिन दुकूला हो कड़-कड़ बोले, जरा धूळां हो घड़-घड़ घोले।
अति प्रतिकूळा हो पवन झकोळे, जिम कोई शूळां हो अंग ढबोळे॥
कोमल काया हो पासे माया, जननी जाया हो बाहर नाया।
मूहरे घर के हो पोढे न्हाटी, अळस्यूं छिड़के हो भग-भग टाटी॥
मंदिर मूंदी हो खोले पन्ना, कर धर मुंदी हो गोत निराका।
विद्युत योगे हो अन्न मीनाक्रियो, बरफ प्रयोगे हो बासो सक्रियो॥

हृदय उमावै हो बलि-बलि न्हावै, पान करावै हो दिल सुख पावै।
जी घबरावै हो सेंठ छिंटावै, ज्यादा चावै हो सिमलै जावै ॥[1]

यहाँ कवि ने ज्येष्ठ मास को ग्रीष्म-ऋतु का हृदय कहा है। वे कहते हैं—"उस समय लू अग्नि-ज्वाला की तरह होती है और सूर्य के ताप से भूमि भट्टी के समान उत्तप्त हो उठती है। रजकण शरीर को सन्तप्त ही नहीं करते; अपितु त्वचा और यहाँ तक कि अस्थियों तक पर अपना प्रभाव दिखलाते हैं। वैसे समय की घड़ियाँ घड़ी के माप से कुछ बड़ी ही लगती हैं। स्वेद रोम-रोम से फूटकर झरनों की तरह बहता है, जिन्हें पोंछते हुए हाथ के वस्त्र—रुमाल बेचारे थक जाते हैं। भूमि पर वर्षा के समय भू-फोड़े उत्पन्न होते हैं; उसी प्रकार ग्रीष्म में शरीर पर फुंसी और फोड़े उठ आते हैं। ऐसी स्थिति में जैन मुनियों का कठिन मार्ग और भी कठिन हो जाता है। अचित्त जल की स्तोकता, मस्लान-वस्त्र तथा दुकूलों की प्रतिकूलता इस प्रकार से दुःखद हो जाती है कि मानो कोई शरीर में शूले चुभो रहा हो। दूसरी ओर धनिक व्यक्तियों का दूसरा ही चित्रण सामने आता है। वे उस ऋतु में बाहर तो निकलते ही नहीं, अपितु भूमिगृहों में लू से छिप कर सो जाते हैं। खस की टट्टियाँ छिड़की जाती है, पंखे चलते है, विद्युत् या बर्फ के प्रयोग से शीतल किया गया जल पीते हैं, अनेक बार स्नान करते हैं, सुवासित रहते हैं। इतने पर भी यदि गर्मी का कष्ट प्रतीत होता है तो शिमला आदि पहाड़ी स्थानों में चले जाते हैं।" ग्रीष्मकाल के समय परस्पर-विरोधी इन दो जीवन-चित्रों को उपस्थित कर कवि ने एक ही ऋतु में भोगियों और त्यागियों की प्रवृत्तियों का अन्तर अत्यन्त सहजता से स्पष्ट कर दिया है।

एक अन्य स्थान पर वे मारवाड़ प्रदेश के 'कांठा' (सीमान्त) का वर्णन इस कुशलता से करते हैं कि वहाँ के वातावरण का समग्र दृश्य

1. कालू-यशोविलास, उ० ३, गी० १७, गा० २४ से ३१

एक साथ श्रोता के सामने सामने आ जाता है। वे कहते हैं :

> हर्या बिछायत डाल-डाल कंटक कांटां री,
> रात-बिरात लगातार उठती ध्वनि रेंटां री।
> मेदपाट पड़ौस डोल ज्यूं धाटां री,
> ठौड़-ठौड़ बब, खदिर, पलास, शम भाटां री।
> अम्बर ऊँडिया कूप गूडिया कानी-कानी,
> उलट प्रचार निकासी रिडमी गति बलदां री।
> समी जमीं जल कोरा धोरा सींचे पानी,
> लेइणी निरनै नाज, नाज बहि जीवे आणी।[1]

अर्थात्— "हर गांव में बबूल के कांटों की बहुलता है। रात्रि की घनीभूत शून्यता में भी अरहट की ध्वनि अपनी लगातार सुनाती रहती है, पड़ौसी प्रदेश मेवाड़ के अरावली पर्वत की घाटियां ऊंची दीवार-सी खड़ी दिखाई देती हैं, उनकी उपत्यकाओं में स्थान-स्थान पर बथ, खदिर और पलाश वृक्षों की पंक्तियां खड़ी हैं तथा पत्थरों के ढेर लगे हैं। हर गांव के चारों ओर ऊँचे पानी वाले कूंएं, उनमें से पानी निकालने के लिए सूंडनुमा चड़स, उन्हें खींचने के बाद विपरीत गति से चलते हुए बैल; एक विचित्र ही दृश्य उपस्थित करते हैं। वहां की सीधी सपाट भूमि को सींचने के लिए अपनाई गई इस व्यवस्था से वहां की जल-प्रणालियां पानी से भरी रहती हैं। वहां के व्यक्ति केवल उसी के आधार पर अन्न पैदा करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई यान्त्रिक अथवा प्राकृतिक सहयोग उन्हें प्राप्त नहीं है।" यह सारा वर्णन मारवाड़ के सीमान्त का तथा वहां के निवासियों के जीवन-क्रम का संक्षेप में परिपूर्ण तथा रोचक दृश्य उपस्थित कर देता है।

एक जगह राजस्थान के सुप्रसिद्ध अरावली तथा वहाँ के वन्य वातावरण को वे इस प्रकार से अभिव्यक्ति देते हैं :

---

1. कालू-यशोविलास, उ० ४, गी० १०, गा० १ से ४

चहुँ ओर घणी जुड़ी झणी भारी, जहं जगी जगी थटां री जटां री।
कहीं निंब कादम्ब अबांब भारी, खरी शूल बबूल जीहा जमां री।
कहीं खम्मराटी हुवै खरखरांरी, कहीं घग्घरारी हुवै बग्घरां री।
भहूका लहूका भहूका भरारे, कहीं दवड़ धूरां कबूरां करां री।
किते फेलकारां फरक्कन्त फेरू, किते फुक्कारा धरक्कन्त एरू।
किते धूक लघाट घुग्घाट घेरू, किते घुक्क घुक्काट केरू घनेरू।।[1]

इस वर्णन में भाषा का राजस्थानी रूप डिंगल से प्रभावित है। जंगल की गहनता और भाषा की गहनता एक साथ हो गई है। अनुप्रासों का बाहुल्य उस गहनता को और भी बढ़ा देता है। वे कहते हैं—"चारों ओर एक दूसरे से सटकर खड़े हुए वृक्षों से जहाँ वह अरण्य गहन बना हुआ है, वहाँ उसे बड़े-बड़े वट-वृक्षों की जटाओं ने और भी गहन बना दिया है। उस अटवी में जहाँ क्वचित् निम्ब, कदम्ब जम्बू और आम जैसे वृक्ष भी दिखाई देते हैं, वहाँ अधिकांश कँटीली भाड़ियाँ-ही-भाड़ियाँ तथा यम की जिह्वा जैसे अपने शूलों को लिये बबूल-ही-बबूल खड़े हैं। धावडे, खाखरे, महूडे और थूहर आदि वृक्षों से तथा वन्य पशुओं के विभिन्न प्रकार के शब्दों से वह घाटी अत्यन्त विकट प्रतीत होती है।" इस प्रकार उपर्युक्त कुछ उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालू-यशोविलास आचार्यश्री की एक विशिष्ट कृति है। उसमें प्रकृति तथा मानव-स्वभाव के विविध पहलुओं के सजीव वर्णन के साथ-साथ जीवनी का प्रवाह चलता है। कहीं-कहीं उस प्रवाह में पाठक को तब रुकावट भी प्रतीत होती है, जब कि बीच-बीच में दीक्षाओं तथा अन्तर-घटनाओं का वर्णन आने लगता है। आचार्यश्री की यह कृति वि० सं० २००० में पूर्ण हुई थी।

माणक-महिमा

माणक-महिमा में तेरापंथ के षष्ठ आचार्यश्री माणकगणी का

1. कालू-यशोविलास, उ० ४, गी० १२, गा० १४ से १६

जीवन वर्णित है। यह कालू-यशोविलास के काफी बाद की रचना है। वि० सं० २०१३ भाद्रपद कृष्णा चतुर्थी को इसकी पूर्ति हुई थी। अपेक्षाकृत यह काफी छोटी रचना है। इसमें तेरापंथ के श्रमण-समुदाय की गतिविधियों का वर्णन विशेष रूप से किया गया है।

श्रमण-संस्कृति वस्तुतः शान्ति, समानता और श्रम के आधार पर चलने वाली संस्कृति है। प्राकृत के 'समण' शब्द से शम, सम और श्रम—ये तीनों एक रूप हो जाते हैं। इसलिए साधुओं की दिनचर्या में भी इन तीनों की व्याप्ति हो जाना आवश्यक है। इसी बात को व्यक्त करने के लिए एक जगह साधुओं की दिनचर्या का वर्णन वे इस प्रकार करते हैं :

> शम, सम, श्रममय श्रमण संस्कृति, निरख साधना भारी।
> शान्त समाश्रित जीवन ओपो, होयो दिल अधिकारी॥
> निर्धन धनिक पुण्य परितोषित, शोषित नर हो सारी।
> मद्रा 'सव्वभूयप्पभूय' वहै, समता रस की क्यारी॥
> है जिहां श्रम की बड़ी प्रतिष्ठा, जीवन चर्या सारी।
> श्रम परिपूर्ण मनोरे सध्या, निरखो नयन उघारी॥
> अपनो-अपनो कार्य करो सब, प्रतिदिन ऊठ सवारी।
> अपठित-पठित अमीर-गरीब, हुए अत्र महाव्रतधारी॥
> पडिलेहण और काजो पूंजो, पात्र-प्रमार्जन वारी।
> महाजन-हरिजन काम मामलो, चलो श्रमण-पथ-चारी॥
> भारी मोलण अपनी क्रम में, छात्र करै लघुनारी।
> मों अपण परमुखापेक्ष वथा, दुखिया वहै दुखारी॥
> प्राप्त परिश्रम से जो भिक्षा, सम-विभाग स्वीकारी।
> अपनी पांती में मुख मानो, महिमा जीवन न्यारी॥
> वृद्ध बाल गुरु ग्लान ग्लान, परिचर्या उचित प्रकारी।
> हो जिम मनकी विश्व-समाधी, रहै सदा सुखियारी॥

विनय विवेक नेक अनुशासन, शासन दृढ़ताधारी।
हिलै न एक पान भी गणपति, आज्ञा बिन अविचारी॥[1]

जब कि माणकगणी अपना उत्तराधिकारी स्थापित किये बिना ही दिवंगत हो गए; तब सारे संघ पर आचार्य के चुनाव का भार आ गया। उस समस्या पर विचार करने के लिए एकत्रित हुए मुनिजनों की मानसिक उथल-पुथल का विश्लेषण करते हुए जो कहा गया है; वह न केवल तेरापंथ के श्रमणों की चिन्तन-पद्धति को ही व्यक्त करता है, अपितु उनकी विचार-गरिमा का भी द्योतक है। वह वर्णन इस प्रकार है

विचारो सन्तां ! अब मिल बात क आय बण्या स्यूं क्यारांला !
मरै नहिं बिना नाथ दुकस्यात, वर्षं सम रात बितावां ला॥
म्हारो गण गोकुल सन्तां ! गउवां खड़ी विशाल।
बड़ी दिदारू और दुधारू, पिण नहिं रह्यो गोवाल।
सन्तां ! बिना गवाल गउवां की सी गति म्हारी पावां ला॥
सेना कवायद है भारी, पहराव पक्को हूँ स।
पर सेनापति रह्यो न कोई, कुण दे अब आदेश।
सन्तां ! बिना सेनानी सेना की कांई उपमा पावां ला॥
यह नक्षत्र चमकता भारा, तारां की झलमोल॥
रिव अम्बरियो सूनो लागे, बिना चांद चकडोल।
सन्तां ! बिना चांद की रजनी स्यूं म्हारो मुख आसो ला॥
अतिराम द्रुम बेह 'रु पौधा, विटपी लता वितान।
फल-फूलां स्यूं लहा-लुम्ब है, माली बिना मसान।
सन्तां ! बिन माली के उपवन की उपमा बन आसां ला॥
सेनी महिं मान स्यूं ममणो, दीखै सुन्दर डोल।
रिप क्यि वाड़ मनाई राही, अब स्यूं करै मन्तोल।
सन्तां ! बिना बाड़ को लेखो, मत्र के नहीं बचावां ला॥[2]

---

१. माणक-महिमा, गी० २, गा० २ से १०
२. माणक-महिमा, गी० १८, गा० २ से ६

कालू-उपदेश-वाटिका

'कालू-उपदेश-वाटिका' आचार्यश्री द्वारा समय-समय पर बनाई गई भक्त्यात्मक तथा उपदेशात्मक गीतिकाओं का संग्रह है। यह ग्रन्थ वि० सं० २००१ से २०१५ तक बनता रहा। इस कथन में यह अधिक संगत होगा कि इस लम्बी अवधि में बनाई गई गीतिकाओं को बाद में इस नाम से संगृहीत कर लिया गया। यह राजस्थानी भाषा का ग्रन्थ है। इसकी भक्त्यात्मक गीतिकाएँ जहाँ व्यक्ति को भक्ति-विभोर कर देने वाली हैं; वहाँ आचार्यश्री के भक्ति-प्रवण हृदय का भी दिग्दर्शन कराने वाली हैं। यद्यपि जैन तथा जैनेतर भक्तिवाद की भूमिका में काफी भेद रहा है; फिर भी आचार्यश्री भक्ति-धारा में बहते हुए दूसरी धारा को भी मानो अपने में समा लेना चाहते हैं। वे जानते हैं कि उनका आराध्य जैनेतर भक्तिवादियों के आराध्य के समान दृश्य या अदृश्य रूप से अपने आराधक के पास नहीं आता। उसे तो केवल भाव-विशुद्धि का साधन ही बनाया जा सकता है; फिर भी वे उसे अपने मन-मन्दिर में बुलाने का आग्रह करने से नहीं चूकते। वे कहते हैं :

प्रभु म्हारे मन-मन्दिर में पधारो,
करूं स्वागत गान गुणां रो,
करूं पल-पल पूजन थांरो।
चिन्मय में पाषाण बनाऊँ, नहीं में जड़ पुजारो,
अगर-तगर-चन्दन क्यू चरचूं, कण-कण सुरभित थांरो।

स्थान की अनुपयुक्तता में कहीं आराध्य उस मन्दिर में आने से इन्कार न कर दें; इसलिए वे स्वयं ही स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए वहीं आगे कहते हैं :

म्लान स्थान चंचलता निरखी, न करो नाथ नाकारो
तुम थिर वासे निरमलता पा, होसी थिरता थारो।

बड़े-से-बड़े दार्शनिक तथ्य को भी वे छोटे-से किसी रूपक के सहारे इस सहजता से कह जाते हैं कि आश्चर्य होता है। राग और द्वेष दोनों

ही आत्म-विरोधी भाव हैं; परन्तु जन-मानस मे एक के प्रति आदर मूलक भाव हैं तो दूसरे के प्रति निरादर-मूलक। वे उन दोनो की एक-रूपता तथा भावनात्मक भेद के कारण उन पर होने वाली मानव-प्रतिक्रिया की विभिन्नता को यो समझाते हैं .

द्वेष दाव, हिमपात राग है,
पण दोनां री एक लाग है,
है दोनां रो काम कमल रो खोज गमाणो ॥
काट काट अलि बाहर आवै,
कमल पांखड़ां छेद न पावै,
द्वेष राग रो रूपक जाण सको सो जाणो ॥

कुछ गीतिकाओ मे भक्ति और उपदेश का अत्यन्त मनोहर मिश्रण हुआ है। इसी प्रकार की एक गीतिका मे अविनाशी प्रभु की भक्ति के लिए प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं .

भज मन प्रभु अविनासी रे!
बीच भँवर में पड़ी नावड़ी काढै आसी रे ॥
थांरो म्हांरो कर-कर सारो जनम गमासी रे।
कोड़यां साटे हीरो खोकर तू पिछतासी रे ॥

इस सग्रह की उपदेशात्मक गीतिकाएँ बहुत सरसता के साथ जहाँ व्यक्तियो को दुष्प्रवृत्तियो से हटने की प्रेरणा देती हैं; वहाँ स्थान-स्थान पर रूपकों के रूप मे काव्य-रस का भी आस्वादन कराती हैं। उदाहरण-स्वरूप एक गीतिका के निम्नांकित पदों को पढ लेना पर्याप्त होगा :

अम्बर में कड़कै बिजली कड़ी,
होके रहिज्यो रे राही हुशियार।
घुमड़ घोर है गगन मण्डल में अजब अन्धेरी छाई।
पथ नहीं सूझै, हृदय अमूझै, डांफर स्यूं काया कुम्हलाई ॥
तरुण तूफान चरण हो अन्धड़, आंख मींचता आवै।
भारी भिरला बाद नदां में, जीवड़ो जोखम स्यूं घबरावै ॥

पाणी मोर पणीड़ा बोलै, हवा हुआ प्रतापी।
कोई गडुवा रूखड़ा डोलै, खिण में कुटिया लुट जासी॥
खिण-खिण में जो रूपाल राखता, चढ़णा मांटै मालै।
'जाए जासी गोंध्या म्हारी' बहस्या थे तिण पाणी रे नालै॥

इसमें संसारी प्राणी को रूपक की भाषा में राही कहा गया है। राही के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का भी उसी प्रकार की भाषा से वर्णन करते हुए उसे सावधान किया गया है—"आकाश में कड़कती हुई बिजलियां, घुमड़ते हुए बादलों से चारों ओर छाने वाला अन्धकार, शरीर को निष्प्राण कर देने वाली ठाकर—शीतवायु, आंख मींचकर चलने वाले तूफान और अन्धड़, टूटकर गिरने वाली भारी वर्षा तथा चढ़ी हुई नदियों ने तुम्हारे लिए घबरा जाने का वातावरण तैयार कर देने के साथ-साथ खतरा भी पैदा कर दिया है। ऐसा न हो कि तुम तट पर खड़े वृक्ष की तरह यों ही उखड़ जाओ तथा तट पर बनी कुटिया की तरह क्षण-भर में डुबो दिये जाओ। यहाँ प्रतिक्षण सावधान रहने वाले तथा ऊँचाई पर रहने वाले व्यक्ति भी बहुधा बहाव के साथ बह जाते हैं।"

श्रद्धेय के प्रति

यह भी 'कालू-उपदेश-वाटिका' की तरह गीतिकाओं का संग्रह ही है। इसमें विभिन्न पर्व-दिवसों पर देव, गुरु और धर्म के विषय में बनाई गई गीतिकाएँ हैं। इसके दो विभाग कर दिये गए हैं। प्रथम में हिन्दी और द्वितीय में राजस्थानी की गीतिकाएँ हैं। वे प्रायः महावीर-जयन्ती, भिक्षु-चरमोत्सव तथा मर्यादा-महोत्सव आदि पर्व दिवसों पर बनायी गई हैं। स्तुत्यात्मक होते हुए भी अनेक स्थानों पर काफी गहरा निरूपण किया गया है। स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट एक आचार्य, एक आचार और एक विचार की त्रिपदी को लक्ष्य कर एक नूतन अद्वैत बतलाते हुए कहा गया है -

एकाचार एक समाचारी एक प्ररूपणा पंथ।
यों नूतन अद्वैत निकाल्यो बाह भीखणजी सन्त।

चातुर्मासिक प्रवास से सन्त-सतियों के दूर-दूर तक फैल जाने और फिर मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर एकत्रित होने की इस विकोचन और संकोचन की प्रक्रिया को नदी के रूपक में अत्यन्त सूक्ष्मता और गौरवशीलता के साथ यों अभिव्यक्ति दी गई है :

पावस में पसरै करै सपनो शीतकाल संकोच।
निर्भरणी सम शासन सरणी अन्तर्मन आलोच।

प्रबन्ध-काव्य

इधर लगभग तीन वर्षों से आचार्यश्री का रुझान प्रबन्ध-काव्य लिखने की तरफ हुआ है। इन वर्षों में उन्होंने आषाढ़भूति, भरत-मुक्ति तथा अग्नि-परीक्षा नाम से तीन काव्य लिखे हैं। हिन्दी में प्रायः छन्दो-बद्ध प्रबन्ध-काव्यों का ही प्रचलन है, किन्तु इस परिपाटी के विपरीत ये तीनों गीतिका-निबद्ध हैं। बीच-बीच में दोहों, सोरठों तथा गीतक-छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। जैन साहित्य-परम्परा में यह शैली काफी प्रचलित रही है। राजस्थानी तथा गुजराती में ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं। हिन्दी में इस शैली का प्रयोग बीजारोपण के रूप में आचार्यश्री द्वारा किया गया है। इसकी संगीतात्मकता श्रव्य-काव्य के भावनात्मक ध्येय की पूर्ति करने वाली है। रोचक कथानक, प्रवाहयुक्त भाषा संगीतात्मकता के साथ मिलकर श्रोता को एक अद्वितीय आनन्द की अनुभूति करा देने वाली होती है।

आषाढ़भूति

'आषाढ़भूति' की कथा जैन समाज में अति प्रसिद्ध है। एक महान् आचार्य का परिस्थितियों के आवर्त-विवर्तों में फंसकर नास्तिकता की ओर झुकने और फिर उस भावना पर विजय ... में स्थिर

होने तक की घटनावलि में मानस के अनेक उतार-चढ़ावों का वर्णन है। अन्य पारिस्थितिक वर्णन भी हृदय को छूने वाले हैं। शहर में फैली हुई महामारी के अवसर पर नगरवासियों की दशा का वर्णन करते हुए कहा गया है :

> प्रायः पड़े बीमार, न कोई सेवा करने वाला।
> त्राहि-त्राहि कर रहे, न घर में पानी भरने वाला॥
> अच्छे-अच्छे भिषग्वरों की औषधि काम न करती।
> उस व्याधि के प्रबल ग्राम में धड़क रही है धरती॥
> छोड़ पितामह प्रपितामह को पौत्र-प्रपौत्र सिधारे।
> माता मरीः रो रहे बच्चे बिलख-बिलख कर सारे॥
> अन्ध-यष्टि से निराधार-आधार नन्द इकलौते।
> पैर पसारे, कौन उबारे, रहे स्वजन सब रोते॥
> कहीं-कहीं पर तो मृतकों को नहीं जलाने वाले।
> घर-घर में शव पड़े सड़ रहे, कौन किसे सम्भाले ?
> एक चिता पर, एक बीच में, एक पड़ा है धरती।
> वर्ग-भेद के बिना, शहर में घूम रहा समवर्ती॥[1]

महामारी के प्रचण्ड प्रहार ने आचार्य आषाढ़भूति के अनेक योग्य तथा विद्वान् शिष्यों की आहुति ले ली। शेष शिष्यों के बचने की आशा भी कुपित काल के आघातों से धूमिल हो उठी। उस स्थिति ने आचार्य के धार्मिक मन को झकझोर डाला। वे सोचने लगे; क्या आजीवन की गई धर्म-साधना का यही प्रतिफल है ? जन-साधारण की मृत्यु तथा अपने विद्वान् शिष्यों की मृत्यु के अभेद ने उनके मन में नास्तिकता का बीज-वपन कर दिया। एक ओर उनके मानस की यह डगमग करती हुई स्थिति थी; तो दूसरी ओर गण की स्थिति उस उद्यान के समान हो

1. आषाढ़भूति, १-४८ से ५३

रही थी जो कि पतझड़ के समय बिल्कुल शोभा-विहीन होकर डरावना-सा लगने लगता है। आचार्य अपने मन की इस परेशानी को जब बचे हुए शिष्यों के सामने रखते हैं;तब उनका मन इतना खिन्न और निराशा से भरा होता है कि उन्हें किसी के बचने की सम्भावना ही नहीं रहती। उन्हें लगता है कि काल कुपित होकर उनकी हरएक आशा को घात लगा-लगाकर तोड़ डाल रहा है। तभी तो वे अपने अवशिष्ट शिष्यों को 'सानन्द' विदा देने की बात कह डालते हैं और साथ ही अपनी आँखों में घिर आने वाली नास्तिकता की सम्भावित काली रात का भी उल्लेख कर देते हैं। वे कहते हैं.

फलित ललित आषाढ़भूतिमय
पतझड़ हुआ आज देखो
किसने सोचा यों आयेगा, भीषण झंझावात।

शेष रहे भी बच पायेंगे
यह भी सम्भव नहीं अहो!
रह-रह आशा तोड़ रही है, कुपित काल की घात।

लो तो सभी विदा मेरे से
मैं सानन्द तुम्हें देता
पर घिरने वाली है, इन आँखों में काली रात।[1]

एक स्थान पर बालकों का वर्णन सहज और सरल शब्दों में इतने आकर्षक ढंग से किया गया है कि मानो बालकों की आकृति-प्रकृति और क्रियाकलाप स्वयं ही मुखरित हो उठे हों :

तप्त स्वर्ण से उनके चेहरे, कोमल प्यारे-प्यारे।
झलक रही थी सहज सरलता, हर्षित वदन थे सारे।

---

1. आषाढ़भूति, १-७२ से ७४

तुतली-तुतली प्यारी-प्यारी, मीठी-मीठी बोली ।
बड़ी सुहानी, हृदय लुभानी, सूरत भोली-भाली ।[1]

महाकवि कालिदास ने कहा है—नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण[2] अर्थात्—"मनुष्य की दशा रथ के चक्र की तरह क्रमशः नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे होती रहती है।" आचार्यश्री इस बात को 'मति' से जोड़कर यों कहते हैं :

आता पतन चरम सीमा पर, तब आता उत्थान,
प्रायः मानव-मानस का यह, सरल मनोविज्ञान ।
है सम्भावित अभ्युत्कर्षण में होना अपकर्ष
अपकर्षण में ही होता, निश्चित सदा उत्कर्ष ।[3]

भरत-मुक्ति

'भरत-मुक्ति' भगवान् ऋषभनाथ के प्रथम पुत्र भरत के जीवन से सम्बद्ध काव्य है। मानव-संस्कृति के प्रथम स्फोट के अवसर पर मार्ग-दर्शन करने वाले तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ को जैनों ने ही नहीं; किन्तु वैदिकों ने भी अपने अवतारों में से एक गिना है। इस काव्य में उस समय के मानव-स्वभाव और उसमें हुए क्रमिक विकास का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। महाराज भरत ऋषभनाथ के प्रथम पुत्र होने के साथ यहां के प्रथम सम्राट् भी थे। जैनों के विचारानुसार उन्हीं के नाम पर इस क्षेत्र को 'भरत' या 'भारत' कहा जाने लगा है। भरत के जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव हैं। राज्यलिप्सा, भाइयों से कलह, युद्ध, साम्राज्य-स्थापन तथा अनन्य सुख-भोग आदि की घाटियों से तुमुल नाद के साथ बहती हुई उनकी जीवन-सरिता अन्ततः शमरस की समभूमि पर

---

१. आषाढ़भूति, २-६६ और ७२
२. मेघदूत
३. आषाढ़भूति, ३-१२७, १२८

स्त्रियाँ वस्त्राभूषणों से सज्जित होती हैं। अपने रूप-गौरव पर अपने आप ही लज्जित होती हुई वे छुई-मुई-सी रहती हैं। पति के आस-पास रहने को वे अपने जीवन का सर्वोत्कृष्ट सुख मानती हैं। उनकी हर गतिविधि पुरुष के मन को उन्मत्त कर देने वाली होती है। परन्तु वे सारी गतिविधियाँ मानवीय संस्कारों में ही बंध कर नहीं रह जाती हैं। कवि के संसार में वे वनस्पति-लोक में भी उसी प्रकार से बनती रहती हैं। मानवीय भावों को वनस्पति-जगत् पर कवि ने कितने सुन्दर ढंग से आरोपित किया है :

> शाखाओं से तन सज्जित हो,
> पत्रों-पुष्पों से सज्जित हो,
> मानसोन्मादिनी लतिकाएँ,
> पादप-गण के बाँहें बाँहें।[1]

एक स्थान पर हिंसा और अहिंसा के विषय में बड़ी स्पष्टता के साथ कहा गया है :

> है हिंसा आक्रामकता, भय खाना भी हिंसा है,
> उसमें बर्बरता, इसमें जग में निन्दा-लिप्सा है।
> दोनों से आत्म-पतन है, दोनों हैं दुर्बलताएं,
> क्यों लड़ें किसी से भड़के ! क्यों मरने से घबरायें !
> होते आक्रमण, पलायन, भयभीतों के दो लक्षण,
> बचते जो हम दोनों से, वे हो गम्भीर विचक्षण।
> वर अभय अहिंसा देती, जहाँ भय का काम नहीं है,
> सत्रस्त भयाकुल प्राणी, लेते विश्राम वहीं हैं।[2]

आक्रमण करना हिंसा है, पर आक्रमण से भयभीत होना भी हि

---

१. भरत-मुक्ति, सर्ग ३

२. भरत-मुक्ति, सर्ग ४

नारी-जाति के विषय में आचार्यश्री के अतिशय कोमल विचार हैं। वे उनके उत्थान-विषयक योजनाओं को कार्यान्वित करने पर बहुधा बल देते रहते हैं। नारी-जाति की पीड़ा और विवशता उनसे छिपी नहीं है। राम द्वारा निष्कासित होने पर सीता का चिन्तन वस्तुतः आचार्यश्री के चिन्तन को ही व्यक्त करने वाला है; जो कि इस प्रकार है :

> है पुरुषों के लिए खुली यह वसुधा सारी,
> पर, नारी के लिए सदन की चार-दीवारी।
> सूर्य देखना भी होता महाभारत भारी,
> किसे कहे अपनी लाचारी वह बेचारी॥
> मार-मार अपने मन को वह सब कुछ सहती,
> जैसा होता, नहीं किसी से कुछ भी कहती।
> चिन्ता सदा चिता बन, उसको दहती रहती,
> व्यथा हृदय की घुल-घुलकर पलकों से बहती॥[1]

जैन-रामायण के अनुसार परित्याग के लिए सीता को लक्ष्मण नहीं; किन्तु 'कृतान्तमुख' सेनापति ले गए थे। जब वे वापस आकर राम को सीता के उपालम्भों आदि से अवगत कराते हैं, तब उनसे श्रोतृगण का मन करुणार्द्र हो उठता है; परन्तु अन्ततः जब सीता इस काण्ड में भी सदा से निर्दोष रहने वाले राम के मति-विभ्रम को अपने ही किन्हीं अज्ञात कृतकर्मों का परिणाम स्वीकारती है; तब भारतीय नारी की इस शालीनता और सात्त्विकता पर मस्तक झुक-झुक जाता है। कृतान्तमुख उनके शब्दों को यों दोहराता है।

> कैसे प्रतिकूल प्रवाह बहा, कुछ भी जा सकता नहीं कहा,
> नस-नस में उनकी जान रही, अति भावुक भद्र स्वभाव रहा।

---

१. अग्नि-परीक्षा, ४-१४,१६

निशा-वासर हैं बराबर, तुल्यता कफ-वात में,
वेदनी आयुर्यथा सम समुद्घात-विघात में।
पूर्णतः अनुकूल ऋतु यह स्वास्थ्य-शोधन के लिए,
ज्यों अणुव्रत आज जन-मानस प्रबोधन के लिए।
स्वच्छ सलिल सरोवरों का मुकुर-सदृश सुहावना,
धर्म-शुक्ल-ध्यान में जैसे समुज्ज्वल भावना।
जैन मुनि भी कर रहे अब प्रतीक्षा प्रस्थान की,
योग-वेधक प्राप्त-शैलेशी यथा निर्वाण की।
स्वल्प-सी भी वृष्टि होती सिद्ध अत्युपयोगिनी,
सजग मुनि की क्रिया संवर-निर्जरा-संयोगिनी।
हो रहीं कृशकाय नदियाँ क्षीण निर्झर-शीलता,
क्षपक श्रेण्यारूढ़ मुनि की ज्यों कषाय-प्रहीणता।
वर्ष भर का कृषिक श्रम अब हो रहा साकार है,
वीतता तन-मात्र अन्तराल में यथा चमत्कार है।[1]

यहाँ शीतल पवन, घनरहित आकाश, पंकरहित धरती, वृष्टि-विस्तार से हुए हर उपवन का पुनः सजीव, शीतोष्ण भावना की समस्थिति, दिन-रात की समानता, स्वास्थ्य की अनुकूलता, जल की स्वच्छता, नदियों और निर्झरों के उफान का शमन तथा कृषक के श्रम का धान्य के रूप में साकार होना आदि वर्ण्य शरद् ऋतु का इतना सहज चित्र खींचते हैं कि जिसे हर कोई इस जगत् में प्रति वर्ष साक्षात् अनुभव करता है। इस वर्णन में प्रयुक्त उपमाएँ जहाँ एक ओर विषय को सरल बनाती हैं, वहाँ दूसरी ओर गम्भीर भी बना देती हैं। जैन तत्त्व-ज्ञान के बिना उन्हें समझना कुछ कठिन है। इन उपमाओं में आचार्यश्री ने एक नवीन प्रयोग किया मालूम होता है। अवश्य ही इसने जैन संस्कृति के विचारों तथा

1. अग्नि-परीक्षा, २–१ से ६

जो हुआ: दोष सब मेरा है, निर्दोष निरन्तर रहे राम,
कृतकर्मों का ही कुपरिणाम, जिससे उनकी मति हुई वाम।
मृषा कलंक यह आया है, रवि के रहते तम छाया है,
माताजी ने कहलाया है॥[1]

इसके साथ ही जब वे इस परित्याग से उत्पन्न हुई स्थिति से अपने और राम के सम्बन्धों का जिक्र करती हैं; तब रूपकों के माध्यम से कवि उनके भावों की अभिव्यक्ति इतनी गहराई और मार्मिकता के साथ करते हैं कि हर रूपक सीता के अन्तस्तल की पीड़ा का प्रतिबिम्ब बनकर 'श्रव्य' के साथ-साथ 'दृश्य' होने का आभास देने लगता है। वहां कहा गया है :

ममता की गांठें शिथिल हुईं, भावों की गगरी फूट गईं,
निर्यामक का मुंह फिरते ही पतवार हाथ से छूट गईं।
सीता की सरिता सूख गई, सपनों की रजनी रूठ गई,
अब क्या जीने में जीना है, जब आकांक्षाएँ टूट गईं।
सब गत-रस किया कराया है, न्यारी काया से छाया है।[2]

एक स्थान पर शरद् ऋतु का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

शरद् ऋतु की सुखद शीतल पवन-लहरी चल रही,
विगत-घन अति शुभ्र अम्बर पंक-विरहित थी मही।
आ रहा विस्तार वर्षा का सहज संक्षेप में,
ज्यों समाहित तत्त्व सारे, चतुर्विध निक्षेप में।
नाति शीत, न चाति ऊष्मा, सम अवस्थित भाव में,
सर्वदा ज्यों लीन रहते सन्त सहज स्वभाव में।

---

१. अग्नि-परीक्षा, पृ-७४
२. अग्नि-परीक्षा,पृ-७६

निशा-वासर हैं बराबर, तुल्यता कफ-वात में,
वेदनी आयुर्यथा सम समुद्घात-विघात में।
पूर्णतः अनुकूल ऋतु यह स्वास्थ्य-शोधन के लिए,
ज्यों अणुव्रत आज जन-मानस प्रबोधन के लिए।
स्वच्छ सलिल सरोवरों का मुकुर-सदृश सुहावना,
धर्म-शुक्ल-ध्यान में जैसे समुज्ज्वल भावना।
जैन मुनि भी कर रहे अब प्रतीक्षा प्रस्थान की,
योग-रोधक प्राप्त-शैलेशी यथा निर्वाण की।
स्वल्प-सी भी वृष्टि होती सिद्ध अत्युपयोगिनी,
सजग मुनि की क्रिया संवर-निर्जरा-सयोगिनी।
हो रही कृशकाय नदियाँ क्षीण निर्झर-पीनता,
क्षपक श्रेण्यारूढ़ मुनि की ज्यों कषाय-प्रक्षीणता।
वर्ष भर का कृषिक श्रम अब हो रहा साकार है,
खींचता तन-सार अनशन में यथा अनगार है।[1]

यहाँ शीतल पवन, घनरहित आकाश, पंकरहित धरती, वृष्टि-विस्तार से हुए हर उपक्रम का पुनः संक्षेप, शीतोष्ण भावना की समस्थिति, दिन-रात की समानता, स्वास्थ्य की अनुकूलता, जल की स्वच्छता, नदियों और निर्झरों के उफान का शमन तथा कृषिक के श्रम का धान्य के रूप में साकार होना आदि कार्य शरद् ऋतु का इतना सहज चित्र खींचते हैं कि जिसे हर कोई दृश्य जगत् में प्रति वर्ष साक्षात् अनुभव करता है। इस वर्णन में प्रयुक्त उपमाएँ जहाँ एक ओर विषय को सरल बनाती हैं; वहाँ दूसरी ओर गम्भीर भी बना देती हैं। जैन तत्त्व-ज्ञान के बिना उन्हें समझना कुछ कठिन है। इन उपमाओं से आचार्यश्री ने एक नवीन प्रयोग किया मालूम होता है। अवश्य ही इससे जैन संस्कृति के विचारों तथा

---

१. अग्नि-परीक्षा, २–१ से २

पारिभाषिक शब्दों से जन-साधारण को परिचित होने की प्रेरणा मिलेगी।

संस्कृत-साहित्य

आचार्यश्री के संस्कृत-साहित्य में 'जैन सिद्धान्त दीपिका' तथा 'भिक्षु न्याय कर्णिका' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दर्शन-ग्रन्थ हैं। ये प्राचीन परिपाटी के अनुसार सूत्र तथा वृत्ति के रूप में सदृब्ध हैं। 'जैन सिद्धान्त दीपिका' में जैन मान्यतानुसार तत्त्व-निरूपण किया गया है। इसके नौ प्रकाश हैं। नवें प्रकाश में जैन-न्याय-सम्बन्धी संक्षिप्त परिभाषाएँ दी गई हैं, जब कि अन्य आठ प्रकाशों में द्रव्य, आत्मा, कर्म, अहिंसा तथा गुणस्थान आदि का विवेचन है। 'न्याय कर्णिका' में आठ विभाग हैं, जिनमें जैन मान्यतानुसार प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ न्याय के विद्यार्थियों के लिए प्रवेश-द्वार का कार्य करता है। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' आदि ग्रन्थों के समान इसमें इतर न्याय-शास्त्रियों के मन्तव्यों का खण्डन करने का लक्ष्य नहीं रखा गया है। यह ग्रन्थ जैन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करता है तथा जैन न्याय के प्रमुख अंग नय-निक्षेप आदि को भी सरलता से हृदयंगम करने में सहायक होता है। वस्तुतः यह अत्यन्त उपयोगी एवं तात्त्विक ग्रन्थ है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत-गद्य में आचार्यश्री के कई निबन्ध भी हैं। संस्कृत पद्य-ग्रन्थों में 'कालू कल्याण मन्दिर स्तोत्रम्', 'कर्तव्यषट्-त्रिंशिका', 'शिक्षाषण्णवति' आदि हैं।

धर्म-सन्देश

आचार्यश्री की साहित्य-सृष्टि में धर्म-सन्देशों का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये सन्देश बहुधा विश्व के विभिन्न भागों में होने वाले विभिन्न सम्मेलनों के अवसर पर दिये गए थे। अनेक स्थानों पर उनका अच्छा प्रभाव भी देखने में आया। 'अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश' नामक एक सन्देश जापान में आयोजित 'विश्व-धर्म-सम्मेलन' के

अवसर पर दिया गया था। यह दूर-दूर तक पहुँचा था। न्यूयार्क के 'साइरेक्यूज विश्वविद्यालय' के डा० रेमंड एफ० पीयर ने एक पत्र मे लिखा था कि उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन के लिए अपने छात्रों के पाठ्य-क्रम मे २६ जून १९४५ को दिये गये प्रवचन 'अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश' के महत्त्वपूर्ण अंशो को सम्मिलित कर लिया है[1]।

उस सन्देश की एक प्रति महात्मा गांधी के पास भी पहुँची थी। उन्होंने उसे पढा और उस पर कई जगह टिप्पणियां भी लिखी। इस सन्देश का प्रकाशन काफी लम्बे समय के पश्चात् हुआ था। अत भूमिका मे जहाँ एतद्-विषयक खेद प्रकाशित किया गया था, महात्मा गांधी ने वही पर लिखा—'ऐसे सन्देश निकालने में देरी क्यों ?' पुस्तिका के पृष्ठ ११ पर 'सम्यक्त्व' का विवेचन किया गया है, महात्मा गांधी ने वहा लिखा है—'क्या इस सम्यक्त्व का प्रचार किया गया ?' उसके आगे पृष्ठ ११-१२ पर विश्व-शान्ति के सार्वभौम उपायो का कथन करते हुए नौ बातें बतायी गई है। उस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—'क्या ही अच्छा होता कि दुनिया इस महापुरुष के इन नियमों को मान कर चलती[2]।'

यह आचार्यश्री का प्रथम सन्देश था। इसके बाद 'धर्म-रहस्य', 'आदर्श राज्य', 'धर्म-सन्देश', 'पूर्व और पश्चिम की एकता', 'विश्व शान्ति और उसका मार्ग', 'धर्म सब कुछ है; कुछ भी नहीं', 'धर्म और भारतीय दर्शन' आदि अनेक सन्देश तथा वक्तव्य दिये गए। उनका प्राय. सर्वत्र यथोचित आदर हुआ है।

मधु-संचय

आचार्यश्री के दैनन्दिन प्रवचनो को अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक रूपो मे संकलित किया गया है। वे सभी संकलन उनके साहित्य का ही

---

१. जैन भारती, मार्च १९४६
२. जैन भारती, जुलाई १९५७

अंग है। 'नैतिक सञ्जीवन', 'शान्ति के पथ पर', 'तुलसी-वाणी', 'पथ और पाथेय', 'प्रवचन-डायरी' आदि पुस्तकें इसी क्रम में समाविष्ट हैं। वस्तुतः वे जो कुछ बोलते हैं, वह सब ऋषि-वाणी के रूप में स्वयं सिद्ध साहित्य बन जाता है। उन प्रवचनों में कुछ अंश तो इतने भावपूर्ण होते हैं कि हृदय को छू-छू जाते हैं। वे आचार्यश्री के मानस-मन्थन से उद्भूत विचार-नवनीत के रूप में जितने सुकोमल और पवित्र होते हैं; उतने ही शक्तिदायक भी। उनके भावों की गहराई मन को मुग्ध कर लेने वाली होती है। श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने आचार्यश्री के एक वाक्य पर लिखा था—'अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक सन्त तुलसी ने दो शब्दों में इस विकृति; प्राप्त का सुख न लेना और अप्राप्त की सतत चाह रखना; का जो चित्र दिया है; उसे हजार विद्वान् हजार-हजार पृष्ठों की हजार पुस्तकों में भी नहीं दे सकते। वे शब्द हैं—भूख और व्याधि। सन्त की वाणी है—"आज के मनुष्य को पद, यश और स्वार्थ की भूख नहीं, व्याधि लग गई है; जो बहुत कुछ बटोर लेने के बाद भी शान्त नहीं होती"।'[1] इस प्रकार के छोटे तथा गहरे वाक्यों से आचार्यश्री के प्रवचन भरे रहते हैं। यहां उनके इसी प्रकार के भाववाही सुभाषितों के मधु-आस्वाद का कुछ आस्वादन अप्रासंगिक नहीं होगा।

जो सब कुछ जान कर भी अपने आपको नहीं जानता, वह अविद्वान् है। विद्वान् वही है, जो दूसरों को जानने से पूर्व अपने आपको भलीभांति जान ले।

× × ×

हम अपने से ही अपना उद्धार चाहते हैं। बाह्य-नियन्त्रण कम से कम चाहें। हम स्वयं ही नियन्त्रित होकर चलें, तभी हम अपना उद्धार कर सकते हैं।

× × ×

1. ज्ञानोदय, जनवरी १९५२

सिद्धान्तवादिता से आलोचना प्रतिफलित होती है और अनुभूति से मौलिकता। सिद्धान्त से मौलिकता नहीं आती, मौलिकता के आधार पर सिद्धान्त स्थिर होते हैं।

× × ×

जो जितना अधिक नियन्त्रणहीन होता है; वह उतना ही अधिक अपने आस-पास मर्यादा का जाल बुनता है।

× × ×

हमारा घर साफ-सुथरा होगा तो पड़ौसी को उससे दुर्गन्ध नहीं मिलेगी।

× × ×

हम अहिंसक रहेंगे तो पड़ौसी को हमारी ओर से क्लेश नहीं होगा।

पड़ौसी को दुर्गंध न आये, इसलिए हम घर को साफ-सुथरा बनाये रखें, यह सही बात नहीं है।

दूसरों को कष्ट न हो इसलिए हम अहिंसक रहें; अहिंसा का यह सही मार्ग नहीं है।

आत्मा का पतन न हो इसलिए हिंसा न करें; यह है अहिंसा का सही मार्ग। कष्ट का बचाव तो स्वयं हो जाता है।

× × ×

अहिंसा के दो पहलू हैं—विचार और आचार। पहले विचार बनते हैं फिर तदनुसार आचरण होता है।

आवश्यक हिंसा को अहिंसा मानना चिन्तन का दोष है। हिंसा आखिर हिंसा है। यह दूसरी बात है कि आवश्यक हिंसा से बचना कठिन है।

× × ×

धर्म एक प्रवाह है। सम्प्रदाय उसका बाँध है। बाँध का पानी सिंचाई और अन्य कार्यों के लिए उपयोगी होता है; वैसे ही सम्प्रदाय

से धर्म सर्वत्र प्रवाहित होता है। इसके विपरीत सम्प्रदायों में कट्टरता, खींचातानी, साम्प्रदायिकता आ जाये तो वह केवल स्वार्थ सिद्धि का मार्ग बनकर कल्याण के स्थान पर हानिकारक और आपसी वैर पैदा करने वाला हो जाता है।

× × ×

शोषण का द्वार खुला रखकर दान करने वालों की अपेक्षा अदानी बहुत श्रेष्ठ है, चाहे वह एक कौड़ी भी न दे।

× × ×

मनुष्य अपनी गलती को नहीं देखता, दूसरे की गलती को देखने के लिए सहस्राक्ष बन जाता है। अपनी गलती देखने के लिए जो दो आँखें हैं उनको भी मूंद लेता है।

× × ×

आत्म-तोष का एक मात्र मार्ग आत्म-संयम है। दोनों का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। लोग संयम को निषेधात्मक मानते हैं। पर वह जीवन का सर्वोपरि क्रियात्मक पक्ष है।

× × ×

जिसकी चाह नहीं है, उसकी राह सामने है और जिसकी चाह है उसकी राह नहीं है। आज का मनुष्य विपर्यय की दुनिया में जी रहा है। चाह सुख की है, कार्य दुःख के हो रहे हैं।

× × ×

सुख का हेतु अभाव भी नहीं है और अति-भाव भी नहीं है सुख का हेतु स्वभाव है।

× × ×

व्रती समाज की कल्पना जितनी दुरूह है उतनी ही सुखद है। व्रत लेने वाला कोरा व्रत ही नहीं लेता पहले वह विवेक को जगाता है।

श्रद्धा और संकल्प को दृढ़ करता है। कठिनाइयाँ झेलने की क्षमता पैदा करता है। प्रवाह के प्रतिकूल चलने का साहस लाता है; फिर वह व्रत लेता है।

× × ×

पहले-पहल बुराई करते घृणा होती है, दूसरी बार संकोच, तीसरी बार निःसंकोचता आ जाती है और चौथी बार में साहस बढ़ जाता है।

× × ×

विचार के अनुरूप ही आचार बनता है अथवा विचार ही स्वयं आचार का रूप लेता है।

× × ×

आचार-शुद्धि की आवश्यकता है। उसके लिए विचार-क्रान्ति चाहिए, उसके लिए सही दिशा में गति और गति के लिए जागरण अपेक्षित है।

× × ×

जीवन सरस भी है, नीरस भी है। सुख भी है, दुःख भी है। सब कुछ भी है, कुछ भी नहीं है। नीरस को सरस, दुःख को सुख, कुछ भी नहीं को सब कुछ बनाने वाला कलाकार है।

× × ×

पदार्थ-प्राप्ति पर जो आनन्द मिलता है; वह तो क्षणिक होता है। ··· किन्तु वस्तु-निरपेक्ष आनन्द ही स्थायी होता है।

× × ×

धर्म जो कि पुस्तकों, मन्दिरों और मठों में बन्द है; उसे जीवन में लाना होगा। बिना जीवन में उतारे केवल आस्तिकवाद की दुहाई देने मात्र से क्या होने वाला है?

× × ×

विश्व-शान्ति और व्यक्ति की शान्ति दो वस्तुयें नहीं हैं। अशान्ति का

मूल कारण अनियंत्रित लालसा है। लालसा से संग्रह, संग्रह से शोषण की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

× × ×

मुझे तो अणुबम और उद्जनबम जितने प्रलयकारी नहीं लगते उतनी प्रलयंकारी लगती है—चरित्रहीनता; विचारों की संकीर्णता। बम तो उन अपवित्र विचारों का फलितार्थ-मात्र है।

× × ×

छोटे भिखारियों के लिए तो सरकार भिखारी बिल बना देगी; पर मैं पूछता हूँ कि इन बड़े भिखारियों का सरकार क्या करेगी? जब चुनाव आते हैं; तब ये बड़े भिखारी घर-घर डोलते हैं—"लाओ वोट और लो वोट"।

× × ×

लोगों में जितना भाव उपासना का है, उतना आचरण-शुद्धि का नहीं। पर आचरण-शुद्धि के बिना उपासना का महत्त्व कितना होगा!

× × ×

मैं चाहता हूं; प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के सद्विचारों का समादर करे। समस्त धर्मों के प्रति सहिष्णुता रखे। उदार बनेंगे तो पायेंगे। सङ्कुचित बनेंगे तो खोयेंगे।

× × ×

श्रद्धा और तर्क जीवन के दो पहलू हैं। जीवन में दोनों की अपेक्षा है। व्यावहारिक जीवन में भी न केवल श्रद्धा काम देती है और न केवल तर्क। दोनों का समन्वित रूप ही जीवन को समुन्नत बनाने में सहायक होता है। अतः तर्क के साथ श्रद्धा की भूमिका होनी चाहिए और श्रद्धा भी तर्क की कसौटी पर कसी होनी चाहिए।

× × ×

विद्या वरदान है; पर आचार-शून्य होने से वह अभिशाप भी बन जाती है।

× × ×

तुम पथिक बनकर पथ पर चलो। लेकिन पथ पर कब्जा मत करो। पथ पर चलो, पर पन्थ के नाम पर बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ और महल खड़े मत करो।

× × ×

लोग कहते हैं कि साँप-बिच्छू जहरीले हैं; इसलिए हम उन्हें मारते हैं। मैं पूछता हूँ—जहरीला कौन नहीं है? क्या आदमी साँप से कम जहरीला है? साँप कब काटता है? जब वह दब जाता है, उसे भय होता है; पर आदमी बिना दबे ही ऐसा काटता है; जो जहर पीढ़ियों तक भी नहीं उतरता।

× × ×

खाने के तीन उद्देश्य हैं—स्वाद के लिए खाना, जीने के लिए खाना और संयम-निर्वाह के लिए खाना। स्वाद के लिए खाना अनैतिक है, जीने के लिए खाना आवश्यकता है और संयम के लिए खाना साधना है।

× . × ×

विद्या जीवन की दिशा है; जिसे पाकर मनुष्य अपने इष्ट स्थान पर पहुँच सकता है। चरित्र जीवन की गति है। सही दिशा मिल जाने पर भी गतिहीन व्यक्ति इष्ट स्थान पर नहीं पहुँच पाता। सही दिशा और गति दोनों मिलें; तब काम बनता है।

× × ×

सेवा का सबसे पहला कदम अपनी जीवन-शुद्धि है। वह आत्म-सेवा है; जिसके बिना जन-सेवा बन नहीं सकती।

× × ×

शिक्षा का फल मस्तिष्क-विकास है; किन्तु है प्राथमिक। उसका चरम फल आत्म-विकास है। मस्तिष्क-विकास चरित्र-विकास के माध्यम से ही आत्म-विकास तक पहुँच पाता है। इसलिए चरित्र-विकास दोनों के बीच में कड़ी है।

× × ×

न्याय और दलबन्दी—ये विरोधी दिशाएँ हैं। एक व्यक्ति एक साथ दो दिशाओं में चलना चाहे; इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है?

× × ×

मेरी दृष्टि में वह धर्म ही नहीं; जो अगले जीवन को सुधारने के लिए इस जीवन को संक्लिष्ट बनाये—बिगाड़े। वस्तुतः धर्म की कसौटी अगला जीवन नहीं; यही जीवन है।

: ६ :

संघर्षों के सम्मुख

स्थितप्रज्ञता

आचार्यश्री का जीवन संघर्षमय जीवन की एक कहानी है। ज्यों-ज्यों उनका जीवन विकास करता रहा है, त्यों-त्यों संघर्ष भी बढ़ता रहा है। उनके विकासशील व्यक्तित्व ने जहाँ अनेकों भक्त तैयार किये हैं; वहाँ विरोधी भी। भक्ति श्रद्धा या गुणज्ञता से उत्पन्न होती है; तो विरोध अश्रद्धा या ईर्ष्या से। विरोध चट्टान बनकर बार-बार उनके मार्ग में अवरोधक बन कर आता रहा है, किन्तु उन्होंने हर बार उसे अपनी सफलता की सीढ़ी बनाया है। वे जहाँ जाते हैं; वहाँ हजारों स्वागत करने वाले मिलते हैं तो पाँच-दश आलोचना करने वाले भी निकल आते हैं। "विकास विरोधियों के साथ संघर्ष का नाम है"—लेनिन का यह वाक्य अपने पूरे रहस्य के साथ आचार्यश्री पर लागू होता है। विरोध और अनुरोध—इन दोनों ही परिस्थितियों में अपने-आपको सन्तुलित रखने की शक्ति उनमें है। अनुरोधजन्य अहंभाव और विरोध-जन्य हीन-भाव उन्हें प्रभावित नहीं करते। अपनी स्थितप्रज्ञता के बल पर वे इन सब भावों से ऊपर उठे हुए हैं।

दो प्रकार

संघर्ष प्रायः हर जीवन में रहते हैं। सफल जीवन में तो और भी अधिक। आचार्यश्री के जीवन में वे काफी मात्रा में रहे हैं, कुछ साधारण; तो कुछ असाधारण। वर्तमान वातावरण को तो सभी संघर्ष झकझोरते

ही हैं; परन्तु कुछ स्वल्पकालिक प्रभाव छोड़ने वाले होते हैं तो कुछ चिरकालिक। आचार्यश्री के सम्मुख आने वाले संघर्षों में कुछ आन्तरिक हैं तथा कुछ बाह्य।

आन्तरिक संघर्ष

दृष्टि-भेद

आन्तरिक संघर्ष से तात्पर्य है—तेरापंथियों द्वारा किया हुआ संघर्ष। आचार्यश्री तेरापंथ के आचार्य हैं, अतः तेरापंथ के विधानानुसार उनकी आज्ञा सभी अनुयायियों को समान रूप से शिरोधार्य होनी चाहिए; परन्तु कुछ प्राचीनतावादियों के मन में उनके प्रति अश्रद्धा के भाव उत्पन्न हुए हैं। उनके विचारानुसार उनकी अनेक बातें तेरापंथ की परम्परा के विरुद्ध होती जा रही हैं। वे सोचते हैं कि आचार्यश्री द्वारा युग की आवश्यकता के नाम पर जो परिवर्तन किये जा रहे हैं; वे सब अन्ततः अहितकर ही होंगे।

आचार्यश्री का दृष्टिकोण है कि धर्म के मूल नियम अपरिवर्तनीय भले ही हों, किन्तु किसी भी प्रकार के परिवर्तन का विरोध करना जीवन की गति का ही विरोध करना है। मूलगुणों को सुरक्षित रखते हुए उत्तरगुणों से सम्बद्ध अनेक परम्पराओं का जिस प्रकार पूर्वाचार्यों ने परिवर्तन किया है, उसी प्रकार आज भी आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन की गुंजाइश हो सकती है।

नवीनता से भय

प्राचीनता और नवीनता का यह संघर्ष कोई नया नहीं है। हर प्राचीनता नवीनता को इसी आशंका-भरी दृष्टि से देखती है कि यह कहीं सारे ढांचे को ही न ढहा दे। परन्तु जो दूर-द्रष्टा होते हैं; वे जानते हैं कि नवीन प्राण-शक्ति के बिना कोई भी समाज जीवित नहीं रह सकता।

इसी आधार पर वे प्राचीनता के इन तर्कों से भयभीत नहीं होते और आवश्यक परिवर्तन करते हैं। आचार्यश्री ने अनेक परिवर्तन किये हैं और उनके मार्ग में आने वाले विरोधों को उन्होंने विचार-मन्थन का ही एक साधन माना है। जिस क्रिया में विरोध या रुकावट नहीं आती; वह कार्य उतना प्रभावकारी भी नहीं होता। जिस काम में चेतना लाने वाली शक्ति होती है; वही हरएक के मस्तिष्क में हलचल पैदा कर सकता है। कुछ लोगों के लिए वह हलचल भय का कारण बन जाती है। वही भय फिर संघर्ष के लिए अनेक निमित्त उपस्थित कर देता है। उन निमित्तों में से कुछ का दिग्दर्शन यहाँ कराना अनुचित नहीं होगा।

संघर्ष का बीज-वपन

आन्तरिक संघर्ष का बीज-वपन अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना के पारिपार्श्विक वातावरण से हुआ। उससे पूर्व आचार्यश्री के प्रति सभी की अटूट निष्ठा थी। तब तक आचार्यश्री का विहार-क्षेत्र प्राय. थली (बीकानेर डिवीजन) तक ही सीमित था। उनके समय और शक्ति का बहुलांश प्राय. उसी समाज के बँधे हुए दायरे में लगता था। आन्दोलन की प्रवृत्तियों के साथ-साथ ज्यों-ज्यों दायरा विशाल बनता गया—दृष्टिकोण व्यापक होता गया, त्यों-त्यों उस वर्ग पर लगने वाला समय और सामर्थ्य का प्रवाह जन-साधारण की ओर मुड़ता चला गया। उससे कतिपय व्यक्तियों को लगने लगा कि आचार्यश्री तेरापंथ से दूर हटने लगे हैं। वे गैर-तेरापंथियों से घिरते चले जा रहे हैं।

आन्दोलन के प्रति

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति भी अनेक शंकाएँ उठाई जाने लगी। उनमें मुख्य ये थी :

१. जो व्यक्ति सम्यक्त्वी नहीं है; क्या उसे अणुव्रती कहा जा सकता है ?

२. गृही-जीवन के विषय में नियम बनाना क्या साधुचर्या के अनुकूल है ?

३. श्रावक के बारह व्रतों को छोड़कर नया प्रचार करना क्या आगमों के प्रति अन्याय नहीं है ? आदि-आदि ।

आचार्यश्री ने यथावसर उपर्युक्त तथा इन जैसी अन्य सभी शंकाओं का अनेक बार समाधान किया । जो व्यक्ति अणुव्रती शब्द की उलझन में थे; वे स्वयं श्रावक-व्रत धारण न करने वाले को भी श्रावक ही कहा करते थे । श्रावक और अणुव्रती शब्द के प्रयोग की तुलना पर ध्यान देने से वह शंका स्वयं ही निरस्त हो जाने वाली थी । परन्तु श्रावक शब्द के प्रयोग की प्राचीनता और अणुव्रती शब्द के प्रयोग की नवीनता उन्हें समझने में बाधक बनी रही । गृही-जीवन के विषय में नियम बनाने की बात भी श्रावक के बारह व्रतों की नियमावली के आधार पर समझ में आ सकती थी । भगवान् महावीर ने श्रावकों की तात्कालिक जीवन-व्यवस्था के आधार पर जो नियम बनाये थे; उसी प्रकार के ये नियम थे; जो कि वर्तमान जीवन-व्यवस्था को ध्यान में रखकर बनाये गए थे । अणुव्रत और बारह व्रतों में तो कोई संघर्ष ही नहीं था । उस समय भी अनेक व्यक्ति बारह व्रत धारण करते थे तथा अनेक द्वादश-व्रती अणुव्रत के नियमों को भी स्वीकार करते थे । इतना स्पष्ट होते हुए भी ये शंकाएँ दुहराई जाती रहीं ।

प्रार्थना में

अणुव्रत-आन्दोलन खुद ही जब चर्चा का विषय बना हुआ था; तब अणुव्रत-प्रार्थना में भी दो मत होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी । उसके विरोध में यह प्रचारित किया गया कि प्रातः भगवान् का नाम लेना चाहिए; वह तो इसमें है नहीं । इसमें तो झूठ, फरेब आदि के नाम भर दिये गये हैं; जिनको कि उस समय याद ही नहीं करना चाहिए । कई लोग इसीलिए प्रातःकालीन प्रार्थना में सम्मिलित होते सकुचाते ।

एक बार की बात है—एक व्यक्ति को मैंने प्रार्थना में सम्मिलित होने के लिए कहा तो उत्तर मिला कि वह तो मेरी समझ में ही नहीं बैठती।

मैंने पूछा—क्यों; ऐसी कौनसी उलझन की बात है उसमें ?

उसने कहा—नित्य सबेरे ही यह ढिंढोरा पीटना कि हम अणुव्रती बन चुके हैं; अतः हमारे भाग्य बड़े तेज हैं—मुझे तो बिलकुल पसन्द नहीं है; और मैं तो अभी तक अणुव्रती बना भी नहीं; अतः मेरे लिए तो ऐसा कहना भी असत्य ही होगा।

अणुव्रत-प्रार्थना की प्रथम कड़ी का जो अर्थ उसने लगाया था; उसे सुनकर मैं दंग रह गया। इस विरोध के प्रवाह में बहकर और भी अनेक व्यक्ति न जाने किन-किन बातों का क्या-क्या मनमाना अर्थ लगाते रहते होंगे। मुझे उस भाई की बुद्धि पर तरस आया। मैंने समझाते हुए उससे कहा—तुमने प्रार्थना की कड़ी का गलत अर्थ लगाया है, इसीलिए तुम्हें उसके विषय में भ्रम हुआ है। उस कड़ी का अर्थ तो यह है कि यदि हम अणुव्रती बन सकें, तो यह हमारे लिए बड़े भाग्य की बात होगी। जिस प्रकार श्रावक के लिए तीन मनोरथों का उल्लेख आगमों में आता है और उनके द्वारा भाव-विशुद्धि होती है, उसी प्रकार इस प्रार्थना में जीवन-विशुद्धि के लिए जो सकल्प हैं; उनसे भाव-विशुद्धि होती है। अणुव्रती बन सकने का सामर्थ्य न होने पर भी वैसा बनने की भावना करना बुरा नहीं है। इन सब बातों को समझ लेने के बाद वह व्यक्ति प्रार्थना में सम्मिलित होने लगा।

अस्पृश्यता-निवारण

जैन परम्परा जातीयता के आधार पर किसी को छोटा या बड़ा मानने की नहीं रही है। तब इस आधार पर किसी को स्पृश्य और किसी को अस्पृश्य मानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता; फिर भी पिछली कुछ शताब्दियों में बाह्य प्रभाववश अस्पृश्यता की भावनाएँ बनी और फिर धीरे-धीरे रूढ़ हो गईं। अब उन्हें फिर से मूल परम्परा तक ले जाना

कठिन हो गया है। उनके सामने उन रूढ़ संस्कारों का महत्त्व भगवान् महावीर के शान्त दर्शन से भी अधिक हो गया है।

आचार्यश्री ने जब जातिवाद को अवास्तविक कहा और तथाकथित अस्पृश्य व्यक्तियों को भी अपने सम्पर्क में लेना प्रारम्भ किया; तब बहुत से व्यक्तियों के मन में एक मूक; किन्तु प्रबल हलचल होने लगी। उस हलचल के प्रथम दर्शन छापर में हुए। आचार्यश्री ने वहाँ की एक हरिजन-बस्ती में व्याख्यान देने के लिए एक साधु को भेजा और कहा कि उन्हें समझाकर मद्य-मांस आदि का परित्याग कराओ। हरिजन-बस्ती में किसी साधु को भेजे जाने का यह प्रथम अवसर ही था। उन्हें जाना तो पड़ा; किन्तु उनका मन समस्या-संकुल बना हुआ था। व्याख्यान हुआ, अनेक व्यक्तियों ने मद्य-मांस आदि छोड़ा। व्याख्यान-समाप्ति पर सैकड़ों लोग उनके साथ आचार्यश्रीतक आये। सवर्ण व्यक्तियों ने उनको बड़े कुतूहल की दृष्टि से देखा। उस दृष्टि में स्वयं उपदेष्टा भी अपने-आपको कुछ हीन-सा अनुभव करने लगे।

उसी समय सकुचाते-से दूर खड़े हरिजनों से किसी ने कहा—"देखते क्या हो, आचार्यश्री का चरण-स्पर्श करो!" कहने वाले की भावना में क्या था, पता नहीं, परन्तु देखने वाले स्तब्ध खड़े थे कि देखें अब क्या होता है। आचार्यश्री अपने-आप में स्पष्ट थे। हरिजन भाइयों ने आगे आकर उनका चरण-स्पर्श किया। आचार्यश्री ने उन्हें प्रोत्साहित ही किया, रोका तनिक भी नहीं। यह घटना काफी चर्चा का विषय बनी। कुछ लोग उत्तेजित भी हुए। कुछ ने कहा कि ये हम सबको एक कर देना चाहते हैं। साधुओं में भी इसकी हलचल कम नहीं थी।

पारमार्थिक शिक्षण संस्था

पारमार्थिक शिक्षण संस्था की स्थापना भी अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना के एक वर्ष बाद ही (वि० सं० २००५ चैत्र कृष्णा तृतीया को) हुई थी। श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता की ओर से

दीक्षार्थियों को अध्ययन की सुविधा देने के लिए इस संस्था का निर्माण हुआ। यह काफी दिनों तक आलोचना का विषय बनती रही। दीक्षार्थी महासभा द्वारा निर्धारित अध्ययन करने के साथ-साथ अपनी आचार-साधना के विषय में आचार्यश्री से भी आदेश-निर्देश पाते थे। आलोचकों ने उसी बात को पकड़ा और प्रचारित किया कि दीक्षार्थियों के खान-पान, रहन-सहन आदि की सारी व्यवस्था आचार्यश्री के आदेश से होती है।

आचार्यश्री ने अनेक बार उस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि साधना के विषय में मार्ग-दर्शन करना मेरा कर्तव्य है, वह मैं करता हूं। संस्था में चलने वाली अन्य प्रवृत्तियों से मेरा सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तक कि संस्था में किसे लिया जाये और किसे नहीं; यह निर्णय भी स्वयं संस्था के पदाधिकारी करते हैं। प्रत्येक दीक्षार्थी को संस्था में रहना ही पड़ेगा, अन्यथा मैं दीक्षित नहीं करूंगा—ऐसा मेरा कोई निर्णय नहीं है। कोई दीक्षार्थी अध्ययन करना चाहे और वह इस संस्था में रहे तो मैं कोई बाधा नहीं देखता, और न रहे तो भी मेरे सामने कोई बाधा नहीं है।

बाह्य संघर्ष

सामंजस्य-गवेषणा

आचार्यश्री को आन्तरिक संघर्षों की तरह ही बाह्य संघर्षों का भी सामना करना पड़ा है। तेरापंथ के लिए ऐसे संघर्ष नवीन नहीं हैं। वे उसकी उत्पत्ति के साथ से ही चले आ रहे हैं। समय-समय पर उन संघर्षों का रूप अवश्य बदलता रहा है, परन्तु विरोधी जनों की भावना की तीव्रता सम्भवतः कम नहीं हुई है।

आचार्यश्री अपनी तथा अपने संघ की सारी शक्ति को निर्माण में लगा देना चाहते हैं। पारस्परिक संघर्षों में शक्ति लगाना उन्हें बिलकुल अभीष्ट नहीं है। इसीलिए यथासम्भव वे संघर्षों को टालना चाहते हैं। विरोधी स्थितियों में भी वे सामंजस्य का सूत्र खोजते रहते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे विरोधों का सामना कर नहीं सकते।

कठिन हो गया है। उनके सामने उन रूढ़ संस्कारों का महत्त्व भगवान
महावीर के शान्त दर्शन से भी अधिक हो गया है।

आचार्यश्री ने जब जातिवाद को अतात्त्विक कहा और तथाकथि
अस्पृश्य व्यक्तियों को भी अपने सम्पर्क में लेना प्रारम्भ किया; तब
बहुत से व्यक्तियों के मन में एक मूक; किन्तु प्रबल हलचल होने लगी।
उस हलचल के प्रथम दर्शन थाणर में हुए। आचार्यश्री ने वहाँ की एक
हरिजन-बस्ती में व्याख्यान देने के लिए एक साधु को भेजा और कहा
कि उन्हें समझाकर मद्य-मांस आदि का परित्याग कराओ। हरिजन-बस्ती
में किसी साधु को भेजे जाने का वह प्रथम अवसर ही था। उन्हें
जाना तो पड़ा, किन्तु उनका मन समस्या-संकुल बना हुआ था। व्या-
ख्यान हुआ, अनेक व्यक्तियों ने मद्य-मांस आदि छोड़ा। व्याख्यान-समाप्ति
पर सैकड़ों लोग उनके साथ आचार्यश्री तक आये। सवर्ण व्यक्तियों
ने उनको बड़े कुतूहल की दृष्टि से देखा। उस दृष्टि में स्वयं उपदेष्टा भी
अपने-आपको कुछ हीन-सा अनुभव करने लगे।

उसी समय सकुचाते-से दूर खड़े हरिजनों से किसी ने कहा—"देखते
क्या हो, आचार्यश्री का चरण-स्पर्श करो !" कहने वाले की
भावना में क्या था, पता नहीं; परन्तु देखने वाले स्तब्ध खड़े थे कि देखें
अब क्या होता है। आचार्यश्री अपने-आप में स्पष्ट थे। हरिजन भाइयों
ने आगे आकर उनका चरण-स्पर्श किया। आचार्यश्री ने उन्हें प्रोत्साहित
ही किया, रोका तनिक भी नहीं। यह घटना काफी चर्चा का विषय
बनी। कुछ लोग उत्तेजित भी हुए। कुछ ने कहा कि ये हम सबको
एक कर देना चाहते हैं। साधुओं में भी इसकी हलचल कम नहीं थी।

पारमार्थिक शिक्षण संस्था

पारमार्थिक शिक्षण संस्था की स्थापना भी अणुव्रत-आन्दोलन की
स्थापना के एक पक्ष बाद ही (वि० सं० २००५ चैत्र कृष्णा तृतीया को)
हुई थी। श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता की ओर से

दीक्षार्थियों को अध्ययन की सुविधा देने के लिए इस संस्था का निर्माण हुआ। यह काफी दिनों तक आलोचना का विषय बनती रही। दीक्षार्थी महासभा द्वारा निर्धारित अध्ययन करने के साथ-साथ अपनी आचार-साधना के विषय में आचार्यश्री से भी आदेश-निर्देश पाते थे। आलोचकों ने उसी बात को पकड़ा और प्रचारित किया कि दीक्षार्थियों के खान-पान, रहन-सहन आदि की सारी व्यवस्था आचार्यश्री के आदेश से होती है।

आचार्यश्री ने अनेक बार उस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि साधना के विषय में मार्ग-दर्शन करना मेरा कर्तव्य है; वह मैं करता हूं। संस्था में चलने वाली अन्य प्रवृत्तियों से मेरा सम्बन्ध नहीं है। यहां तक कि संस्था में किसे लिया जाये और किसे नहीं; यह निर्णय भी स्वयं संस्था के पदाधिकारी करते हैं। प्रत्येक दीक्षार्थी को संस्था में रहना ही पड़ेगा, अन्यथा मैं दीक्षित नहीं करूंगा—ऐसा मेरा कोई निर्णय नहीं है। कोई दीक्षार्थी अध्ययन करना चाहे और वह इस संस्था में रहे तो मैं कोई बाधा नहीं देखता, और न रहे तो भी मेरे सामने कोई बाधा नहीं है।

बाह्य संघर्ष

सामंजस्य-गवेषणा

आचार्यश्री को आन्तरिक संघर्षों की तरह ही बाह्य संघर्षों का भी सामना करना पड़ा है। तेरापंथ के लिए ऐसे संघर्ष नवीन नहीं हैं। वे उसकी उत्पत्ति के साथ में ही चले आ रहे हैं। समय-समय पर उन संघर्षों का रूप अवश्य बदलता रहा है, परन्तु विरोधी जनों की भावना की तीव्रता सम्भवतः कम नहीं हुई है।

आचार्यश्री अपनी तथा अपने संघ की सारी शक्ति को निर्माण में लगा देना चाहते हैं। पारस्परिक संघर्षों में शक्ति खपाना उन्हें बिलकुल अभीष्ट नहीं है। इसीलिए यथासम्भव वे संघर्षों को टालना चाहते हैं। विरोधी स्थितियों में भी वे सामंजस्य का सूत्र खोजते रहते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे विरोधों का सामना कर नहीं सकते।

उनके सामने अनेक विरोध आये हैं और उन्होंने उनका बड़े सामर्थ्य के साथ सामना किया है।

वे सत्य के भक्त हैं; अतः जहाँ उसकी प्राप्ति होती है; वहाँ कट्टर विरोधी की बात मानने में भी वे कभी हिचकिचाहट नहीं करते। जहाँ सत्य की अवहेलना होती है, वहाँ वे किसी की भी बात नहीं मानते। सत्यांश की अवज्ञा और असत्यांश को प्रश्रय उन्हें किसी भी परिस्थिति में इष्ट नहीं है।

विरोध के दो स्तर

तेरापंथ की मान्यताओं को लेकर अनेक आलोचनाएँ होती रहती हैं। उनमें बहुत-सी निम्नस्तरीय होती हैं। आचार्यश्री उनकी उपेक्षा करते हैं। किन्तु कुछ उच्चस्तरीय भी होती हैं, उनका वे आदर करते हैं। अपनी आलोचना में लिखी गई बातों को वे बड़े ध्यान से पढ़ते हैं, उन पर मनन करते हैं, आवश्यकता होने पर उसी औचित्यपूर्ण ढंग से उनका प्रतिवाद भी करते हैं। इस पद्धति को वे विरोध-पूर्ण न मान कर सौहार्द-पूर्ण ही मानते हैं।

निम्न कोटि की आलोचना में बहुधा इतर सम्प्रदायों के कुछ असहिष्णु व्यक्ति रस लेते हैं। उनमें कुछ ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं; जो अपने-आपको किसी भी सम्प्रदाय का न कहें, तथा कुछ ऐसे भी हो सकते हैं, जो स्वयं को तेरापंथी कहें, पर उन सबका ध्येय प्रायः विरोध के लिए विरोध होता है। वे आचार्यश्री की उन प्रवृत्तियों का भी उपहास करते हैं, जिनको कि वे ठीक समझते होते हैं। आचार्यश्री जब हरिजनों में व्याख्यान आदि के लिए जाने लगे तथा अस्पृश्यता का खण्डन करने लगे, तब इसी प्रकार के कुछ लोगों ने उस प्रवृत्ति का मजाक— 'कौआ चले हंस की चाल' कह कर किया था। जब अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से आचार्यश्री ने नैतिक जागरण का उद्घोष किया तो उन लोगों ने उसे 'नयी बोतल में पुरानी शराब' बतलाया। ऐसे व्यक्ति

अँधेरा-ही अँधेरा देखने रहने के आदी हो जाते हैं। ज्योत्स्ना की धवलिमा या तो उनके बाँटे ही नहीं पड़ती; या फिर अपने स्वभावानुसार वे उसे स्वीकार ही नहीं करते।

दीक्षा-विरोध

जो व्यक्ति गृही-जीवन से विरक्त हो जाते हैं; वे मुनि-जीवन में दीक्षित होते हैं। दीक्षा की पद्धति प्रायः सभी भारतीय सम्प्रदायों में है, तेरापंथ में भी है। तेरापंथ इन दीक्षाओं में विशेष सावधानी बरतता है। इसमें केवल आचार्य को ही दीक्षा देने का अधिकार है। दीक्षार्थी के अभिभावकों की लिखित स्वीकृति के बिना किसी को दीक्षित नहीं किया जाता। दीक्षार्थी के लिए एक निर्धारित सीमा तक का तात्त्विक ज्ञान अनिवार्य माना जाता है। वर्षों तक दीक्षार्थी के कष्ट-सहिष्णुता आदि गुणों की परीक्षा की जाती है। जब वह इन सब परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाता है; तब उसको जन-समूह में दीक्षित किया जाता है। तेरापंथ की यह प्रणाली हर प्रकार से सन्तोषप्रद परिणाम लाने वाली रही है।

विरोध हर बात का हो सकता है; परन्तु जब विरोध करने का ही दृष्टिकोण बना लिया जाता है; तब तो वह और भी सहज हो जाता है। दीक्षा का भी विरोध किया जाता रहा है, कहीं 'बाल-दीक्षा' के नाम पर, तो कहीं साधु-संस्था को ही अनावश्यक बनाकर। तेरापंथ के सामने ऐसे अनेक विरोध आते रहे हैं। कहीं-कहीं से विरोध ऊपर से तो दीक्षा-विरोध हो सकते हैं; पर अन्तरंग में वे तेरापंथ के विरोध होते हैं। जयपुर का दीक्षा-विरोध इसी कोटि का था।

विरोधी समिति

वि० सं० २००६ के जयपुर चातुर्मास में आचार्यश्री ने कुछ व्यक्तियों को दीक्षित करने की घोषणा की। विरोधी व्यक्ति सम्भवतः विरोध करने का अवसर खोज ही रहे थे। उन्हें वह अवसर मिल गया। उन

लोगों ने 'बालदीक्षा-विरोधी समिति' का गठन किया। हालांकि उन दीक्षार्थियों में एक भी ऐसा बालक नहीं था, जिसके लिए उन्हें विरोध करने को बाध्य होना पड़े, फिर भी विरोधी वातावरण बनाया गया। वस्तुत: वह दीक्षा का विरोध न होकर आचार्यश्री के बढ़ते हुए व्यक्तित्व और प्रभाव का विरोध था। दीक्षा को तो विरोध करने के लिए माध्यम बनाया गया था।

वह अणुव्रत-आन्दोलन का आरम्भ-काल था। आचार्यश्री उसके प्रचार-प्रसार में पूरी तन्मयता से लगे हुए थे। जनता पर उन व्रतों का अच्छा प्रभाव हो रहा था। उसके माध्यम से साधारण जनता से लेकर जन-नेता तक आचार्यश्री के सम्पर्क में आ रहे थे। देश के चोटी के व्यक्तियों ने भी उनके कार्यक्रमों को सराहा और देश के लिए उन्हें उपयोगी माना। वह कुछ व्यक्तियों को अखरा। उसी अखरन का फलित रूप वह विरोध था। दीक्षा के विरुद्ध वातावरण तैयार करने की योजना बनी और वह विज्ञप्तियों आदि द्वारा कार्य में परिणत की जाने लगी। समाचार-पत्रों में भी एतद्-विषयक विरोधी लेख, टिप्पणियां आदि प्रकाशित की गईं। जनता को बड़े पैमाने पर भ्रान्त करने का वह एक सुनियोजित षड्यन्त्र था।

एक प्रवचन

आचार्यश्री को उस विरोधी प्रचार पर ध्यान देना आवश्यक हो गया। लोगों में फैलाई जाने वाली भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करना आवश्यक था; अत: उन्हीं दिनों में जैन-दीक्षा विषय पर एक सार्वजनिक प्रवचन रखा गया। उसमें आचार्यश्री ने तेरापंथ की दीक्षा-प्रणाली को सबके सामने रखा। दीक्षा के विषय में उठाये जाने वाले तर्कों का समाधान किया। दीक्षा-विषयक अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि मेरे विचार से दीक्षा के लिए न तो सारे बालक ही योग्य होते हैं और न सारे युवक या वृद्ध ही। कुछ बालक भी उसके लिए योग्य हो सकते हैं और कुछ युवक तथा वृद्ध भी। दीक्षा में अवस्था

की परिपक्वता का उतना महत्त्व नहीं होता, जितना कि संस्कारों की परिपक्वता का होता है। बालक को ही दीक्षित किया जाना चाहिए, यह मेरा मन्तव्य नहीं है। इस विषय में मेरा कोई आग्रह भी नहीं है। मेरा आग्रह तो यह है कि अयोग्य दीक्षा नहीं होनी चाहिए, भले ही वह व्यक्ति युवा या वृद्ध ही क्यों न हो।

विरोधी समिति के सदस्यों को भी आह्वान करते हुए उन्होंने कहा कि वे दूर-दूर से ही विरोध क्यों करते हैं? उन्हें चाहिए कि वे मेरे विचार समझें तथा अपने विचार समझायें। मैं किसी भी प्रकार के परिवर्तन में विश्वास न करने वालों में नहीं हूँ, देश-काल की परिस्थितियों से भी अनभिज्ञ नहीं हूँ, पर साथ में यह भी कह दूँ कि किसी प्रकार के वातावरण के प्रवाह में बह जाने वाला भी मैं नहीं हूँ।

विरोध में तीव्रता

उस भाषण से लोग काफी प्रभावित हुए। उस सभा में विरोधी समिति के कई सदस्य भी उपस्थित थे। उन पर भी प्रतिक्रिया हुई। वे उस विषय पर विचार-विमर्श के लिए आचार्यश्री के पास आये, बातचीत हुई, परन्तु उसका परिणाम विरोध को मन्द या बन्द कर देने के बजाय अधिक तीव्र कर देने के रूप में ही सामने आया। उन लोगों द्वारा दीक्षा का विरोध करने के लिए बाहर से अनेक विद्वानों को बुलाया गया। विरोधी सभाएँ आयोजित की गईं। धुआँधार भाषण किए गए। पैम्फलेटों, समाचार-पत्रों तथा पुस्तिकाओं द्वारा भी काफी विष-वमन किया गया। तेरापंथ से या तेरापंथ की प्रगति से विरोध रखने वाले प्राय सभी व्यक्तियों का इन्हें समर्थन और सहयोग प्राप्त था। उन सबने मिलकर एक ऐसा मोर्चा बना लिया था कि जिससे दीक्षाओं को रोक कर तेरापंथ को पराजित किया जा सके।

प्रबोध-सूत्र

विरोध के ये दूसरे तबके विशृंखलित समाज को संगठित कर

जाता है। तेरापथ तो फिर एक सुसगठित धर्म-सम्प्रदाय है। ज्यों-ज्यों लोगो को उस विरोध का पता लगता गया; त्यों-त्यों वे जयपुर पहुंचने लगे। उन सबका निर्णय था कि दीक्षा किसी भी स्थिति में नहीं रुकेगी। दीक्षा की घोषित तिथि ज्यों-ज्यों समीप आती गई; त्यों-त्यों जनता बढ़ती गई। वातावरण में गरमी भी बढ़ती गई। जनता को शान्त रखना कठिन अवश्य हो रहा था; पर वह आवश्यक था; इसलिए आचार्यश्री ने सबको सावधान करते हुए कहा—"हिंसा को हिंसा से जीतना कोई मौलिक विजय नहीं होती। हिंसा को अहिंसा से जीतना चाहिए। हम साधन-शुद्धि पर विश्वास करते हैं; अतः पथ की समस्त बाधाओं को स्नेह और सौहार्द से ही पार करना होगा। उत्तेजित होकर काम को बिगाड़ा ही जा सकता है, सुधारा नहीं जा सकता। मैं यह नहीं कहता कि आप विरोध के सामने झुक जायें; मैं तो यह कहता हूं कि विरोध का सामना अवश्य करें; परन्तु अहिंसक ढंग से करें। विरोधी लोग उत्तेजना बढ़ाना चाहे और आप उत्तेजित हो जायें तो यह उनकी सफलता मानी जायेगी, यदि आप उस समय भी शान्त रहें तो यह आपकी सफलता होगी। मैं आशा करता हूं कि कोई भी तेरापंथी भाई न उत्तेजित होगा और न उत्तेजना बढ़े; वैसा कार्य करेगा। दूसरा क्या कुछ करता है; यह उसके सोचने की बात है; पर हमारा मार्ग सदैव शान्ति का रहा है और इसी में हमारी सफलता के बीज निहित है।"

दीक्षा के विषय में भी जनता को आचार्यश्री ने बताया कि यदि दीक्षार्थी दृढ संकल्प होंगे तो उनकी दीक्षा किसी भी प्रकार से नहीं रोकी जा सकेगी। विरोधी-जन अधिक-से-अधिक इतना ही कर सकते हैं कि वे दीक्षार्थियो को निर्णीत समय पर मेरे पास न पहुंचने दें। उस स्थिति ˜ दीक्षार्थियो को स्वयं ही दीक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिए। दीक्षा एक [illegible] है। वह दीक्षार्थी की आत्मा से उद्भूत होता है। गुरु तो केवल साधन-मात्र या साक्षी-मात्र होते हैं। दीक्षा [illegible] अवसर पर

किये जाने वाले आयोजन आदि भी केवल व्यवहार-मात्र ही होते हैं। उसे न कोई हिंसक पशु-बल रोक सकता है और न तथाकथित सत्याग्रह आदि।

आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त इस प्रबोध-सूत्र ने दूर-दूर से समागत उत्तेजित बन्धुओं को शान्ति प्रदान की तथा दीक्षार्थियों को मार्ग-दर्शन दिया। विरोधियों के समस्त शस्त्र इस पर टकराकर व्यर्थ हो गए।

दीक्षाएँ सम्पन्न

दूसरे दिन प्रातः ठीक समय पर पूर्व-निर्धारित स्थान पर ही दीक्षाएँ हुई। किसी भी प्रकार की अशान्ति नहीं हुई। तेरापंथ के लिए वह एक कसौटी का अवसर था। विरोधी जनों के इतने सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित विरोध को परास्त कर देना सामान्य बात नहीं थी। वह अपने प्रकार का प्रथम विरोध ही था और सम्भवतः अन्तिम भी।

योग्य कौन ?

उस विरोध में कई समाचार-पत्रों के संचालक और सम्पादक भी सम्मिलित थे। विरोधी पक्ष को सामने रखने तथा दीक्षा के विरुद्ध प्रचार करने में उनका खुलकर उपयोग हुआ था। एक ओर जहाँ बाहर के पत्रों में अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में अनुकूल विचार आते थे; वहाँ दूसरी ओर बाल-दीक्षा को लेकर प्रतिकूल विचार भी। फल यह हुआ कि आचार्यश्री बाल-दीक्षा के कट्टर समर्थक माने जाने लगे। पर वे न तो बाल-दीक्षा के कट्टर समर्थक हैं और न युवा-दीक्षा या वृद्ध-दीक्षा के ही। वे तो अपने-आपको केवल योग्य दीक्षा का समर्थक मानते हैं। वह योग्यता कदाचित् बालक में भी हो सकती है तथा कदाचित् युवा और वृद्ध में भी। बालक में वैसी योग्यता हो ही नहीं सकती, इस मान्यता के वे कट्टर विरोधी अवश्य हैं।

एक पृच्छा

जो व्यक्ति दीक्षा-मात्र के विरोधी हैं; उन्हें वे कुछ नहीं कहना चाहते; परन्तु जो किसी एक भी अवस्था में; चाहे वह युवावस्था हो या वृद्धावस्था; दीक्षा की उपयोगिता स्वीकार करते हैं; उनसे वे पूछना चाहते हैं कि ऐसा करके क्या वे जन्मान्तर को नहीं मान लेते हैं? जन्मान्तर मानने वाले के लिए क्या कभी पूर्व-संस्कार अमान्य हो सकते हैं? यदि पूर्व-संस्कार नामक कोई तत्त्व है तो फिर वह बालक में भी उद्बुद्ध होता है। दीक्षा और क्या है? पूर्व-संस्कारों के उद्बोध की फलपरिणति का नाम ही तो है। उसमें अवस्था का प्रश्न मुख्य नहीं, गौण रह जाता है।

विधेयक और आचार्यश्री

यद्यपि आचार्यश्री युग-भावना के साथ संगति बिठा कर ही चलते हैं; परन्तु जहाँ तत्त्व-विवेक का प्रश्न है, वहाँ उससे आँखें मींचना भी तो उचित नहीं होता। वे इसी आधार पर जहाँ-जहाँ ऐसे प्रकरण उठते हैं, वहाँ-वहाँ दीक्षा के साथ आयु का अनिवार्य सम्बन्ध जोड़ने का विरोध करते हैं। उनकी दृष्टि में यह भी उचित नहीं है कि कानून द्वारा बाल-दीक्षा को रोका जाये। विभिन्न राज्यों की विधान-परिषदों में इस विषय के विधेयक प्रस्तुत होते रहे हैं। आचार्यश्री ने उनका विरोध किया है।

विधेयक और मुरारजी देसाई

बम्बई विधान-परिषद् में 'बाल-सन्यास-दीक्षा-प्रतिबन्धक' बिल आया था। तब वहाँ मुरारजी देसाई मुख्यमन्त्री थे। उस बिल के सिलसिले में मुनिश्री नगराजजी उनसे मिले थे। विचारों का आदान-प्रदान हुआ तो स्पष्ट लगा कि वे भी आचार्यश्री के समान ही कानून के द्वारा उसे रोकने के विरोधी हैं। उनकी उस नीति के कारण ही वह प्रस्ताव वहाँ पारित न हो सका था।

मुरारजी देसाई का भाषण

उन्होंने उस अवसर पर विधान-परिषद् के सदस्यों के सम्मुख जो भाषण[1] दिया था; वह विचारों की दृष्टि से बहुत ही मननीय था। उसे पढ़ते समय ऐसा लगता है मानो आचार्यश्री के ही उद्गार भाषान्तर से उन्होंने कहे थे। उनके भाषण का कुछ अंश यहाँ दिया जा रहा है :

" पहले हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि क्या हर हालत में यह ग़लत है कि बालक सांसारिक जीवन का परित्याग करे? अगर हम कर्मवाद के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं, तो जो बालक बाल-दीक्षा के पूर्व संस्कारों के सहित जन्म लेता है, उसे संसार-परित्याग में कोई बाधा नहीं हो सकती। उन व्यक्तियों के हमारे पास गौरवपूर्ण उदाहरण हैं; जिन्होंने बचपन में सन्यास दीक्षा ग्रहण की। मेरे बन्धु महाशय का कहना है कि इस प्रकार के व्यक्ति बहुत कम होते हैं, लेकिन मैं उन्हें यह बतलाना चाहता हूँ कि संसार का भला करने वाले व्यक्ति भी बहुत कम ही हैं। इसी प्रकार संसार का भला बहुत थोड़े आदमियों से ही हुआ है, बहुतों से नहीं, और संसार को छोड़ने वाले भी बहुत से आदमी नहीं हो सकते।

नाबालिग का अर्थ सदा उस व्यक्ति से नहीं होता जो किसी चीज को न समझे। नाबालिग वह है जो २१ वर्ष से नीचे का हो और अगर वह संसार को छोड़ना चाहे तथा उसके लिए कटिबद्ध रहे तो सरकार के लिए क्या यह उचित है कि वह उसे रोके। नाबालिग भी हम से ज्यादा बुद्धिमान् हो सकता है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यह एक पूर्व कर्मों की भी बात है। संसार में अद्भुत बालक हुए हैं। वे सारे उदाहरण हमारे सामने हैं। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि हम वयस्क हो चुके हैं, अतः अधिक बुद्धिमान् हैं। मैं यह नहीं

---

१. ६ सितम्बर १९५२ और १२ सितम्बर १९५२ को यह भाषण दिया गया था।

कहना चाहिए कि त्याग और तपस्या के आदर्शों को जितना जैन साधुओ ने सुरक्षित रखा है, उतना और किसी सघ के साधुओं ने नही। यह जैनियों के लिए गौरव की बात है। ऐसे सम्प्रदायो पर, जिनके साथ मत-भिन्नता के कारण हम एकमत नही, आक्रमण करने से कोई फायदा नही।

मुझे किसी व्यक्ति को सन्यास-जीवन अपनाने से नही रोकना चाहिए—इस कारण से कि मै खुद सन्यास-जीवन को नही अपना सकता। इन्सान के साथ बर्ताव करने का यह तरीका गलत है। सिर्फ इसी कारण से कि मै सांसारिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, मुझे हरएक व्यक्ति को सासारिक जीवन की ओर जाने के लिए नही कहना चाहिए। अगर सन्यासी लोग कहे भी कि सासारिक जीवन अच्छा नही है, तो भी मै सन्यासी होने के लिए तैयार नही हूँ। तब मुझे क्यो जोर देकर कहना चाहिए कि मै सासारिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, अत किसी को भी सन्यासी नही होना चाहिए। जिस तरह मै अपने जीवन मे उस रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता चाहूँगा, जिसे मै चाहता हूँ, उसी तरह मुझे दूसरो को उस रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता देनी चाहिए, जिस पर वे चलना पसन्द करते हो। मै यह नही सोचता कि शंकराचार्य, हेमचन्द्राचार्य और ज्ञानेश्वर जैसे व्यक्तियों के रास्ते मे रोड़ा अटकाना हमारे लिए उचित कदम होगा, क्योकि अगर हम ऐसा करते है तो उसका मतलब होगा कि हम केवल अपने देश को ही नही, बल्कि ससार को ऐसे महान् व्यक्तियो से वंचित करते है। मै नही सोचता कि हमे सामाजिक सुधार के नाम पर कभी ऐसी चेष्टा करनी चाहिए, चाहे कई लोगों को ऐसा करना कितना ही अभीष्ट क्यों न हो?

"धर्म मानव के अन्तर की स्वाभाविक प्रेरणा है, जिसे दबाया नहीं जा सकता। जब हम कहते हैं कि बच्चो को इस क्षेत्र मे नहीं जाने देना चाहिए, तब हमे यह याद रखना चाहिए कि हम उन्हें बहुत से दूसरे क्षेत्रों मे जाने देते हैं। क्या हमने बच्चों को स्वतन्त्रता के सग्राम

करना कि हमारा बालक बुद्धिमान् होता है और हरएक बालक
समझता है। ऐसा कभी नहीं होता। मेरे विचार में बहुत थोड़े ब
ऐसे होते हैं। फिर भी यह कानून उनकी उन्नति में रुकावट डा
अगर वे अपनी इच्छानुसार ऐसा नहीं कर सकेंगे, जब कि उनकी म
ऐसा करने के लिए तत्पर्निष्ठ हो। भारतीय संस्कृति एवं सभ्य
विकास में साधु-संघ की बहुत बड़ी देन है। मुझे यह कहने मे
हिचकिचाहट नहीं है कि साधु-संस्था में बहुत से दोष भी आ गये
लेकिन एक वस्तु का उपयोग या दुरुपयोग हो सकना उस चीज
बिल्कुल मिटा देने का कारण या आधार नहीं हो सकता।

हम यहाँ तमाम लोग सोच रहे हैं कि सिर्फ वयस्क ही ऐसे
बुद्धिमान् है और बच्चे नहीं। हम भूल जाते हैं कि ज्ञानेश्वर ने
वर्ष की आयु में 'ज्ञानेश्वरी' को लिखा था और बहुत से वाणिग पु
शताब्दियों के बाद भी आज उनकी पूजा कर रहे हैं। ऐसा एक
उदाहरण नही है, ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं। महामना राय
ने, जिनमे महात्मा गाधी श्रद्धा रखते थे, १२ से १६ वर्ष की आयु
लिखना प्रारम्भ कर दिया था और उनकी पुस्तकें आज भी पढी जा
है। वे सन्यासी नही थे, लेकिन निरन्तर जीवन अपनी पसन्द के अनुसा
बिताते थे। इससे कोई मतलब नही कि ऐसे आदमी सन्यास लेते हैं
नही। मान लीजिये, कोई ऐसा बच्चा दीक्षा लेना चाहता है तो क
मुझे उसे रोकना चाहिए ?

यह सच है कि इस बिल को प्रस्तुत करने वाले सज्जन ने जो
उदाहरण दिये हैं, वे प्राय- जैनो के हैं और किसी के नहीं। इसलिए अग
जैनी यह सोचें कि यह बिल सर्वसाधारण के लिए न होकर केवल उन
द्वारा जो दीक्षाएँ दी जाती हैं उन्हीं को रोकने के लिए है तो वे गलत नहीं
कहे जायेंगे। मेरे पास सैकड़ो विरोध-पत्र व तार पहुँचे हैं और वे तमाम
जैनों के हैं, लेकिन एक दूसरी बात और है जिसे मैं स्पष्ट करना चाहूँगा।
साधु या सन्यासियो के तमाम संघों मे, जिनको कि मैंने देखा है, मुझे

कहना चाहिए कि त्याग और तपस्या के आदर्श को जितना जैन साधुओं ने सुरक्षित रखा है, उतना और किसी संघ के साधुओं ने नहीं। यह जैनियों के लिए गौरव की बात है। ऐसे सम्प्रदायों पर, जिनके साथ मत-भिन्नता के कारण हम एकमत नहीं, आक्रमण करने से कोई फायदा नहीं।

मुझे किसी व्यक्ति को संन्यास-जीवन अपनाने से नहीं रोकना चाहिए—इस कारण से कि मैं खुद सन्यास-जीवन को नहीं अपना सकता। इन्सान के साथ बर्ताव करने का यह तरीका गलत है। सिर्फ इसी कारण से कि मैं सांसारिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, मुझे हरएक व्यक्ति को सांसारिक जीवन की ओर जाने के लिए नहीं कहना चाहिए। अगर सन्यासी लोग कहें भी कि सांसारिक जीवन अच्छा नहीं है, तो भी मैं सन्यासी होने के लिए तैयार नहीं हूँ। तब मुझे क्यों जोर देकर कहना चाहिए कि मैं सांसारिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, अतः किसी को भी सन्यासी नहीं होना चाहिए। जिस तरह मैं अपने जीवन में उस रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता चाहूँगा, जिसे मैं चाहता हूँ, उसी तरह मुझे दूसरों को उस रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता देनी चाहिए, जिस पर वे चलना पसन्द करते हों। मैं यह नहीं सोचता कि शंकराचार्य, हेमचन्द्राचार्य और ज्ञानेश्वर जैसे व्यक्तियों के रास्ते में रोड़ा अटकाना हमारे लिए उचित कदम होगा, क्योंकि अगर हम ऐसा करते हैं तो उसका मतलब होगा कि हम केवल अपने देश को ही नहीं, बल्कि संसार को ऐसे महान् व्यक्तियों से वंचित करते हैं। मैं नहीं सोचता कि हमें सामाजिक सुधार के नाम पर कभी ऐसी चेष्टा करनी चाहिए, चाहे कई लोगों को ऐसा करना कितना ही अभीष्ट क्यों न हो?

"धर्म मानव के अन्तर की स्वाभाविक प्रेरणा है, जिसे दबाया नहीं जा सकता। जब हम कहते हैं कि बच्चों को हम क्षेत्र में नहीं जाने देना चाहिए, तब हमें यह याद रखना चाहिए कि हम उन्हें बहुत से दूसरे क्षेत्रों में जाने देते हैं। क्या हमने बच्चों को स्वतन्त्रता के खराब

में भरती नहीं किया और उस संग्राम में लम्बे समय तक लगाकर उनके भावी जीवन के सारे विकास को नहीं रोका ? क्या यह उनकी भावना जगाने का प्रश्न नहीं था ? क्या हम यह सोचते हैं कि हम बच्चों का गलत उद्देश्य के लिए प्रयोग कर रहे थे ? बिल्कुल नहीं। वह एक महान् कार्य था। महात्माजी ने बच्चों से गहने ले लिये और उनको आशीर्वाद दिया। क्या वे बच्चे जानते थे कि वे क्या कर रहे थे ? क्या यह कहा जा सकता है कि बच्चे सही काम कर रहे थे और महात्मा गांधी हमारी भावी सन्तान को महान् बलिदान व त्याग की शिक्षा दे रहे थे; लेकिन आज मैं यह सोचता हूँ कि वह सब सही था। मैं उसमें कोई दोष नहीं पाता। जब कभी हम मनुष्यों को व बच्चों को अच्छी बातों की शिक्षा दे रहे हों, तो मैं समझता हूँ कि हमें उसका अनादर नहीं करना चाहिए, वरन् स्वागत करना चाहिए[1]।"

विरोध की मृत्यु

उपर्युक्त विचार दीक्षा के समर्थकों और विरोधियों—दोनों के लिए ही मननीय हैं। इस भाषण में जिन तथ्यों का निरूपण है, बहुधा वे ही तथ्य आचार्यश्री सबके सामने रखते रहे हैं। उनके इन विचारों से सभी सहमत हों, यह कोई आवश्यक बात नहीं है। पर उनमें रहे तथ्यों की अवहेलना कैसे की जा सकती है ? इन विचारों ने जो अनेक संघर्ष खड़े किये हैं, उनमें से एक यह जयपुर का संघर्ष भी था। उठा तो वह तूफान की तरह था, परन्तु किन्हीं ठोस तथ्यों पर उसका आधार नहीं था, अतः उसकी समाप्ति फुटपाथ पर किसी अनाथ व्यक्ति की मृत्यु के समान ही हुई।

एक असाधारण विरोध

आचार्यश्री का कलकत्ता महानगरी में पदार्पण हुआ। जनता की ओर

1. जैन भारती, १८ दिसम्बर, ५५

से उनका हार्दिक स्वागत किया गया। आचार्यश्री के विचार जनता के हृदय को आलोकित कर रहे थे; क्योंकि उनके विचार युग की भूख को तृप्ति प्रदान करने वाले थे। यों भी कहा जा सकता है कि युग की भूख उन विचारों को पाने के लिए तड़प रही थी। उनके विचार समय के अनुकूल थे और समय उनके विचारों के अनुकूल था। लोगों ने उन्हें युग-चेतना के प्रतिनिधि के रूप में देखा। वहाँ के व्यापारिक क्षेत्रों में नैतिकता और अध्यात्म की चर्चा होने लगी। जहाँ लोग बहुधा व्यापार या नौकरी के लिए ही पहुँचते हैं; वहाँ कोई नैतिकता और अध्यात्म की अलख जगाने पहुँचे तो वह एक अनोखी-सी ही बात लगेगी। आचार्यश्री इसीलिए वहाँ गये थे, अतः एक नये प्रकार के व्यक्तित्व को देखने का कुतूहल हर किसी में सहज ही जागृत होने लगा था। जो परिचित थे, वे तो आते ही; पर जो अपरिचित थे, वे भी काफी बड़ी संख्या में आते। देखने-सुनने की भावना लेकर आते और तृप्त होकर चले जाते।

चातुर्मास से पूर्व उस महानगरी के अनेक अंचलों में आचार्यश्री का पदार्पण हुआ। सर्वत्र जनता का अपार उत्साह और अपार स्नेह उन्हें मिला। उन्होंने भी जनता को वह उपदेश किया जो उसे वहाँ कभी भूले भटके भी नहीं मिल पाता। विशेष प्रवचनों तथा कार्यक्रमों की सफलता भी अद्वितीय रही। आचार्यश्री की कलकत्ता और कलकत्ता को आचार्यश्री भा गये।

कुछ व्यक्ति आचार्यश्री की यशोगाथा के प्रति असहिष्णु थे। वे उनके वर्चस्व को किसी भी मूल्य पर रोक देना चाहते थे। आचार्यश्री ने जब तक अपने वर्षाकालीन प्रवास का निर्णय नहीं किया था; तब तक तो वे लोग प्रायः शान्त ही रहे थे। सम्भवतः उन्होंने उस थोड़े दिन के प्रवास को साधारण और अस्थायी प्रभाव वाला ही समझा हो; अतः उसकी उपेक्षा कर दी हो; परन्तु जब आचार्यश्री ने वहीं वर्षा-काल बिताने का निर्णय कर दिया तब उनके प्रयत्नों में त्वरता आ गई। विरोधी वातावरण निर्मित करने के उपाय खोजे जाने लगे। वे किसी-न-

किसी बहाने से आचार्यश्री और उनके मिशन के प्रति ऐसी घृणा फैला देना चाहते थे कि जिससे उनके पूर्वोपार्जित समस्त वर्चस्व और प्रभाव को आवृत किया जा सके।

उन विरोधी व्यक्तियों में कुछ तो ऐसे थे जो कि आचार्यश्री और उनके कार्यों का जब-तब विरोध करते रहे हैं। उसमें उन्होंने सच-झूठ का भी कोई विशेष अन्तर नहीं किया है। यों उनमें अनेक व्यक्ति पढ़े-लिखे हैं, कार्य-कुशल हैं, शिष्ट हैं; परन्तु आचार्यश्री के विरोध में वे अपनी शिष्टता को बहुधा नहीं निभा पाते। सम्भवतः उसकी आवश्यकता भी नहीं मानते। यद्यपि मैं उनमें से अनेकों को व्यक्तिशः नहीं जानता; परन्तु आचार्यश्री के प्रति किये जाते रहे उनके भाषा-प्रयोगों ने कम-से-कम मेरे मन पर तो यही छाप छोड़ी है। मूलतः विरोधी भाव उन्हीं कुछ लोगों के मन में था। उन्होंने जब वैसा वातावरण बनाया तब कुछ और व्यक्ति भी उसमें आ मिले। कुछ उनके मैत्री-सम्पर्क से; तो कुछ भुलावे में।

विरोध का वह एक विचित्र प्रकार था, परन्तु आचार्यश्री का साहस उससे भी विचित्र था। वे देखते रहे, सुनते रहे और अपने कार्यों में लगे रहे। वे स्वयं भी तो कलकत्ता में विरोध करने के लिए ही गये थे। यह दूसरी बात है कि आचार्यश्री अनीति और अधर्म का विरोध कर रहे थे; जब कि उनके विरोधी लोग अनीति और अधर्म का विरोध करने वालों का विरोध कर रहे थे।

आचार्यश्री के विरुद्ध वह अभियान लगभग छः महीने तक चलता रहा, कभी धीमे, तो कभी तेजी से। पर न कभी वे उससे उत्तेजित हुए और न कभी भयभीत। वे विरोध को विनोद समझ कर चलने के आदी हैं। जहाँ उन्हें किसी विरोध का सामना करने को बाध्य होना पड़ता है; वहाँ वे उसके लिए घबराते नहीं। वे मानते हैं—"विरोध से घबराने की कोई आवश्यकता नहीं। उससे घबराने वाले समाप्त हो जाते हैं और उठकर उनका सामना करने वाले विजय प्राप्त कर लेते हैं।"[1]

[1] नैतिक संजीवन, पृ० २९

जीवन-शतदल

आचार्यश्री का जीवन शतदल कमल के समान है। कमल की प्रत्येक पंखुड़ी अपनी विशिष्ट आकृति और विशिष्ट महत्ता लिये हुए होती है। उन पखुड़ियों की समवायात्मक एकता ही तो कमल की आत्मा होती है। जीवन का शतदल विभिन्न घटनाओं की पखुड़ियों से बना होता है। प्रत्येक घटना अपने-आप में परिपूर्ण होती है, फिर भी अपने से उच्च पूर्णता का एक अंग बनकर वह जीवन को आकृति प्रदान करती है। मधुकोश की सुरक्षा में खड़ी पखुड़ियाँ अधिक सुव्यवस्थित लगती हैं, जब कि उसके बाहरी घेरे की बिखरी-बिखरी-सी। फिर भी मूल से बंधी हुई वे उससे अभिन्न होती हैं। जीवन-घटनाओं में भी यही क्रम होता है। कुछ घटनाएँ एक ही किसी क्रम में ढलकर जीवन के विशेष क्षेत्र को घेरती हैं, पर कुछ ऐसी भी होती हैं जो जीवन का अभिन्न अंग होने पर भी अलग-अलग-सी लगती हैं। अपेक्षाकृत कुछ अधिक खुलापन उन्हें ऐसा बना देता है। फिर भी पखुड़ियों के सौरभ की तरह प्रेरणात्मकता की अतिशयता तो उनका अपना जन्म-जात स्वभाव होता ही है। इस अध्याय में आचार्यश्री के जीवन-शतदल की उन अलग-अलग दिखाई देने वाली स्फुट घटनाओं का दिग्दर्शन कराया गया है।

आचार्यश्री का जीवन किसी एक बंधी-बँधाई परिपाटी का जीवन नहीं है। वह तो एक बहते हुए प्रवाह का जीवन है। उसमें घुमाव है, कटाव है तथा नव निर्माण की उच्च अभिलाषा है, बहाव तो उन सब में व्याप्त है ही। इसीलिए उनका जीवन घटना-सकुल है। उन घटनाओं के प्रकाश में हम आचार्यश्री के जीवन को नये-नये कोणों से देख सकते

हैं। जिस तरह हीरे को उसका छोटे-से-छोटा पहलू भी एक नयी चमक और नयी आकृति प्रदान करता है, उसी तरह इन छोटी-छोटी स्फुट घटनाओं की प्रत्येक स्फुरणा आचार्यश्री के जीवन का एक-एक नया कक्ष खोलने वाली है। यहाँ कुछ घटनाएँ संकलित की गई हैं।

शारीरिक सौन्दर्य

पूर्ण दर्शन

आचार्यश्री के पास जहाँ आन्तरिक सौन्दर्य का अक्षय स्रोत है; वहाँ बाह्य सौन्दर्य भी कुछ कम नहीं। प्रकृति ने उनके व्यक्तित्व के निर्माण में रूप-सम्पदा को खुले हाथ से लुटाया है; इसीलिए उनके शारीरिक अवयवों की रचना किसी कलाकार की अद्वितीय कलाकृति के समान है। साधारण व्यक्तियों की आँखें उनकी आकृति पर टिकें, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं; किन्तु दार्शनिकों और विद्वानों को भी उनकी आकृति लुब्ध कर लेती है। दक्षिण से दो दार्शनिक राजस्थान में आचार्यश्री के पास आये। कई दिनों तक नाना दार्शनिक विषयों पर विमर्षण होता रहा। जब वे विदा होने लगे तो बोले—"सभी तृप्तियों के साथ हम एक अतृप्ति भी लिये जा रहे हैं।"

साश्चर्य आचार्यश्री ने पूछा—कौनसी अतृप्ति?

उन्होंने कहा—मुखवस्त्रिका के कारण हम आपके पूर्ण मुख का दर्शन नहीं कर पाये। आपके मुख का अर्ध-दर्शन हमें प्रतिदिन पूर्ण-दर्शन के लिये उत्सुक करता रहा है। हमें आज संकोच छोड़कर यह कहने को विवश होना पड़ रहा है कि यदि कोई शास्त्रीय बाधा न हो तो क्षण-भर के लिए भी अपने अनावृत मुख के दर्शन का अवसर अवश्य दें।

नेत्रों का सौन्दर्य

यूनेस्को के प्रतिनिधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी-मण्डल के उपा-

घ्यक्ष श्री वुडलेण्ड केलर बम्बई में सपत्नीक आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। श्री केलर जब आचार्यश्री से बातचीत कर रहे थे, तब श्रीमती केलर आचार्यश्री के नेत्रों की ओर बड़ी उत्सुकता से देख रही थीं। बातचीत की समाप्ति पर श्रीमती केलर ने कहा—मुझे बहुत लोगों से मिलने का अवसर मिला है, किन्तु जो ओज, आभा और आत्म-तेज आपके नेत्रों में है, वैसा अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आया। निस्सन्देह आपके नेत्रों का सौन्दर्य और तेजस्विता मनुष्य को लुभा लेने वाली है।

तात्कालिक प्रतिक्रिया

यूरोप की लब्ध-ख्याति चित्रकर्त्री कुमारी एलिज़ाबेथ ब्रूनर दिल्ली में जब मेरे सम्पर्क में आई तब उन्होंने मुझे आचार्यश्री का एक स्वनिर्मित चित्र दिखलाया तथा उसका इतिहास भी बतलाया। एक दिन 'शान्ति निकेतन' में अचानक ही आचार्यश्री से उनकी भेंट हो गई थी। आचार्यश्री अपनी बंगाल-यात्रा के समय विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सांस्कृतिक व ऐतिहासिक संग्रहालय तथा शान्ति-निकेतन के समृद्ध पुस्तकालय का अवलोकन कर बाहर आ रहे थे और उधर से ही कुमारी एलिज़ाबेथ अन्दर जा रही थी। एक क्षण के लिए उनका आकस्मिक साक्षात्कार हुआ। इतने मात्र से ही वे इतनी प्रभावित हुईं कि पुनः कलकत्ता आकर आचार्यश्री से मिली और एक महीने तक वहाँ ठहर कर आचार्यश्री का जो एक भव्य चित्र बनाया, वही यह था।

वे ऐसा करने के लिए क्यों प्रेरित हुईं; उन्होंने इस विषय पर एक लेख भी लिखा; जो कि कलकत्ता के पत्रों में प्रकाशित हुआ था। उस लेख में उन्होंने बतलाया है—"शान्ति-निकेतन में जब मैं उत्तरायण के द्वार पर पहुँची तो उधर से आते व्यक्तियों के एक समूह ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। मैंने देखा कि वे नंगे पाँव श्वेत वस्त्रधारी साधु थे; जो कवि-गृह से आ रहे थे। वे जैन थे और उनके मुँह पर श्वेत वस्त्र बँधा हुआ था। मैं आदर-पूर्वक एक ओर खड़ी हो गई। वे निकट पहुँचे।

मुझे शान्ति अनुभव हुई। उन्होंने मेरे नाम व देश के विषय में प्रश्न पूछे। उनके प्रश्न गहरे थे और मेरी तात्कालिक प्रतिक्रिया थी कि उनकी थाह बड़ी गहरी है।'

एक विदेशी पत्रकार महिला की यह प्रतिक्रिया आचार्यश्री के व्यक्तित्व की जहाँ असाधारणता की द्योतक है, वहाँ उनके आत्म-सौन्दर्य का एक ज्वलन्त उदाहरण भी।

ठीक बुद्ध की तरह

एक बार आचार्यश्री सरदारशहर पधारे हुए थे। उन्हीं दिनों वहाँ एक वैद्य-सम्मेलन हो रहा था। अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ वैद्यों ने उसमें भाग लिया था। उनमें से कई व्यक्तियों ने सरदारशहर से बाहर मार्ग-स्थित ग्रामों में आचार्यश्री के दर्शन किये। उनमें जयपुर के सुप्रसिद्ध राजवैद्य नन्दकिशोरजी भी थे। आचार्यश्री से उन लोगों ने विविध विषयों पर वार्तालाप किया और पूर्ण तृप्ति के साथ जब वापिस जाने के लिए खड़े हुए; तब नन्दकिशोरजी ने कहा—"आचार्यश्री के कानों की बनावट ठीक भगवान् बुद्ध के कानों की तरह है। मैंने कानों की ऐसी सुषमा अन्यत्र कहीं नहीं देखी।"

आत्म-सौन्दर्य

आचार्यश्री ने जन-निर्माण में लगकर भी आत्म-निर्माण को गौण नहीं बनाया है। वे अपने जीवन को आगे बढ़ाकर जीते रहे हैं और सिंहाव-लोकन-पद्धति से अपने भूतकाल का अवलोकन करते हुए उसे समझते रहे हैं। ध्यान, योगासन आदि क्रियाएँ उनके आत्म-निर्माण के ही अंग हैं। इनसे उनका आत्म-सौन्दर्य निरन्तर निखार पाता रहा है।

वे सात्त्विक तथा मित आहार के समर्थक रहे हैं। अपने आहार पर उनका बहुत अधिक नियन्त्रण है। यथासम्भव वे बहुत स्वल्प द्रव्यों से तृप्त हो जाते हैं। अपने आचार-व्यवहार की कुशलता पर भी वे कड़ाई से ध्यान

देते रहे हैं। जब कोई कांटा या कंकड उनके पैरों में लग जाता है; तब वे बहुधा यह कहते सुने जाते हैं कि यह तो ईर्या-समिति की क्षति का दण्ड है। अपनी हर प्रकार की स्खलनाओं को वे आत्म-नियन्ता बनकर दूर करते हैं। निन्दा और प्रशंसा से अप्रभुत्व रहते हुए वे अपनी गति को बनाये रखने में सर्वथा समर्थ हैं। यह उनका आन्तरिक सौन्दर्य शारीरिक सौन्दर्य से भी अधिक प्रभावक है।

प्रेम की भाषा

जो व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता है, वह बहुधा उनका ही हो जाता है। वह उनकी आत्मीयता और अकारण वात्सल्य में खो-सा जाता है। शायद स्नेह की भाषा समझने वाला ही उनका पूरा रसास्वादन कर पाता है। कलकत्ता से राजस्थान आते हुए आचार्यश्री दिल्ली पहुँचे। वहाँ दिल्ली पब्लिक-लाइब्रेरी-हॉल में उनका सार्वजनिक स्वागत किया गया। सुप्रसिद्ध चित्रकर्त्री कुमारी एलिजाबेथ ब्रूनर उस कार्यक्रम में आदि से अन्त तक उपस्थित रही। कार्यक्रम समाप्त होने पर आचार्यश्री ने उससे कहा—"तुम हिन्दी नहीं समझती,फिर इतनी देर चुपचाप कैसे बैठी रहती हो?" उसने उत्तर देते हुए कहा—"प्रेम की भाषा अलग ही होती है। मैं उसे समझती हूँ। हर कोई उसे नहीं समझ पाता, इसीलिए ऊब जाता है।"

प्रखर तेज

ब्यावर में 'अणुव्रत-प्रेरणा-दिवस' पर बोलते हुए अजमेर के तपे हुए कार्यकर्त्ता श्रीरामनारायण चौधरी ने कहा—'मेरे दिमाग में कल्पना थी कि आचार्यश्री गुलमी कोई वृद्ध मनुष्य होंगे, पर आज ज्यों ही मैंने उनके दर्शन किये तो पाया कि आचार्यश्री में प्रखर आध्यात्मिक तेज के साथ-साथ आयु और शरीर का भी तेज है।"

शक्ति का अपव्यय क्यों ?

राजस्थान विधान-सभा में आचार्यश्री के प्रवचन का कार्यक्रम था।

उनके बारे में एक स्थानीय पत्रिका के सम्पादक ने कुछ अनर्गल बातें लिखी थीं। विधान-सभा के उपाध्यक्ष निरंजननाथजी को वह बहुत बुरा लगा। उन्होंने उस बात को अपमान-जनक समझा और आचार्यश्री के सम्मुख कहने लगे— 'यह हमारा और विधान-सभा का अपमान है। हम इस पर कानूनी कार्यवाही करेंगे।'

आचार्यश्री ने कहा—"हमारे लिए किसी व्यक्ति का अहित हो; यह मैं नहीं चाहता। किसी की इस प्रकार की आलोचना करना अज्ञान है। अज्ञान को मिटाना है तो उसके दोष को क्षमा कर देना होगा। दूसरी बात यह भी है कि इन तुच्छ घटनाओं में हमें अपनी शक्ति का अपव्यय क्यों करना चाहिए ?"

प्रशंसा का क्या करें ?

एक पुरोहित ने आचार्यश्री से कहा—मैंने आपके दर्शन तो आज पहली बार ही किये हैं, किन्तु मैं लोगों के बीच आपकी बहुत प्रशंसा करता रहा हूँ। अनेकों व्यक्तियों को मैंने आपके सम्पर्क में आने की प्रेरणा दी है।

आचार्यश्री ने कहा—पुरोहितजी ! हमें अपनी प्रशंसा नहीं चाहिए। हम उसका क्या करें ? हम तो चाहते हैं कि हर कोई अपने जीवन की सरलता को पहचाने। इसी में उसके जीवन का उत्कर्ष निहित है।

क्या पैरों में पीड़ा है ?

आचार्यश्री ने पिलानी से विहार किया तो सेठ जुगलकिशोरजी बिड़ला भी विदा देने के लिए दूर तक साथ-साथ आये। मार्ग में वे आचार्यश्री से बातें करते चल रहे थे। आचार्यश्री जब-जब बोलते; तब पैर रोक लेते। बिड़लाजी ने समझा सम्भवतः पैरों में पीड़ा है; जिससे वे ऐसा कर रहे हैं। जब कई बार ऐसा हुआ तो उन्होंने पूछ लिया—क्या पैरों में पीड़ा विशेष है ?

आचार्यश्री ने कहा—नहीं तो, कोई भी पीडा नहीं है।

बिड़लाजी ने तब साश्चर्य पूछा—तो आप रुक-रुक कर क्यों चल रहे है?

आचार्यश्री ने प्रश्न का भाव अब समझा। उन्होंने समझाते हुए कहा—चलते समय बातें न करने का हमारा नियम है; अत: जब-जब बोलने का अवसर आता है तब-तब मैं रुक जाता हूँ।

बिड़लाजी ने क्षमा मांगते हुए कहा—तब तो मुझे भी नहीं बोलना चाहिए था।

शान्तिवादिता

आचार्यश्री की नीति सदा से ही शान्ति-प्रधान रही है। अशान्ति को न वे चाहते हैं और न दूसरों के लिये पैदा करते हैं। जहां अशान्ति की सम्भावना होती है; वहां वे अपने को तत्काल अलग कर लेते हैं। इसी शान्तिवादी नीति का परिणाम है कि आज उनके विरोधी भी उनकी प्रशंसा करते हैं।

प्रथम झलक

आचार्य-काल के प्रारम्भ में ही उनकी शान्तिप्रियता की एक झलक सबको मिल गई थी। उन्होंने अपना प्रथम चातुर्मास बीकानेर में किया था। उसकी समाप्ति पर जब वहां से विहार किया; तब कई हजार व्यक्ति उनके साथ थे। वहां के सुप्रसिद्ध रांगड़ी चौक की सड़क जन-संकुल हो रही थी। उसी समय सामने से एक अन्य सम्प्रदाय के युवाचार्य आ गये। उनकी नीति सदा से ही तेरापंथ के विरुद्ध रही थी। उस समय भी वे किसी अच्छे इरादे से नहीं आये थे। उनके साथ के आगे चलने वाले कुछ भाई बड़े अपमानजनक ढंग से 'हटो-हटो' करते हुए आगे बढ़े।

आचार्यश्री ने स्थिति को तत्काल भांप लिया। सबको चीर कर आगे बढ़ने के उनके इरादे से इधर वाले भाइयों में बड़ी उत्तेजना फैली; परन्तु आचार्यश्री ने स्थिति को परोटा और सड़क छोड़कर एक ओर

जब उस वैष्णव साधु को इस घटना-क्रम का पता लगा तो आदमी भेजकर कहलवाया कि मुझे यह पता नहीं था कि वहाँ पहले किसी जैनाचार्य का व्याख्यान होना निश्चित हो चुका है। मुझ से आग्रह करने वालों ने मुझे इस स्थिति से अनजान रखा। यद्यपि मैंने उस स्थान पर व्याख्यान देना स्वीकार कर लिया; पर अब प्रसन्नता से कहता हूँ कि मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। पूर्व-निर्णयानुसार वहाँ जैनाचार्य का ही व्याख्यान हो। मुझ से सुनने की इच्छा रखने वाले मेरी कुटिया पर आ सकते हैं।

आचार्यश्री ने उस भाई से कहा—हमें उनके व्याख्यान देने पर कोई आपत्ति नहीं है। हमारा व्याख्यान कल वहाँ हो ही चुका है; आज यदि लोग उनको सुनें तो यह हमारे लिए कोई बाधा की बात नहीं है। इस पर भी उस सन्देश-वाहक ने स्पष्ट कर दिया कि वे नहीं आयेंगे। आचार्यश्री फिर भी वहाँ नहीं गये; तब बाजार के अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने आकर पुनः निवेदन किया और दबाव दिया कि अब तो किसी प्रकार की अशान्ति का भी भय नहीं रहा। इस पर आचार्यश्री ने व्याख्यान देना स्वीकार कर लिया और वहाँ गये।

शान्ति का मार्ग

सौराष्ट्र में जिन दिनों विरोधी वातावरण चल रहा था, तब मास्टर रतिलाल भाई आचार्यश्री के दर्शन करने आये। सौराष्ट्र में धर्म-प्रचार के लिए अपना समय और शक्ति लगाने वालों में वे एक प्रमुख व्यक्ति थे। वे जब आये तो उनके मन में यह भय था कि न जाने आचार्यश्री क्या कहेंगे? मुनिजनों को वहाँ भेजने की प्रार्थना करते समय उन्हें यह पता नहीं था कि विरोधी लोग वातावरण को इतना कलुषित कर देंगे। किन्तु अब उसका सामना करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग भी नहीं था।

आचार्यश्री ने पूछा—कहिये, सौराष्ट्र में कैसी स्थिति है? प्रचार कार्य ठीक चल रहा है?

इस प्रश्न ने रतिलाल भाई को असमंजस में डाल दिया। वे कुछ सोच नहीं पा रहे थे कि इसका उपयुक्त उत्तर क्या हो सकता है? फिर भी उन्होंने कुछ साहस करके कहा—एक प्रकार से ठीक ही चल रहा है; किन्तु विरोधी वातावरण के कारण उसकी गति में पूर्ववत् तीव्रता नहीं रह सकती है।

आचार्यश्री ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—यह कोई चिन्ता की बात नहीं है। हमें अपनी ओर से वातावरण को पूर्ण शान्त बनाये रखना है। विरोधी लोग क्या करते हैं; इस ओर ध्यान न देकर; हमें क्या करना चाहिए; यही अधिक ध्यान देने की बात है। हमें विरोध का शमन विरोध से नहीं, अपितु शान्ति से करना है। भगवान् का तो मार्ग ही शान्ति का है।

आचार्यश्री के इस कथन से रतिलाल भाई आश्चर्यान्वित हो गए। उन्होंने कहा—गुरुदेव! मुझे तो यह भय था कि आप कड़ा उलाहना देंगे। मैंने सोचा था कि सौराष्ट्र में साधु-साध्वियों के प्रति किये जा रहे व्यवहार से अवश्य ही आप क्रुद्ध हुए होंगे; किन्तु आपने तो मुझे उलटा शान्ति का ही उपदेश दिया।

गहराई में

आचार्यश्री अनेक बार साधारण-सी बात को भी इतनी गहराई तक ले जाते हैं कि उसमें दार्शनिक तत्त्व नवनीत की तरह ऊपर उभर आता है। साधारण-से-साधारण घटना भी आचार्यश्री के चिन्तन का स्पर्श पाकर गम्भीर बन जाती है। साधारण व्यक्ति बहुधा घटना के बहिस्तल को ही देखता है जब कि आचार्यश्री उसके अन्तस्तल को देखते हैं।

[illegible] से भी

एक बार कुहासा छाया हुआ था। उसके कारण विहार रुका हुआ

था। मुनिजन अपना-अपना सामान समेटे विहार के लिए तैयार बैठे थे। कुछ प्रतीक्षा के बाद थोड़ा-सा उजाला हुआ। सामने से ऐसा लगने लगा कि अब कुहासा समाप्त होने वाला ही है। एक साधु ने खड़े होकर सामने दूर तक नजर फैलाते हुए कहा—"अब कुहासा मिटने में अधिक देर नहीं है।" यह बात चल ही रही थी कि इतने में पीछे से रुई के फाहे जैसे कुहासे के बादल उमड़ आये और फिर पहले जैसा ही वातावरण हो गया।

आचार्यश्री ने इस बात को गहराई तक ले जाते हुये कहा—आगे सब देखते हैं; पर पीछे कोई नहीं देखता। विपत्ति पीछे से भी तो आ सकती है। सच तो यह है कि वह प्रायः सामने से कम और पीछे से ही अधिक आया करती है।

पैड़ी का दोष

आचार्यश्री जिस मकान में ठहरे थे, उसकी एक पैड़ी बहुत खराब थी। अपनी असावधानी के कारण उस दिन अनेक व्यक्तियों ने उससे चोट खाई। चोट खाकर अन्दर आने वाले प्रायः हर व्यक्ति ने उस पैड़ी को तथा उसके निर्माता और स्वामी को कोसा।

पैड़ी के प्रति व्यक्त किये जाने वाले उन विविध उद्‌गारों को सुनकर आचार्यश्री ने उस बात को गहराई तक पहुँचाते हुए कहा—पर-दोष-दर्शन कितना सहज होता है और आत्म-दोष-दर्शन कितना कठिन; यह इस पैड़ी की बात ने सिद्ध कर दिया है। चोट खाने वाला हर कोई पैड़ी को दोष देता है; जब कि वस्तुतः दोष अपनी असावधानी का है। पैड़ी की बनावट में कुछ कमी हो सकती है; फिर भी कुछ दोष अपनी ईर्या का भी तो है।

टोपी का रंग

समाजवादी नेता श्री जयप्रकाश नारायण पहले-पहल जब जयपुर

आचार्यश्री से मिले थे, तब सफेद टोपी पहने हुए थे। किन्तु जब दूसरी बार दिल्ली में मिले तब लाल टोपी पहने हुए थे। वार्तालाप के मध्य आचार्यश्री ने टोपी के लिए पूछ लिया कि सफेद के स्थान पर यह लाल टोपी कैसे समायी हुई है?

अरुणाजी ने कहा — 'हमारी पार्टी वालों ने यही निर्णय किया है। सफेद टोपी अब बदनाम भी हो चुकी है।"

आचार्यश्री ने स्मितभाव से कहा — "टोपी बदनाम हो गई, इसलिए आपकी पार्टी ने उसका रंग बदल दिया, परन्तु बदनामी के काम तो टोपी नहीं, मनुष्य करता है। उसको बदलने की आपकी पार्टी ने क्या योजना बनायी है?"

सम्प्रदाय: धर्म की शोभा

आचार्यश्री विहार करते हुए जा रहे थे। मार्ग में एक विशाल वटवृक्ष आ गया। सन्तों ने उनका ध्यान उधर आकृष्ट करते हुए कहा—यह वृक्ष बहुत बड़ा है।

आचार्यश्री ने भी उसे देखा और गम्भीरता से कहने लगे—एक मूल में ही कितनी शाखाएँ-प्रशाखाएँ निकल आती हैं। धर्म-सम्प्रदाय भी इसी प्रकार एक मूल में से निकली हुई विभिन्न शाखाएँ हैं; परन्तु इनकी यह विशेषता है कि इनमें परस्पर कोई झगड़ा नहीं है; जब कि सम्प्रदायों में नाना प्रकार के झगड़े चलते रहते हैं। शाखाएँ वृक्ष की शोभा हैं; उसी प्रकार सम्प्रदायों को भी धर्म-वृक्ष की शोभा बनना चाहिए।

नास्तिकता पर नया प्रकाश

प्रसिद्ध कीर्तनकार डॉ० रामनारायण सक्सेना आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उन्होंने अपनी कुछ चौपाइयाँ आदि भी सुनाईं। बातचीत के क्रम में वे थोड़ी-थोड़ी देर के बाद 'रामकृपा' को दुहराते रहे। सम्भवतः उन्होंने इस शब्द का प्रारम्भ तो भक्ति की दृष्टि से ही किया होगा; पर बाद में वह उनके लिए एक मुहावरा बन गया था।

आचार्यश्री ने जब इस बात की ओर लक्ष्य किया तो कहने लगे—डाक्टर साहब ! आप मनुष्य के पुरुषार्थ को भी कुछ मानियेगा ? 'रामकृपा,' 'प्रभुकृपा' आदि शब्दों को भक्ति-सम्भृत हृदय के उद्गारों से अधिक महत्त्व देने पर स्वयं प्रभु को भी राग-द्वेष-लिप्त मान लेना होगा। अहं-भाव को रोकने के लिए 'रामकृपा' जैसी भावनाएं आवश्यक है, तो क्या अकर्मण्यता और हीन भाव को रोकने के लिए पुरुषार्थ को नहीं मानना चाहिए ? मैं मानता हूँ कि परमात्मा को न मानना नास्तिकता है; पर क्या अपने आप को न मानना उतनी ही बड़ी नास्तिकता नहीं है ?

डाक्टर साहब मानो सोते से जाग पड़े। आचार्यश्री ने नास्तिकता पर जो नया प्रकाश डाला था, वह उनके लिए एक बिल्कुल ही नया तत्त्व था।

कार्य ही उत्तर है

एक भाई ने आचार्यश्री को एक दैनिक पत्र दिखाया। उसमें आचार्यश्री के विषय में बहुत-सी अनर्गल बातें लिखी हुई थीं। उसी समय एक वकील आचार्यश्री से बातचीत करने के लिए आये। उन्होंने भी पत्र देखा। वे बड़े खिन्न हुए। कहने लगे—यह क्या पत्रकारिता है ? ऐसे सम्पादकों पर मुकदमा चलाया जाना चाहिए।

आचार्यश्री ने स्मितभाव से कहा—कीचड़ में पत्थर फैंकने से कोई लाभ नहीं। मैं कार्य को आलोचना का उत्तर मानता हूँ; अतः मुकदमा चलाने या उत्तर देने की अपेक्षा कार्य करते जाना ही अधिक अच्छा है। मौखिक समाधानों से कार्यजन्य समाधान अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।

भूल नहीं सताती

एक बार आगरा सेन्ट्रल जेल में आचार्यश्री का प्रवचन रखा गया था। वापिस स्थान पर शीघ्र ही पहुँच जाने की सम्भावना थी; अतः

भिक्षाचरी आदि की व्यवस्था के लिए उन्होंने किसी को कुछ निर्देश नहीं दिया। मनोज्ञतया देरी हो गई। इधर मुनिजन इसी लिए प्रतीक्षा करते रहे कि अभी आने वाले ही होंगे। इतनी देरी का अनुमान उनको भी नहीं था।

शाम हो गई थी। गर्मी काफी बढ़ गई थी। सड़क पर पैर जलते थे। इन सभी कठिनाइयों को झेलते हुए वे आये। आते विश्राम में भी पहले उन्हें सबकी चिन्ता थी, अत: आते ही उनका पहला प्रश्न था—क्या अभी तक भिक्षाचरी के लिए तुम लोग नहीं गये ?

सन्तों ने कहा— कुछ निर्देश नहीं था, अत: हमने सोचा कि अभी आ ही रहे होंगे। प्रतीक्षा-ही-प्रतीक्षा में समय निकल गया।

आचार्यश्री ने थोड़ी-सी आत्म-ग्लानि के साथ कहा—तब तो मैं तुम लोगों के लिए बहुत अन्तराय का कारण बना।

सन्तों ने कहा—आप भी तो अभी निराहार ही हैं।

आचार्यश्री बोले—हां, निराहार तो हूं, पर काम के सामने कभी भूख नहीं सताती।

फोटो चाहिए

आचार्यश्री राजस्थान के भू० पू० पुनर्वास-मन्त्री मदनलाल यादव की कोठी पर पधारे। यादवजी तथा उनकी पत्नी ने श्रद्धा-विभोर होकर उनका स्वागत किया। कुछ देर वहां ठहरना हुआ। बातचीत के दौरान में यादवजी की पत्नी ने कहा—मुझे नैतिक कार्यों में बड़ी अभिरुचि है। मैंने अपने घर में उन्हीं लोगों के फोटो विशेष रूप से लगा रखे हैं; जिनको सेवाएं संसार को उच्च चारित्रिक आधार पर प्राप्त हुई हैं। मुझे अपने कमरे में लगाने के लिए आपका भी एक फोटो चाहिए।

आचार्यश्री ने कहा—फोटो का आप क्या करेंगी; जब कि मैं स्वयं ही आपके घर में बैठा हुआ हूं। मेरी दृष्टि में आवश्यकता तो यह है कि मनुष्य की आकृति को न पूजकर उसके गुणों का या वचन का अनुसरण किया जाए।

हमारा सच्चा ऑटोग्राफ

आचार्यश्री विद्यार्थियों में प्रवचन कर बाहर आये। कई विद्यार्थी उनका ऑटोग्राफ लेने को उत्सुक थे। फाउन्टेनपेन और डायरी आचार्यश्री की तरफ बढ़ाते हुए विद्यार्थियों ने कहा—आप इसमें हस्ताक्षर कर दीजिये।

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—देखो बालको ! मैंने अभी जो बातें कही हैं; उन्हें जीवन में उतारने का प्रयास करो। यही हमारा सच्चा ऑटोग्राफ होगा।

गर्म का बिगाड़

एक प्याले में दूध पड़ा था और उसके पास में ही अर्धित किया हुआ नींबू। आचार्यश्री को जिज्ञासा हुई—क्या नींबू के रस से दूध तत्काल फट जाता है ?

पास खड़े एक साधु ने कहा—फट तो जाता है।

आचार्यश्री ने नींबू लिया और थोड़ा-सा दूध लेकर उसमें पाँच-चार बूँदें डालीं। दो-एक मिनट के बाद देखा; तब तक वह नहीं फटा।

एक साधु ने कहा—गर्म दूध जल्दी फट जाता है। यह ठण्डा है; शायद इसीलिए नहीं फटा।

आचार्यश्री ने उस बात को जीवन पर लागू करते हुए कहा—ठीक ही है। ठण्डी प्रकृति वाले मनुष्य का दूसरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। गर्म प्रकृति वाले का ही शीघ्रता से बिगाड़ हुआ करता है।

पथ और बाड़ा

बड़ी सादड़ी के जवाहर चौक में आचार्यश्री प्रवचन कर रहे थे। जनता अधिक थी; अतः कुछ लोग मार्ग में बैठ गये थे। गौवें आईं। उनमें से एक डर गई। आचार्यश्री उस समय तेरापंथ की व्याख्या कर रहे थे। पथ की स्थिति का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा—'पथ

चलने के लिए होता है, बैठने के लिए नहीं। पंथ में रुकावट न हो; वह सबके लिए खुला रहे; यही अच्छा है। उसे रोंध लेने पर दूसरे डरने लगते हैं। यह गाय इसीलिए डर रही है कि लोगों ने पंथ को घेर कर अपना बना लिया है। पथ को पथ ही रहने दो, बाड़ा मत बनाओ।

उनकी प्रत्युत्पन्न मति ने गाय के रूपक में जहाँ अपना मन्तव्य प्रकट कर दिया; वहाँ उनको शिक्षा भी दे दी; जो कि मत के व्यामोह में घेराबंदी किया करते हैं। साथ ही व्यवस्था भंग करने वालों को भी जता दिया कि वे गलत काम कर रहे हैं। कहना नहीं होगा कि मार्ग में बैठे लोगों ने तत्काल उठकर मार्ग को खुला कर दिया।

बरगद का नया मोड़

सड़क के किनारे बरगद का पेड़ था। विहार के समय मार्ग में आचार्यश्री कुछ क्षण के लिए उसके नीचे रुके। पेड़ काफी पुराना था। नीचे भूमि तक पहुँचने वाली उसकी जटाएँ इस बात की साक्षी थीं। फिर भी ऋतु-परिवर्तन के कारण उस समय उस पर नये किसलय आये हुए थे। नयनाभिराम सौन्दर्य ने वहाँ एक मनोहारी वातावरण बना रखा था। आचार्यश्री ने एक क्षण के लिए उसे ऊपर से नीचे तक देखा और साथ में चलने वाले मेवाड़ी भाइयों से कहने लगे—देखा आपने इस बरगद को? कितना समयज्ञ है यह? समय की पुकार पर अपने चिरपोषित पुराने पत्तों को छोड़कर नया मोड़ लेने में इसे तनिक भी संकोच नहीं होता। तभी तो आज यह अपनी सघन छाया और नव सौन्दर्य से पथिकों का मन मोह रहा है। मेवाड़ी भाइयों को इस बरगद से शिक्षा लेनी है। उन्हें सोचना है कि प्राचीनता के व्यामोह में वे कहीं पिछड़ तो नहीं रहे हैं? नये मोड़ की पुकार पर उन्हें ध्यान देना है।

परिश्रमशीलता

आचार्यश्री श्रम में विश्वास करते हैं। वे एक क्षण के लिए भी

किसी कार्य को भाग्य पर छोड़ कर निश्चिन्त बैठना नहीं चाहते। वे भाग्य को बिलकुल ही नहीं मानते हों, ऐसी बात नहीं है; परन्तु वे भाग्य को पुरुषार्थ-जन्य मानते हैं। इसीलिए वे रात-दिन अपने काम में जुटे रहते हैं। दूसरों को भी इसी ओर प्रेरित करते रहते हैं। अनेक बार तो वे कार्य के सामने भूख-प्यास को भी भूल जाते हैं।

अधिक बीमार न हो जाऊं ?

आचार्यश्री कुछ अस्वस्थ थे। फिर भी दैनन्दिन के कार्यों से विश्राम नहीं ले रहे थे। रात्रि के समय साधुओं ने निवेदन किया कि वैद्य की राय है, आपको अभी कुछ दिन के लिए पूर्ण विश्राम करना चाहिए।

आचार्यश्री ने कहा—मैं इस विषय में कुछ तो ध्यान रखता हूँ, पर पूर्ण विश्राम की बात कठिन है। मुझ से यों सर्वथा निष्क्रिय होकर नहीं बैठा जा सकता। मैं सोचता हूँ कि ऐसे विश्राम से तो मैं कहीं अधिक बीमार न हो जाऊं ?

श्रम उत्तीर्ण कराता है

एक छात्रा ने आचार्यश्री से पूछा—आप तो बहुत ज्ञानी हैं। मुझे बतलाइये कि मैं इस वर्ष परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाऊंगी या नहीं ?

आचार्यश्री ने कहा—तुमने अध्ययन मन लगाकर किया या नहीं ?

छात्रा—अध्ययन तो मन लगाकर ही किया है।

आचार्यश्री—तब तुम्हारा मन उत्तीर्णता के विषय में शंकाशील क्यों बन रहा है ? *अपने श्रम पर विश्वास होना चाहिए। अपना श्रम* ही तो उत्तीर्ण कराने वाला होता है। ज्योतिष या भविष्यवाणी किसी को उत्तीर्ण नहीं करा सकती।

पुरुषार्थवादी हूँ

आचार्यश्री एक मन्दिर में ठहरे हुए थे। मध्याह्न में एकान्त देखकर पुजारी ने अपना हाथ आचार्यश्री के सम्मुख बढ़ाते हुए कहा—आप तो

चलने के लिए होता है; बैठने के लिए नहीं। पंथ में रुकावट न हो; वह सबके लिए खुला रहे; यही अच्छा है। उसे बाँध लेने पर दूसरे डरने लगते हैं। यह गाय इसीलिए डर रही है कि लोगों ने पंथ को घेर कर अपना बना लिया है। पथ को पथ ही रहने दो, बाड़ा मत बनाओ।

उनकी प्रत्युत्पन्न मति ने गाय के रूपक में जहाँ अपना मन्तव्य प्रकट कर दिया; वहाँ उनको शिक्षा भी दे दी, जो कि मत के व्यामोह में घेराबन्दी किया करते हैं। साथ ही व्यवस्था भंग करने वालों को भी जता दिया कि वे गलत काम कर रहे हैं। कहना नहीं होगा कि मार्ग में बैठे लोगों ने तत्काल उठकर मार्ग को खुला कर दिया।

बरगद का नया मोड़

सड़क के किनारे बरगद का पेड़ था। विहार के समय मार्ग में आचार्यश्री कुछ क्षण के लिए उसके नीचे रुके। पेड़ काफी पुराना था। नीचे भूमि तक पहुँचने वाली उसकी जटाएँ इस बात की साक्षी थीं। फिर भी ऋतु-परिवर्तन के कारण उस समय उस पर नये किसलय आये हुए थे। नयनाभिराम सौन्दर्य ने वहाँ एक मनोहारी वातावरण बना रखा था। आचार्यश्री ने एक क्षण के लिए उसे ऊपर से नीचे तक देखा और साथ में चलने वाले मेवाड़ी भाइयों से कहने लगे—देखा आपने इस बरगद को? कितना समयज्ञ है यह? समय की पुकार पर अपने चिरपोषित पुराने पत्तों को छोड़कर नया मोड़ लेने में इसे तनिक भी संकोच नहीं होता। तभी तो आज यह अपनी सघन छाया और नव कोंपलों से पथिकों का मन मोह रहा है। मेवाड़ी भाइयों को इस बरगद से शिक्षा लेनी है। उन्हें सोचना है कि प्राचीनता के व्यामोह से वे कहीं पिछड़ तो नहीं रहे हैं? नये मोड़ की पुकार पर उन्हें ध्यान देना है।

परिश्रमशीलता

आचार्यश्री श्रम में विश्वास करते हैं। वे एक क्षण के लिए भी

किसी कार्य को भाग्य पर छोड़ कर निश्चिन्त बैठना नही चाहते । वे भाग्य को बिलकुल ही नहीं मानते हों; ऐसी बात नहीं है; परन्तु वे भाग्य को पुरुषार्थ-जन्य मानते हैं । इसीलिए वे रात-दिन अपने काम मे जुटे रहते हैं । दूसरों को भी इसी ओर प्रेरित करते रहते हैं । अनेक बार तो वे कार्य के सामने भूख-प्यास को भी भूल जाते हैं ।

अधिक बीमार न हो जाऊँ ?

आचार्यश्री कुछ अस्वस्थ थे । फिर भी दैनन्दिन के कार्यों से विश्राम नही ले रहे थे । रात्रि के समय साधुओं ने निवेदन किया कि वैद्य की राय है, आपको अभी कुछ दिन के लिए पूर्ण विश्राम करना चाहिए ।

आचार्यश्री ने कहा—मैं इस विषय में कुछ तो ध्यान रखता हूँ, पर पूर्ण विश्राम की बात कठिन है । मुझ से यों सर्वथा निष्क्रिय होकर नही बैठा जा सकता । मैं सोचता हूँ कि ऐसे विश्राम से तो मैं कहीं अधिक बीमार न हो जाऊँ ?

श्रम उत्तीर्ण कराता है

एक छात्रा ने आचार्यश्री से पूछा—आप तो बहुत ज्ञानी हैं । मुझे बतलाइये कि मै इस वर्ष परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाऊँगी या नही ?

आचार्यश्री ने कहा—तुमने अध्ययन मन लगाकर किया या नही ?

छात्रा—अध्ययन तो मन लगाकर ही किया है ।

आचार्यश्री—तब तुम्हारा मन उत्तीर्णता के विषय मे शकाशील क्यो बन रहा है ? अपने श्रम पर विश्वास होना चाहिए । अपना श्रम ही तो उत्तीर्ण कराने वाला होता है । ज्योतिष या भविष्यवाणी किसी को उत्तीर्ण नही करा सकती ।

पुरुषार्थवादी हूँ

आचार्यश्री एक मन्दिर मे ठहरे हुए थे । मध्याह्न मे एकान्त देखकर पुजारी ने अपना हाथ आचार्यश्री के सम्मुख बढाते हुए कहा—आप तो

सर्वज्ञ हैं, कृपया मेरा भविष्य भी तो देख दें, कुछ उन्नति भी लिखी है या नही ?

आचार्यश्री ने कहा—मैं कोई ज्योतिषी नहीं हूँ जो तुम्हारा भविष्य बतला दूँ। मैं तो पुरुषार्थवादी हूँ। मनुष्य को सदा सम्यक् पुरुषार्थ में लगे रहना चाहिए। जो ऐसा करेगा; उसका भविष्य बुरा हो ही नहीं सकता।

दयालुता

आचार्यश्री की प्रकृति बहुत दयालुता की है। वे बहुत शीघ्र पिघल जाते है। सघ-संचालक के लिए यह आवश्यक भी है कि वह विशिष्ट स्थितियों पर अपनी दयार्द्रता का परिचय दें। नाना प्रकार की प्रार्थनाएँ उनके सम्मुख आती रहती हैं। कुछ समय का ध्यान रखकर की गई होती हैं; तो कुछ ऐसे ही। कुछ मानने योग्य होती हैं; तो कुछ नहीं। जिसकी प्रार्थना नही मानी जाती, उसके मन में खिन्नता होती है। यह आवश्यक भले ही न हो; पर स्वाभाविक है। इन सब स्थितियों में से गुजरते हुए भी सबका सन्तुलन बनाये रखना; उनका कर्तव्य होता है। अपना सन्तुलन रखना तो सहज होता है; पर उन्हें दूसरों का सन्तुलन भी बनाये रखना होता है। स्वभाव मे दयार्द्रता हुए बिना ऐसा हो नहीं सकता।

कैसे जा सकते हे ?

मेवाड़-यात्रा मे आचार्यश्री को उस दिन 'लम्बोड़ी' पहुँचना था। मार्ग के एक 'सोन्याणा' नामक ग्राम मे प्रवचन देकर जब वे चलने लगे; तब एक वृद्धा ने आगे बढ़कर आचार्यश्री को कुछ रुकने का संकेत करते हुए कहा—मेरा 'मोभी बेटा' (प्रथम पुत्र) बीमार है। वह आ ही रहा है, आप थोड़ी देर ठहर कर उसे दर्शन दे दें।

लोगों ने उसे टोकते हुए कहा—आचार्यश्री को आगे जाना है, पहले ही काफी देर हो चुकी है, धूप भी प्रखर है, अतः वे अब नही ठहर सकते।

वृद्धा ने सुनकते हुए कहा—तुम कौन होते हो कहने वाले ? मैं भी तो सुबह से बैठी बाट देख रही हूँ। महाराज दर्शन दिये बिना ही कैसे जा सकते हैं ? वृद्धा सचमुच ही रास्ता रोक कर खड़ी हो गई।

आचार्यश्री ने उसकी भक्ति-विह्वलता को देखा तो द्रवित हो गए। उन्होंने कहा—माँजी ! तुम्हारा घर किधर है ? उधर ही चलें तो दर्शन हो जायेंगे।

वृद्धा तो एक प्रकार से नाच उठी और आगे हो ली। आचार्यश्री उसके घर की ओर बढ़े, तो कुछ ही दूर पर वह लड़का आता हुआ मिल गया। उसने अच्छी तरह से दर्शन कर लिये, तब आचार्यश्री ने वृद्धा से पूछा—क्यों माँजी ! अब तो हम चलें ?

वृद्धा गद्गद हो गई और वाष्पार्द्र नेत्रों से उसने विदाई दी।

बिना भक्ति तारो ता पँ तारबो तिहारो है

सुजानगढ़ में चांदमलजी सेठिया अपनी युवावस्था में धर्म-विरोधी प्रकृति के थे। यों बड़े समझदार तथा दृढ़-सकल्प व्यक्ति थे। वे कालान्तर में राजयक्ष्मा से पीड़ित हो गए। उस स्थिति में उनके विचारों में भी परिवर्तन आया। उन्होंने आचार्यश्री से दर्शन देने की प्रार्थना कराई। आचार्यश्री वहाँ गये; तब उन्होंने अपनी धर्म-विमुखता का पश्चात्ताप किया और एक राजस्थानी भाषा का 'कवित्त' सुनाया। उसकी अन्तिम कड़ी थी—'बिना भक्ति तारो ता पँ तारबो तिहारो है' अर्थात्, भक्तों को तो भगवान् तारते ही हैं, पर मुझ जैसे अभक्त को भी तारें; तभी आपकी विशेषता है।

आचार्यश्री उनकी उस भावना पर मुग्ध हो गए। उसके बाद स्वयं वे वहाँ जाते रहे और धर्मोपदेश सुनाते रहे। अनेक बार सन्तों को भी वहाँ भेजते रहे।

द्वेष को विस्मृत कर दो

लाडणू के सूरजमलजी बोरड पहले धार्मिक प्रकृति के थे; किन्तु बाद में किसी कारण से धर्म-विरोधी हो गए। उन्होंने अनेक लोगों को भ्रान्त किया। परन्तु अब बीमार हुए तब उनके विचार बदल गए। उन्होंने आचार्यश्री को दर्शन देने की प्रार्थना कराई। आचार्यश्री वहाँ पधारे, तब आत्म-निन्दा करते हुए उन्होंने अपने कृत्यों की क्षमा माँगी।

आचार्यश्री काफी देर वहाँ ठहरे और उनसे बातें कीं। प्रसंगवशात् यह भी पूछा कि स्वामीजी के सिद्धान्तों में कोई भ्रान्ति हो गई थी या मानसिक द्वेष ही था? यदि भ्रान्ति थी तो अब उसका निराकरण कर लो और यदि द्वेष था तो मन से उसे विस्मृत कर दो। तुम्हारे कारण से जिन लोगों में धर्म के प्रति भ्रान्तियाँ पैदा हुई हैं; उन्हें भी फिर से सत्-प्रेरणा देना तुम्हारा कर्तव्य है।

उन्होंने आचार्यश्री को बतलाया कि मेरी श्रद्धा ठीक रही है; किन्तु मानसिक द्वेष-वश ही यह इतनी दूरी हो गई थी। मैंने जिनको भ्रान्त किया है; उनसे भी कहूँगा।

उसके बाद आचार्यश्री प्रायः प्रतिदिन उन्हें दर्शन देते रहे। वे आचार्यश्री की इस दयालुता से बहुत ही तृप्त हुए। वे बहुधा अपने साथियों के सामने अपनी पिछली भूलों का स्पष्टीकरण करते रहे थे। उनकी वह धर्मानुकूलता अन्त तक वैसी ही बनी रही।

भावना कैसे पूर्ण होती ?

आत्म-विशुद्धि के निमित्त एक बहिन ने आजीवन अनशन कर रखा था। उसे निराहार रहते छत्तीस दिन गुजर गए। तभी उस शहर में आचार्यश्री का पदार्पण हो गया। उस बहन को अनशन में आचार्यश्री के दर्शन पा लेने की उत्सुकता थी। उसने आचार्यश्री के वहाँ पधारते ही प्रार्थना कराई। आचार्यश्री ने शहर में पधार कर प्रवचन कर चुकने के बाद ही सन्तों से कहा—चलो ! बहन को दर्शन दे आयें।

देर हो गई थी और धूप भी काफी थी; अत सन्तो ने कहा—रेत मे पैर जलेंगे; अत सन्ध्या-समय उधर पधारें तो ठीक रहेगा।

आचार्यश्री ने कहा—नही, हमे अभी चलना चाहिये। यद्यपि उसका घर दूर था; फिर भी आचार्यश्री ने दर्शन दिये। बहिन की प्रसन्नता का पार न रहा। आचार्यश्री थोड़ी देर वहाँ ठहर कर वापिस अपने स्थान पर आ गए। कुछ देर बाद ही उस बहन के दिवंगत होने के समाचार भी आ गए।

आचार्यश्री ने सतो से कहा—अगर हम उस समय नही जाते तो उसकी भावना पूर्ण कैसे होती ? ऐसे कार्यों मे हमें देर नही करनी चाहिए।

झोंपड़े का चुनाव

आचार्यश्री बीदासर से विहार कर डागी मे पधारे। बस्ती छोटी थी। स्थान बहुत कम था। कुछ झोपडे बहुत अच्छे थे, पर कुछ शीत-काल के लिए बिल्कुल उपयुक्त नही थे। आचार्यश्री ने वहाँ अपने लिए एक ऐसे ही झोंपडे को पसन्द किया कि जहाँ शीतागमन की अधिक सम्भावना थी। सन्तो ने दूसरे झोपडे का सुझाव दिया तो कहने लगे—हमारे पास तो वस्त्र अधिक रहते है; अत पर्दे आदि का प्रबन्ध ठीक हो सकता है। अन्य साधुओ के पास प्राय वस्त्र कम ही मिलते हैं, अत उनके लिए सर्दी का बचाव अधिक आवश्यक होता है।

वज्रादपि कठोराणि

आचार्यश्री मे जितनी दयालुता अथवा मृदुता है; उतनी ही दृढता भी। आचार्यश्री की मृदुता शिष्य वर्ग मे जहाँ आत्मीयता और श्रद्धा के भाव जगाती है; वहाँ दृढता अनुशासन और आदर के भाव। न उनका काम केवल मृदुता से चल सकता है और न दृढ़ता से। दोनो का सामजस्य बिठाकर ही वे अपने कार्य मे सफल हो सकते हैं। आचार्यश्री

ने इन कामों का अपने में अच्छा सामंजस्य बिठाया है। वे एक ओर बहुत शीघ्र द्रवित होते देखे जाते हैं तो दूसरी ओर अपनी बात पर कठोरता से अमल करते हुए भी देखे जा सकते हैं।

मुझे रोकता है

एक बार आचार्यश्री लाडणू में थे। वहाँ कुछ भाइयों ने स्थानीय हरिजनों को व्याख्यान-श्रवण की प्रेरणा दी। वे आये तो उसमें कुछ लोगों ने आपत्ति की। कुछ इस कार्य के पक्ष में थे तो कुछ विपक्ष में। वातावरण में गरमी आयी और कुछ पारस्परिक वाद-विवाद बढ़ने लगा। यह बात आचार्यश्री तक पहुँची। उन्होंने अत्यन्त स्पष्टता के साथ चेतावनी देते हुए कहा—इस समय यह स्थान साधुओं की निश्राय में है। यहाँ धर्म-श्रवण के लिए कोई भी व्यक्ति आ सकता है। यदि कोई आगन्तुकों को रोकता है तो वह वस्तुतः मुझे ही रोकता है।

आचार्यश्री की इस दृढ़तापूर्ण घोषणा ने सारा विरोध शान्त कर दिया। यह उस समय की घटना है जब कि आचार्यश्री ने इस ओर अपने प्राथमिक चरण बढ़ाये थे। अब तो यह प्रश्न प्रायः समाप्त हो चुका है कि व्याख्यान में कौन आता है और कहाँ बैठता है?

मन्दिर में भगवान् नहीं है

एक गाँव में आचार्यश्री को एक मन्दिर में ठहराने का निश्चय किया गया। वे जब वहाँ आये तो उनके साथ कुछ हरिजन भी थे। उनके साथ-साथ वे भी मन्दिर में आ गए। पुजारिन ने जब यह देखा तो क्रोधवश गालियाँ बकने लगी। कुछ देर तो आचार्यश्री का उधर ध्यान ही नहीं गया। पर जब पता लगा तो साधुओं से कहने लगे—चलो भाई; अपने उपकरण वापिस समेट लो। यहाँ मन्दिर में तो भगवान् नहीं; क्रोध चाण्डाल रहता है। हम इस अपवित्रता में ठहर कर क्या करेंगे?

पुजारिन ने जब आचार्यश्री के ये शब्द सुने तो कुछ ठण्डी पड़

गई। कहने लगी—आप क्यों जा रहे हैं ? मैं आपको थोड़े ही कह रही हूँ। मैं तो इन लोगों से कह रही हूँ।

आचार्यश्री ने कहा—तुम जब हम लोगों को ठहरा रही हो तो हमारे पास आने वाले लोगों को कैसे रोक सकती हो ?

पुजारिन ने आचार्यश्री का जब यह दृढ़ रुख देखा तो चुपचाप एक ओर चली गई।

सिद्धान्त-परक आलोचना

आचार्य-पद पर आसीन होने के कुछ महीने बाद ही आचार्यश्री ब्यावर पधारे। वहाँ अपने प्रथम व्याख्यान में उन्होंने मुनि-चर्या का वर्णन करते हुए कहा कि अपने निमित्त बने स्थान में रहने से साधु को दोष लगता है। सेठ-साहूकारों के निवासार्थ हवेलियाँ बनती हैं, उसी प्रकार यदि साधुओं के लिए स्थान बनाये जाते हों तो फिर उनमें साम के प्रतिरिक्त क्या अन्तर हो सकता है ?

आचार्यश्री की उस बात पर कुछ स्थानीय भाई बहुत चिढ़े। मध्याह्न में एकत्रित होकर वे आचार्यश्री के पास आये और प्रातःकालीन व्याख्यान में कही गई उपर्युक्त बात को अपने पर किया गया आक्षेप बतलाने लगे। उन्होंने आचार्यश्री पर दबाव डाला कि वे अपने इस कथन को वापिस लें और आगे के लिए ऐसी आक्षेपपूर्ण बात न कहें।

आचार्यश्री ने कहा—हम किसी की व्यक्ति-परक आलोचना नहीं करते। सिद्धान्त-परक आलोचना अवश्य करते हैं। ऐसा होना भी चाहिए; अन्यथा तत्त्वबोध का कोई मार्ग ही खुला न रह जाए। मेरे कथन को किसी पर आक्षेप नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह किसी व्यक्ति-विशेष या समाज-विशेष के लिए नहीं कहा गया है। वह तो समुच्चय सिद्धान्त का प्रतिपादन-मात्र है। यदि हम वैसा करते हैं तो स्वयं हमारे पर भी वह उतना ही लागू होगा जितना कि दूसरों पर होता है। अपने कथन को वापिस लेने तथा आगे के लिए न दुहराने की तो

बात ही मैंने उठा जाती है ? यह प्रश्न मुनि-चर्या से सम्बद्ध है; अतः इस पर गूढ़मनापूर्वक मीमांसा करते रहना नितान्त आवश्यक है।

वे लोग आचार्यश्री को लघुवय तथा नवीन समझ कर दबाने की दृष्टि से आये थे, परन्तु आचार्यश्री के दृढ़तापूर्वक उत्तर ने यह स्पष्ट कर दिया कि व्यक्तिगत आलोचना जहां मनुष्य की हीनवृत्ति की द्योतक होती है, वहां सैद्धान्तिक आलोचना ज्ञान-वृद्धि और आचार-शुद्धि की हेतु होती है। उसे रोकने की नहीं, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से समझने की आवश्यकता है। सत्य को आग्रही नहीं, सत्याग्रही ही पा सकता है।

कुप्रथा को प्रश्रय नहीं

मेवाड़ के एक गांव में आचार्यश्री पधारे। वहां एक बहिन ने दर्शन देने की प्रार्थना करायी। आचार्यश्री ने कारण पूछा। अनुरोध करने वाले भाई ने कहा—उसका पति दिवंगत हो गया है। यहां की प्रथा के अनुसार वह ग्यारह महीने तक अपने घर से बाहर नहीं निकल सकती।

आचार्यश्री ने कहा—तुम्हीं कहते हो या उससे पूछा भी है ? ऐसा कौन होगा जो इतने महीनों तक एक ही मकान में बैठा रहना चाहे ?

इस पर वह भाई उस बहिन को समझाकर वहीं स्थान पर ले आने के लिए गया ? पर रूढ़ियों में पली हुई वह वहां न आ सकी।

आचार्यश्री ने तब कहा—कोई रोगी या अशक्त होता तो मैं अवश्य वहां जाकर दर्शन देता; पर वहां जाने का अर्थ है—इस कुप्रथा को प्रश्रय देना; अतः मैं नहीं आ सकता।

उस बहिन ने जब यह बात सुनी तो बहुत चिन्तित हुई। लोग हजारों मील आकर दर्शन करते हैं और वह गांव में पधारे हुए गुरुदेव के दर्शनों से भी वंचित रह जाएगी; इस चिन्तन ने उसको झकझोर डाला। अन्ततः वह अपने को नहीं रोक सकी। कुछ बहिनों की ओट लिए भीत मृगी-सी वह आयी और दर्शन कर जाने लगी। आचार्यश्री ने उसे आगे के लिए उस प्रथा को छोड़ देने का बहुत उपदेश दिया; पर

वह सामाजिक भय के कारण उसे नहीं मान सकी।

आचार्यश्री ने कहा—एक ही कोठरी में बैठे रहना और वही मल-मूत्र करना तथा दूसरो से फिकवाना क्या तुम्हे बुरा नहीं लगता ?

उसने कहा—बेटे की बहू विनीत है; अतः वह सहज भाव से यह सब कुछ कर लेती है।

आचार्यश्री सन्तो की ओर उन्मुख होकर कहने लगे—अब इस घोर अज्ञान को कैसे मिटाया जाये ?

श्मशान में भी

आचार्यश्री ने सौराष्ट्र मे साधु-साध्वियों को भेजा। वहाँ उन्हे घोर विरोध का सामना करना पड़ा। चूड़ा आदि मे कुछ लोग तेरापथी बने; उन्हे जाति-बहिष्कृत कर दिया गया। तेरापथी' साधुओ के विरुद्ध ऐसा वातावरण बनाया गया कि उन्हे सौराष्ट्र में चातुर्मास करने के लिए कहीं स्थान नहीं मिल पाया। उस समय वहाँ पर मुनि धासीरामजी, मुनि डूगरमलजी और साध्वी रूपाजी; ये तीन सिंघाडे विचर रहे थे। उन्हे क्रमश. जोरावरनगर, बाँकानेर और चूड़ा मे चातुर्मास करने थे। यद्यपि समाज-बहिष्कार का भय सर्वत्र व्याप्त था, फिर भी बाँकानेर और चूड़ा मे कुछ व्यक्तियों ने उस स्थिति का सामना करने का निश्चय किया और उन्होने अपना स्थान प्रदान किया, पर जोरावरनगर मे मुनि धासीरामजी के सम्मुख उससे बिलकुल विपरीत स्थिति थी। वहाँ कोई भी जैन भाई उन्हे स्थान देने को उद्यत नहीं हुआ।

अन्त मे वहाँ से कुछ भाई थली में आचार्यश्री के दर्शन करने आये और वहाँ की सारी स्थिति बतलायी। आचार्यश्री ने क्षण-भर के लिये कुछ सोचा और कहा—यद्यपि वहाँ आहार-पानी तथा स्थान आदि की अनेक कठिनाइयाँ हैं, फिर भी उन्हें साहस से काम लेना है। घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैन-अजैन कोई भी व्यक्ति स्थान दे; उन्हें

वहीं रह जाना चाहिये। कोई भी स्थान न मिलने की स्थिति में श्मशान में रह जाना चाहिये। भिक्षु स्वामी के आदर्श को सामने रखकर दृढ़ता-पूर्वक उन्हें कठिनाइयों का सामना करना है।

आचार्यश्री की उस दृढ़तापूर्ण स्फूर्त वाणी से श्रावकों को बड़ा सम्बल मिला। तत्रस्थ साधु-साध्वियों को भी एक मार्ग-दर्शन मिला। वे अपने निश्चय पर और भी दृढ़ता के साथ जमे रहे।

एकात्मकता

सौराष्ट्र-स्थित साधु-साध्वियों को स्थान न मिलने के कारण आचार्यश्री चिन्तित थे। उन्होंने अपने मन-ही-मन एक निर्णय किया और ऊनोदरी करने लगे। पार्श्वस्थित सभी व्यक्तियों को धीरे-धीरे यह तो पता हो गया कि आचार्यश्री ऊनोदरी कर रहे हैं; पर क्यों कर रहे हैं; इसका पता किसी को नहीं लग सका। बार-बार पूछने पर भी उन्होंने अपने रहस्य को नहीं खोला। आखिर यह रहस्य तब खुला; जब सौराष्ट्र में साधु-साध्वियों की कुशलता के तथा चातुर्मास के लिये उपयुक्त स्थान मिल जाने के समाचार आ गये।

संघ के साधु-साध्वियों के प्रति आचार्यश्री की यह आत्मीयता उन सबको एकसूत्रता का भान कराती है तथा संघ के लिये सर्वभावेन समर्पण की बुद्धि उत्पन्न करती है। इस एकात्मकता के सम्मुख कोई परीषह; परीषह के रूप में टिक नहीं पाता। वह कर्तव्य की वेदी पर बलिदान की भूमिका बन जाता है।

पंचायती जाजम

आचार्यश्री मारवाड़ के एक ग्राम में पधारे। स्थानीय लोगों ने मध्याह्न में उनके प्रवचन की व्यवस्था की। जनता को आतप से बचाने के लिये पाल बाँधे तो धूल से बचाने के लिए जाजमें बिछाई।

आचार्यश्री परीक्षार्थी मुनियों को अध्ययन करवा रहे थे; अतः

पहले एक साधु को व्याख्यान प्रारम्भ करने के लिये भेज दिया। व्याख्यान प्रारम्भ हुआ। सभी वर्ग के लोग आकर जमने लगे। कुछ मेघवाल (हरिजन) भाई भी आये और सभी के साथ जाजम पर बैठ गये। स्थानीय जैन लोगों को यह बहुत बुरा लगा। उन्होंने साक्रोश उन्हें वहाँ से उठाते हुए कहा—"तुम लोगो को कुछ भी होश नही है जो पचायती जाजम पर आकर बैठ गये।" उन्होंने उनके नीचे से जाजम खींचली। हरिजनो को इस व्यवहार से बड़ी ठेस पहुची। उनकी आँखें उस अपमान के मूक विरोध में आर्द्र हो गई।

आचार्यश्री ने अदर से यह सब देखा तो बड़े खिन्न हुये। मानवता के उस अपमान ने उन्हे व्यग्र बना दिया। शिष्यों को वे आगे कुछ नहीं पढा सके। वे तत्काल सभा-स्थल मे पहुचे और कहने लगे—"साधुओं के व्याख्यान मे आने का हरएक को अधिकार है। यहाँ जातीयता के आधार पर किसी का अपमान करना स्वय साधुओं का अपमान करना है। आपकी जाजम व्याख्यान मे आगन्तुक व्यक्तियों के बैठने से यदि अपवित्र होती थी, तो उसे यहाँ बिछाया ही क्यो गया था ?" आचार्यश्री ने वहाँ के सरपच को; जो कि एक जैन था और उस कार्य मे भी सम्मिलित था, पूछा—क्या आपके यहाँ पचायत में सभी सवर्ण हैं ?

सरपच—नही उसमे एक हरिजन भी है।

आचार्यश्री—तो क्या पचायत करते समय उसके बैठने की व्यवस्था तुम लोगों से पृथक् होती है ?

सरपच—नही महाराज, वहाँ तो सभी साथ में ही बैठते हैं।

आचार्यश्री—तो यहा क्या हो गया ? वहा की जाजम से शायद यहाँ की जाजम अधिक पवित्र और अधिक नाजुक होगी।

उन लोगो के पास आगे बोलने के लिए कोई तर्क नहीं था। वे बहुत लज्जित थे। उन्होंने अपनी भूल स्वीकार करते हुए सम्बन्धित व्यक्तियों से क्षमा-याचना की।

प्रत्युत्पन्नमति

आचार्यश्री में अपनी बात को समझाने की अपूर्व योग्यता है। वे किसी भी प्रकार की तर्क से घबराते नहीं। अपनी तर्क-सम्पन्न वाक्यावलि से वे एक क्षण में पासा पलट देते हैं। उनको सुनने वाले उनकी इस क्षमता से जहाँ चकित हो जाते हैं; वहाँ तर्क करने वाले निरुत्तर। उनकी प्रत्युत्पन्नबुद्धि बहुत ही समर्थ है।

पादरी का गर्व

एक पादरी ने ईसाई धर्म को सर्वोत्कृष्ट बताते हुए आचार्यश्री से कहा—"ईसा ने शत्रु से भी प्यार करने का उदेश दिया है। ऐसा सिद्धान्त अन्यत्र नहीं मिलेगा।"

आचार्यश्री ने तत्काल कहा—"महात्मा ईसा ने यह बहुत अच्छा कहा है; परन्तु इससे शत्रु का अस्तित्व तो प्रकट होता है। भगवान् महावीर ने इससे भी आगे बढ़कर किसी को भी अपना शत्रु न मानने को कहा है।" पादरी का अपने धर्म की सर्वोत्कृष्टता का गर्व चूर-चूर हो गया।

आप लोग क्या छोड़ेंगे ?

रूपनगढ़ में गोविन्दसिंह नामक एक सेवानिवृत्त सैनिक अधिकारी आचार्यश्री के पास आया। वह कुछ बातचीत कर ही रहा था कि इतने में कुछ वणिग्जन भी आ गए। उस अधिकारी से आचार्यश्री को बात करते देखा तो किसी वणिक् ने अवसर देखकर आचार्यश्री के कान में कहा—यह तो शराबी है। आप इससे क्या बात करते हैं ?

आचार्यश्री ने उसकी बात सुन ली और फिर काफी देर तक उस अधिकारी से बात करते रहे। बातचीत के प्रसंग में उससे पूछ भी लिया—क्या तुम शराब पीते हो ?

अधिकारी—हाँ महाराज ! पहले तो बहुत पीता था; पर अब

प्राय नहीं पीता ।

आचार्यश्री—तो क्या अब इसे पूर्णत छोड़ने का संकल्प कर सकोगे ?

अधिकारी—इतना तो विचार नहीं किया; पर अब पीना नहीं चाहता ।

आचार्यश्री—जब पीना नहीं चाहते तो मानसिक दृढ़ता के लिए संकल्प कर लेना चाहिए ।

अधिकारी ने एक क्षण के लिए कुछ सोचा और फिर खड़ा होकर कहने लगा—अच्छा महाराज ! आज आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आजीवन शराब नहीं पीऊँगा ।

आचार्यश्री ने उसके मानसिक निर्णय को टटोलते हुए पूछा—मेरे कहने के कारण तथा प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए तो तुम ऐसा नहीं कर रहे हो ?

अधिकारी ने दृढ़ता के साथ कहा—नहीं महाराज ! मैं अपनी आत्म-प्रेरणा से ही व्रत ले रहा हूँ । इतने दिन भी मेरा प्रयास इस ओर था, पर आज तक संकल्प-बल जागृत नहीं हुआ था । आज आपके सम्पर्क में आने से मेरे में वह बल जागृत हुआ है । उसी की प्रेरणा से मैंने यह व्रत लिया है ।

आचार्यश्री ने उसके बाद उन समागत व्यापारियों से पूछा—अब आप लोग क्या छोड़ेंगे ? व्यापार में मिलावट आदि तो नहीं करते ?

व्यापारियों ने बगलें झाँकना शुरू कर दिया । किसी तरह साहस बटोर कर कहने लगे—वास्तव में इसके बिना व्यापार चल ही नहीं सकता ।

आचार्यश्री के बार-बार समझाने पर भी वे लोग उस दुर्बलता को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हो सके ।

आचार्यश्री ने कहा—जिसको तुम लोग बात करने योग्य नहीं समझते थे; उसने तो अपनी बुराई को छोड़ दिया; पर तुम लोग जो

अपने को उससे श्रेष्ठ मानते हो; अपनी बुराई नहीं छोड़ पा रहे हो। तुम लोगों से उसकी सकल्प-शक्ति अधिक तीव्र रही ।

वास्तविक प्रोफेसर

विमानी-विद्यापीठ में प्रवचन करते हुए आचार्यश्री ने कहा—"जो अनुभव स्वयं पढ़ते समय नहीं हो पाता; वह विद्यार्थियों को पढ़ाते समय होता है; अत वास्तविक प्रोफेसर तो विद्यार्थी होते हैं।

आचार्यश्री भाषण देकर आये, तब एक परिचित विद्यार्थी ने पूछा—अब आपका आगे का कार्यक्रम क्या है ?

आचार्यश्री—चार बजे के लगभग प्रोफेसरों की सभा में भाषण है।

छात्र ने हँसते हुए कहा—तब तो हम भी उसमें सम्मिलित हो सकेंगे; क्योंकि अभी आपने हमें प्रोफेसर बना दिया है।

आचार्यश्री—पर मेरे उस कथन के अनुसार वह सभा प्रोफेसरों की न होकर छात्रों की ही तो होगी। तब तुम्हारे सम्मिलित होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

कोई तो चाहिए

आचार्यश्री नवीगंज आ रहे थे। मार्ग में रघुवीरसिंहजी त्यागी का आश्रम आया। त्यागीजी ने आचार्यश्री को वहाँ ठहराने का बहुत प्रयास किया। आचार्यश्री का कार्यक्रम आगे के लिए पहले से ही निश्चित हो चुका था, अत. वहाँ ठहर पाना सम्भव नहीं था।

त्यागीजी ने अपना अन्तिम तर्क काम में लेते हुए कहा—यहाँ तो अमुक-अमुक आचार्य ठहर चुके हैं; अच्छा स्थान है; आपको किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। सभी तरह की सुविधाएँ यहाँ उपलब्ध हैं।

आचार्यश्री ने भी उसके विरुद्ध अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा—जहाँ सभी प्रकार की सुविधा होती है; वहाँ तो सभी ठहरते ही हैं। जहाँ सुविधाएँ न हों; वहाँ भी तो ठहरने वाला कोई चाहिये।

त्यागीजी के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। आचार्यश्री ने अपने पूर्व-निर्धारित कार्यक्रम की अनिवार्यता बतलाते हुए उनके आग्रह को प्रेमपूर्वक शान्त किया।

नींद उड़ाने की कला

प्रातःकालीन प्रवचन में कुछ साधु झपकियाँ ले रहे थे। आचार्यश्री ने उनकी ओर देखा और अपने चालू प्रकरण में कष्ट-सहिष्णुता का विवेचन करते हुए कहने लगे—साधना करने वाले को कष्ट-सहिष्णु बनना अत्यन्त आवश्यक है। यह उनकी साधना का ही एक अंग है। मुनि-जन कितना कष्ट सहते हैं; यह देखने या सुनने से उतना नहीं जाना जा सकता; जितना कि स्वयं अनुभव करने से। गर्मी का समय है। रात को खुले आकाश में सो नहीं सकते। प्यास लगने पर भी पानी नहीं पी सकते। ऐसी स्थिति में नींद कम आये; यह सहज है। आप समझ रहे होंगे; झपकियाँ लेने वाले साधु प्रवचन सुनने के रसिक नहीं है। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है; प्रवचन सुनने के लिये आने पर भी रात की नींद प्रातःकाल के ठण्डे समय में सताने लगती है। इन झपकियों का मुख्य कारण यही तो है।

आचार्यश्री के इस विवेचन ने ऐसा चमत्कार का काम किया कि सब की नींद उड़ गई। कुछ व्यक्तियों ने सोचा कि यह प्रवचन के प्रसंग में ही फरमाया गया है। कुछ ने सोचा कि यह नींद उड़ाने की गई कला है। नींद लेने वालों ने अपनी स्थिति को सम्भालते हुए सोचा कि अब नींद नहीं लेनी है।

इतनी तो सुविधा है

गर्मी के दिन थे; फिर भी फतहगढ़ से साढे तीन बजे विहार हुआ। सूर्य जल रहा था। धूप बहुत तेज थी। सड़क के उत्ताप से पैर झुलसे जा रहे थे। कुछ दूर तो वृक्षों की छाया आती रही; किन्तु बाद में

यह भी नहीं रही। एक साधु ने कहा—धूप इतनी तेज है और इस वर्ष दिखायी नहीं पड़ रहे हैं। बड़ी मुसीबत है।

आचार्यश्री ने उस निराशावादी स्थिति को उलटते हुये कहा—आज इतनी तो सुविधा है कि सूर्य पीठ की ओर है। यदि यह सम्मुख होता तो कार्य और भी कठिन होता।

विचार-प्रेरणा

आचार्यश्री की कार्य-प्रेरणा जितनी तीव्र है; उतनी ही विचार-प्रेरणा भी। वे ऐसी स्थिति पैदा कर देते हैं कि जिससे व्यक्ति को उनके विचारों को जानने की उत्सुकता हो। यद्यपि वे बहुत सरल और सुबोध भाषा में बोलते हैं; फिर भी उस सुबोधता में एक ऐसा तत्त्व रहता है; जो प्रयासगम्य होता है। उनकी सहज बात दूसरों के लिए मार्ग-दर्शक बन जाती है।

आशा से भर दिया

एक बार दिल्ली-अणुव्रत-समिति के अध्यक्ष श्रीगोपीनाथ 'अमन' अणुव्रत-अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए गये। वे तब किसी कारण-वश काफी निराश थे। किन्तु जब लौटकर दिल्ली आये; तब आशा से भरे हुए थे।

मैंने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने बतलाया—अभी दिल्ली नगर निगम के चुनावों में मेरे अपने ही मुहल्ले में वोट खरीदे गये। यह कार्य मेरी पार्टी वालों ने ही मुझसे छिपाकर किया था। इस प्रकार की प्रच्छन्न अनैतिकताओं से मुझे बड़ी ग्लानि है; अतः निराश होना स्वाभाविक ही था। इसी निराशा की स्थिति में मैं अधिवेशन में भाग लेने गया था। मैंने जब इस घटना को आचार्यश्री के सम्मुख रखा और कहा कि जब देश में इस प्रकार की अनैतिकता व्याप्त है; तब कुछ व्यक्तियों के अणुव्रती होने का कोई अधिक प्रभाव नहीं हो सकता।

मुझे अपनी प्रभावहीनता पर बड़ा दुःख है कि मेरी पार्टी वालों पर भी मेरा कोई प्रभाव नहीं है। अधिक व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली भ्रष्टाचारिता के साथ जो सम्मिलित होना नहीं चाहता, उसे समाज के अन्य व्यक्तियों से अलग-थलग रहना पड़ता है। उसका जीवन जाति-बहिष्कृत-जैसा बन जाता है। मेरे साथी जब यह जान गए कि मैं उनकी इन बातों में सहयोग नहीं दूँगा, तो वे उन बातों के विषय में मुझसे विमर्श किये बिना ही अपना निर्णय कर लेते हैं।

आचार्यश्री ने मुझसे कहा—"क्या यह कम महत्वपूर्ण बात है कि अनेक व्यक्ति किसी एक व्यक्ति की सचाई का भी सामना नहीं कर सकते। उन्हें छिपकर काम करना पड़ता है।" बस, आचार्यश्री की इसी एक बात ने मुझे आशा से भर दिया।

मेरा मद उतर गया

सुरेन्द्रनाथ जैन आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। आचार्यश्री ने उनसे पूछा—धर्म-शास्त्रों का नैरन्तरिक अभ्यास चालू रहता होगा?

उन्होंने कहा—मैंने दस वर्ष तक दिगम्बर धर्म-शास्त्र का अभ्यास किया है।

आचार्यश्री—तब तो मोक्षशास्त्र, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, परीक्षा मुख आदि ग्रन्थ पढ़े ही होंगे?

सुरेन्द्रनाथजी—हाँ,मैंने इन सबका अच्छी तरह से पारायण किया है।

आचार्यश्री—आत्म-तत्त्व का विश्वास हुआ कि नहीं?

सुरेन्द्रनाथजी—जितना निर्विकल्प होना चाहिए; उतना नहीं हुआ।

आचार्यश्री—हो भी कैसे सकता है? पुस्तकें आत्मतत्त्व का विश्वास थोड़े ही कराती हैं? वे तो केवल उसका ज्ञान देती हैं?

सुरेन्द्रनाथजी—तो विश्वास कैसे होता है?

आचार्यश्री—साधना से। भले ही कोई ग्रन्थ न पढ़े; पर आत्म-साधना करने वाले को आत्म-दर्शन अवश्य होगा। केवलज्ञान की प्राप्ति

पुस्तकों से नहीं; किन्तु साधना से ही होती है। केवलज्ञान के लिए कहीं कालेज में भर्ती नहीं होना पड़ता, उसके लिए तो एकान्त में बैठकर अपनी आत्मा को पढ़ना होता है। उसी से अनन्य आत्म-बोधि की प्राप्ति हो जाती है।

आचार्यश्री की उपर्युक्त बातों का श्री सुरेन्द्रनाथजी पर जो प्रभाव पड़ा, उसको उन्होंने इस प्रकार भाषा दी है—"इतनी बड़ी बात और उसको इतने सरल ढंग से। मेरा ज्ञानी होने का मद क्षण-भर में उतर गया। तभी मुझे लगा कि हजार शास्त्रपाठी पंडितों से एक साधक सहस्रों गुना अधिक ज्ञानवान् है।"[1]

पाने की आशा से जाता हूँ

कलकत्ता विश्वविद्यालय के दर्शन-विभागाध्यक्ष डा० सातकरी मुकर्जी जयपुर में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने बाद में आचार्यश्री के विषय में लिखा—विद्वानों तथा विद्वत्ता का पेशा अपनाए हुए व्यक्तियों की; जो मेधावी विद्या-बुद्धि का अत्यधिक गर्व किया करते हैं; कमजोरियों से मैं अपने आपको मुक्त नहीं मानता। पर मैंने उनकी उपस्थिति में पाया कि यह कमजोरी दब गई तथा मैंने अपने को उनके सम्मुख एक शिशु के रूप में अनुभव किया। मेरे मन पर यह प्रभाव पड़ा कि वे भ्रान्त मानवता के मुक्ति-दाता हैं।

प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी ने उनके उपर्युक्त विचारों की आलोचना की। जब डा० मुकर्जी तक वह बात पहुँची तो उन्होंने अपने एक अन्य पत्र में लिखा—किसी व्यक्ति को ज्ञान का गर्व हो सकता है। वह कह भी सकता है, आचार्यजी क्या जानते हैं। पर मैं तो जब-जब आचार्यश्री के सान्निध्य में जाता हूँ, तब मुझे बहुत शान्ति का अनुभव होता है और मैं वहाँ बहुत पाने की आशा से जाता हूँ।

1. जैन भारती, १६ दिसम्बर, '५४

हिन्दू या मुसलमान ?

बिहार प्रदेश मे किसी ने आचार्यश्री से पूछा—आप हिन्दू हैं या मुसलमान ?

आचार्यश्री ने कहा—मेरे चोटी नही है, अतः मैं हिन्दू नहीं हूँ। मैं इस्लाम परम्परा मे नही जन्मा; अतः मुसलमान भी नहीं हूँ। मैं तो केवल मानव हूँ।

भोजन का अधिकार

'गोडता' गाँव में आचार्यश्री के पास मृत्यु-भोज के त्याग का प्रकरण चल पड़ा। अनेक व्यक्तियों ने मृत्यु-भोज करने तथा उसमें सम्मिलित होने का परित्याग किया। आचार्यश्री ने वहाँ के सरपंच से भी त्याग करने के लिए कहा।

सरपंच ने कहा—मैंने अभी कुछ दिन पहले मृत्यु-भोज किया है। चार हजार रुपये लगाकर मैंने सब लोगो को भोजन कराया है, तो अब उनके यहाँ का मृत्यु-भोज कैसे छोड़ दूँ ? कम-से कम एक-एक बार तो सब के घर भोजन करने का मुझे अधिकार है। हाँ, यह हो सकता है कि मैं अब मृत्यु-भोज नही करूँगा।

आचार्यश्री ने अपने तर्क को नया मोड़ देते हुए कहा—परन्तु जब तुम मृत्यु-भोज नही करोगे तो तुम्हें फिर क्यो कोई अपने यहाँ बुलायेगा ? सब सोचेंगे। यह हमे नहीं बुलायेगा, तब फिर हम ही इसे क्यो बुलायें ? और फिर यह भी सोचो कि अब सब लोग इसका परित्याग करते है, तब एक-एक बार सबके भोजन करने का तुम्हारा अधिकार किस काम का रह जायेगा ?

सरपंच के पास इसका कोई उत्तर नही था। आचार्यश्री के तर्कों ने उसे अपने मन्तव्यो पर पुनः विचार करने को प्रेरित किया। एक क्षण उसने सोचा और फिर गाँव वालों के साथ खड़ा होकर प्रतिज्ञा में सम्मिलित हो गया।

वह और उसके साथी असमंजस में पड़ गये। आखिर आचार्य ने अपने रहस्य को कुछ स्पष्ट करते हुए पूछा—शराब पीते हो?

वह व्यक्ति—वह तो पीता हूँ।

आचार्यश्री—कितनी पीते हो?

वह व्यक्ति—यह मत पूछिये। हम लोगों की सारी कमाई इसी बह जाती है।

आचार्यश्री—खून पसीना एक करके कमाते हो, उसे यों दुर्व्य मे फूंक देना कहां की समझदारी है? यदि मैं तुम्हारे से शराब छो देने की भेंट मांग लूं तो दोगे या नहीं?

वह व्यक्ति और उसके साथी कुछ देर तक विचारमग्न हो गये परस्पर फुस-फुसाहट में कुछ विचार-विनिमय हुआ। आखिर वह निर्णय पर पहुंचा और बोला—लो बाबा! अब तुमने भेंट मांग ली है तो लो, यही देता हूँ। आज से मैं कभी शराब नहीं पीऊंगा।

उसके अनेक साथियों से भी आचार्यश्री ने वही भेंट स्वीकार की

किसान का बेटा हूँ

एक किसान आचार्यश्री के पास आया और दर्शन करके पास ही बैठ गया। आचार्यश्री ने उससे पूछा—कहां से आये हो?

उसने उत्तर देते हुए कहा—पास के ही गांव का हूँ। मेरा लड़ और स्त्री पहले आ गये थे। उन्होंने ही मुझे कहा कि मैं भी एक दर्शन कर आऊं। इसीलिये खेत से सीधा यहां, आपके दर्शन कर चला आया।

आचार्यश्री—केवल दर्शन से क्या होगा? कुछ संकल्प भी करना होगा। तमाखू पीते हो?

किसान—वह तो बचपन से ही पीता हूँ।

आचार्यश्री—अपने हाथ दिखाओ तो।

किसान ने अपने दोनों हाथ आचार्यश्री के सम्मुख किये तो उन्होंने

कहा—देखते हो, यह तमाखू के दाग तुम्हारे हाथों पर कितनी गहराई से बैठे हुये हैं। ये तुम्हारे फेफड़ों पर भी तो इसी प्रकारसे बैठ गये होंगे ? दुर्व्यसन होने के कारण इसका दाग तुम्हारे जीवन पर भी तो बैठता है। ऐसी वस्तु को तुम छोड़ क्यों नहीं देते ?

किसान कुछ क्षणों के लिये विचार-मग्न हो गया। उसने कुछ निर्णय किया और बोला—आप कहते हैं तो छोड़ देता हूँ।

आचार्यश्री—मैं तो कहता ही हूँ, परन्तु इतने मात्र से कुछ नहीं होता। मूल बात तो किये हुये सकल्प को दृढ़ता से निभाने की है।

किसान—मैं किसान का बेटा हू महाराज ! प्राण भले ही चले जाएँ, परन्तु प्रण नहीं जाने पायेगा।

उसके विचारों को प्रेरित कर इतनी दृढ़ता की भूमिका पर लाने के पश्चात् आचार्यश्री ने उसको सकल्प करा दिया।

भेंट क्या चढ़ाओगे ?

आचार्यश्री एक छोटे-से गाँव मे ठहरे। ग्रामीण उनको चारो ओर से घेर कर खड़े हो गये। आचार्यश्री ने विनोद मे उनसे कहा—खड़े तो हो; पर भेंट क्या चढ़ाओगे ?

बेचारे किसान सकुचाये और कहने लगे—महाराज ! भेंट के लिए तो हम कुछ नहीं लाये।

आचार्यश्री—तो क्या तुम लोग नहीं जानते कि दर्शन करने के बाद कुछ चढ़ाना भी आवश्यक है ?

किसान और भी अधिक सकुचा गये। उनमें से किसी एक ने कुछ साहस करते हुये कहा—हम तो सब गरीब हैं, आपके योग्य भेंट ला भी क्या सकते है ?

आचार्यश्री ने उन्हे और भी विस्मय मे डालते हुए कहा—तुम सबके पास चढ़ाने के उपयुक्त सामग्री है तो सही; परन्तु उसे चढ़ाने का साहस करना होगा।

वे लोग विस्मित होकर एक दूसरे की ओर ताकने लगे। आचार्यश्री ने उनकी दुविधा को ताड़ते हुये कहा—डरो मत; मैं तुम्हारे से रुपया पैसा मांगने वाला नहीं हूँ। मुझे तो तुम्हारी बुराइयों की भेंट चाहिये। तमाखू, मद्यपान, चोरी आदि की जिसमें जो बुराई हो; वह मुझे भेंट चढ़ा दो।

यह सुनकर सबमें प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। उन लोगों ने सचमुच ही आचार्यश्री के चरणों में काफी भारी भेंट चढ़ाई।

गंगाजल से भी पवित्र

अकराबाद में एक ब्राह्मण गंगाजल लेकर आया और आचार्यश्री से उसे स्वीकार करने का आग्रह करने लगा। आचार्यश्री ने उसे समझाया कि कच्चा जल हमारे उपयोग में नहीं आता।

ब्राह्मण बोला—यह तो गंगाजल है। यह कभी कच्चा होता ही नहीं। मैं इसे अभी-अभी लेकर आया हूँ।

अन्ततः आचार्यश्री ने उसके बढ़ते हुए आग्रह को देखा तो अपनी बात का रुख बदलते हुये कहने लगे—पंडितजी! श्रद्धा पानी से बड़ी होती है; मैं आपकी श्रद्धा को सादर ग्रहण करता हूँ। यह इस गंगाजल से भी पवित्र वस्तु है।

सबसे समान सम्बन्ध

उत्तरप्रदेशीय विधान-सभा के सदस्य श्री ललिताप्रसाद सोनकर की प्रार्थना पर आचार्यश्री ने दलितवर्ग-संघ के वार्षिक अधिवेशन में जाना स्वीकार कर लिया। उनके कुछ विरोधियों ने आचार्यश्री से कहा—सब दलित-वर्गीय लोगों का इसमें सहयोग नहीं है; अतः आप का वहाँ जाना उचित नहीं लगता।

आचार्यश्री ने कहा—सबका सहयोग होना अच्छा है; फिर भी वह न हो; तब तक के लिये मैं अपनी बात न कहूँ; यह उचित नहीं।

सत्यान्वेषण या सत्यप्रापण में यदि सबके सहयोग की शर्त रहे; तो शायद सत्य के पनपने का कभी अवसर ही न आये। जो इस संगठन में हैं; वे मेरे विचार आज सुन लें और जो इस संगठन में नहीं हैं; वे आज यहाँ भी सुन सकते हैं तथा अन्यत्र कहीं भी। मेरा इस या उस किसी भी संगठन से कोई सम्बन्ध नहीं है और जो सम्बन्ध है, वह सभी संगठनों से एक समान है।

चरण-स्पर्श कर सकते हैं ?

रेल से उतर कर आये हुये कुछ व्यक्तियों ने आचार्यश्री का चरण-स्पर्श करना चाहा। परन्तु उन्हें रेल के धुएँ से मलिन हुए अपने वस्त्रों के कारण कुछ संकोच हुआ। सम्भवतः यह विचार भी मन में उठा हो कि एक पवित्र आत्मा के सम्पर्क में आते समय तन और वसन की पवित्रता अनिवार्यतया होनी चाहिये। दूसरे ही क्षण मन में एक दूसरा तर्क प्रस्तुत किया कि उनसे सम्पर्क करने में तन और वसन से कहीं अधिक श्रद्धा माध्यम बनती है। वह तो सदा पवित्र ही है। आखिर उन्होंने पूछ लेना ही उचित समझा। वे आचार्यश्री के पास आये और बोले—क्या हम इस अस्नात स्थिति में आपका चरण स्पर्श कर सकते हैं ?

आचार्यश्री ने कहा—क्यों नहीं ? वस्त्रों की मलिनता उपेक्षणीय न होते हुये भी गौण वस्तु है। मन की मलिनता नहीं होनी चाहिये।

विनोद

कभी-कभी अवसर आने पर आचार्यश्री विनोद की भाषा में बोलते सुने जा सकते हैं। उनका विनोद केवल परिहास के रूप में नहीं होता; अपितु अपने में एक गहरा अर्थ लिये हुये होता है। उनके विनोदों का मर्मस्पर्शी बाण की तरह वस्तुस्थिति के हार्द को विद्ध करने वाला होता है।

एक घड़ी

लाडनूं में युवक-सम्मेलन की समाप्ति पर एक स्वयंसेवक ने सूचना

देते हुए कहा—एक घड़ी मिली है; जिस सज्जन की हो; वह चिन्ह बताकर कार्यालय से इसे ले ले।

वह बैठ भी नहीं पाया था कि आचार्यश्री ने कहा—मैंने भी आप लोगों में एक घड़ी (समय-विशेष) खोई है। देखें; कौन-कौन उसे वापस ला देते हैं।

हँसी का वह कहकहा लगा कि पण्डाल में काफी देर तक एक मधुर संगीत की-सी भन्कार छायी रही।

पर्दा-समर्थकों को लाभ

भरतपुर से विहार कर आचार्यश्री पुलिस-चौकी पर पधारे। यात्री निकट की एक वाटिका में ठहरे। वहां एक वृक्ष पर मधुमक्खियों का छत्ता था। भोजन पकाने के लिए जलायी गई आग का धूंआ संयोगवशात् वहाँ तक पहुंच गया। उससे क्रुद्ध हुई मधुमक्खियों ने बहुत से भाई-बहिनों को काट लिया। उस काण्ड में पर्दे वाली बहिनें साफ बच गईं।

आचार्यश्री को जब इस बात का पता चला तो हँसते हुए कहने लगे—चलो! पर्दा-समर्थक व्यक्ति इसकी एक उपयोगिता अब निर्विवाद बता सकेंगे।

यह भी कट जायेगी

आचार्यश्री कानपुर पधार रहे थे। विहार में मील पर मील कटते जा रहे थे। मील का एक पत्थर आया, वहां से कानपुर चौरासी मील शेष था। एक भाई ने कहा—अभी तक तो कानपुर चौरासी मील दूर है।

आचार्यश्री ने उस बात में अपने विनोद का रस भरते हुए कहा—"यह चौरासी भी कट जायेगी।" इस छोटे-से वाक्य के साथ ही सारा वातावरण मधुमय हास से व्याप्त हो गया।

कुआं : प्यासे के घर

आचार्यश्री ने विभिन्न बस्तियों में जाकर व्याख्यान देना प्रारम्भ

किया; तब आलोचक-प्रकृति के लोग कहने लगे—प्यासा कुँए के पास जाता है; पर कुंआ प्यासे के पास क्यों जाये?

आचार्यश्री ने इस बात का रस लेते हुए कहा—अरे भाई! क्या किया जाये? युग की रीति ही विपरीत हो गई है। अब तो नलों के द्वारा कुंआ भी तो प्यासे के घर जाने लगा।

भाग्य की कसौटी

एक बहिन आचार्यश्री को अपना परिचय दे रही थी। अन्यान्य बातों के साथ उसने यह बतलाया कि उसकी एक बहिन विदेश गयी हुई है।

आचार्यश्री ने कहा—तुम विदेश नहीं गयी?

उसने उदासीन स्वर में उत्तर दिया—मेरा ऐसा भाग्य कहां है?

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—बस; यही है तुम्हारे भाग्य की कसौटी?

बचाव

जोधपुर-चातुर्मास में विरोधियों ने स्थान-स्थान पर विरोधी पर्चे चिपकाये। जिस मार्ग से आचार्यश्री का बहुधा आवागमन हुआ करता था। उस पर तो उन लोगों ने और भी अधिक चिपकाये थे।

आचार्यश्री ने जब यह देखा तो कहने लगे—तारकोल की सड़क पर पैर काले हो जाया करते हैं; परन्तु आज कुछ बचाव हो जायेगा।

जेय नहीं है

आदिवासी लोगों में प्रवचन करने के पश्चात् आचार्यश्री अपने किसी दूसरे कार्य में व्यस्त थे। कुछ लोग उनके सामने बैठे हुए थे। एक भील बालक आया और आचार्यश्री से कहने लगा—मुझे मद्यमांस का परित्याग करवा दीजिये। आचार्यश्री ने परित्याग करवा दिया और फिर कार्य में लग गये। वह भी चरणस्पर्श करके एक ओर बैठ गया। थोड़ी देर

देते हुए कहा — एक घड़ी मिली है, जिस सज्जन की हो; वह वि
बताकर कार्यालय से इसे ले ले।

यह वेंड भी नहीं पाया था कि आचार्यश्री ने कहा—मैंने भी ए
लोगों में एक घड़ी (समय-विभाग) खोई है। देखें; कौन-कौन उसे का
ला देते हैं।

हँसी का यह कहकहा लगा कि पण्डाल में काफी देर तक एक म
सजीव सी-सी भनकार छायी रही।

पर्दा-समर्थकों को लाभ

भरतपुर से विहार कर आचार्यश्री पुलिस-चौकी पर पधारे। गां
निकट की एक वाटिका में ठहरे। वहां एक वृक्ष पर मधुमक्खियों का
छत्ता था। भोजन पकाने के लिए जलायी गई आग का धुंआ सर्वसम्मत
वहां तक पहुँच गया। उससे क्रुद्ध हुई मधुमक्खियों ने बहुत से भा
बहिनों को काट लिया। उस कारण से पर्दे वाली बहिनें साफ बच गईं।

आचार्यश्री को जब इस बात का पता चला तो हँसते हुए कहने
लगे—चलो! पर्दा-समर्थक व्यक्ति उसकी एक उपयोगिता का निर्वि-
वाद बता सकेंगे।

यह भी कट जायेगी

आचार्यश्री कानपुर पधार रहे थे। विहार में मील पर मील कटते
जा रहे थे। मील का एक पत्थर आया, वहां से कानपुर चौरासी मील
थे। भाई ने कहा—अभी तक तो कानपुर चौरासी मील दूर है।
ने उस बात में अपने विनोद का रस भरते हुए कहा—
है।" इस छोटे-से वाक्य के साथ ही आस
हो गया।

में जाकर व्याख्यान देना प्रारम्भ

किया; तब आलोचक-प्रकृति के लोग कहने लगे—प्यासा कुंए के पास जाता है; पर कुंआ प्यासे के पास क्यों जावे ?

आचार्यश्री ने इस बात का रस लेते हुए कहा—अरे भाई ! क्या किया जाये? युग की रीति ही विपरीत हो गई है। अब तो नलों के द्वारा कुंआ भी तो प्यासे के घर जाने लगा।

भाग्य की कसौटी

एक बहिन आचार्यश्री को अपना परिचय दे रही थी। अन्यान्य बातों के साथ उसने यह बतलाया कि उसकी एक बहिन विदेश गयी हुई है।

आचार्यश्री ने कहा—तुम विदेश नहीं गयी ?

उसने उदासीन स्वर से उत्तर दिया—मेरा ऐसा भाग्य कहां है ?

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—बस; यही है तुम्हारे भाग्य की कसौटी ?

बचाव

जोधपुर-चातुर्मास में विरोधियों ने स्थान-स्थान पर विरोधी पर्चे बिखराये। जिस मार्ग से आचार्यश्री का बहुधा आवागमन हुआ करता था। उस पर तो उन लोगों ने और भी अधिक बिखराये थे।

आचार्यश्री ने जब यह देखा तो कहने लगे—डामरोल की सड़क पर पैर काले हो जाया करते हैं; परन्तु आज कुछ बचाव हो जायेगा।

जेब नहीं है

आदिवासी लोगों में प्रवचन करने के पश्चात् आचार्यश्री अपने किसी दूसरे कार्य में व्यस्त थे। कुछ लोग उनके सामने बैठे हुए थे। एक भील बालक आया और आचार्यश्री से कहने लगा—मुझे मद्यपान का परित्याग करवा दीजिये। आचार्यश्री ने परित्याग करवा दिया और फिर कार्य में लग गये। वह भी नमस्कार करके एक ओर बैठ गया। थोड़ी देर

देते हुए कहा—एक घड़ी मिली है; जिस सज्जन की हो, वह चिह्न बताकर कार्यालय में इसे ले ले।

यह बैठ भी नहीं पाया था कि आचार्यश्री ने कहा—मैंने भी इन लोगों में एक घड़ी (समय-विशेष) खोई है। देखें, कौन-कौन उसे बता देते हैं।

हँसी का वह कहकहा लगा कि पण्डाल में काफी देर तक एक मधुर संगीत की-सी झंकार छायी रही।

पर्दा-समर्थकों को लाभ

भरतपुर से विहार कर आचार्यश्री पुलिस-चौकी पर पधारे। व निकट की एक वाटिका में ठहरे। वहाँ एक वृक्ष पर मधुमक्खियों का छत्ता था। भोजन पकाने के लिए जलायी गई आग का धुँआ संयोगवश वहाँ तक पहुँच गया। उससे क्रुद्ध हुई मधुमक्खियों ने बहुत से भ बहिनों को काट लिया। उस काण्ड में पर्दे वाली बहिनें साफ बच ग

आचार्यश्री को जब इस बात का पता चला तो हँसते हुए क लगे—चलो ! पर्दा-समर्थक व्यक्ति इसकी एक उपयोगिता अब सि बाद बता सकेंगे।

यह भी कट जायेगी

आचार्यश्री कानपुर पधार रहे थे। विहार में मील पर मील क जा रहे थे। मील का एक पत्थर आया, वहाँ से कानपुर चौरासी मी शेष था। एक भाई ने कहा—अभी तक तो कानपुर चौरासी मील दूर है।

आचार्यश्री ने उस बात में अपने विनोद का रस भरते हुए कहा—"यह चौरासी भी कट जायेगी।" इस छोटे-से वाक्य के साथ ही सा वातावरण मधुमय हास से व्याप्त हो गया।

कुआँ : प्यासे के घर

आचार्यश्री ने विभिन्न बस्तियों में जाकर व्याख्यान देना प्रारम्भ

किया, तब आलोचक-प्रकृति के लोग कहने लगे—प्यासा कुंए के पास जाता है; पर कुंआ प्यासे के पास क्यों जाये ?

आचार्यश्री ने इस बात का रस लेते हुए कहा—अरे भाई ! क्या किया जाये? युग की रीति ही विपरीत हो गई है। अब तो नलों के द्वारा कुंआ भी तो प्यासे के घर जाने लगा।

भाग्य की कसौटी

एक बहिन आचार्यश्री को अपना परिचय दे रही थी। अन्यान्य बातों के साथ उसने यह बतलाया कि उसकी एक बहिन विदेश गयी हुई है।

आचार्यश्री ने कहा—तुम विदेश नहीं गयी ?

उसने उदासीन स्वर से उत्तर दिया—मेरा ऐसा भाग्य कहां है ?

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—बस, यही है तुम्हारे भाग्य की कसौटी ?

बचाव

जोधपुर-चातुर्मास में विरोधियों ने स्थान-स्थान पर विरोधी पर्चे चिपकाये। जिस मार्ग से आचार्यश्री का बहुधा आवागमन हुआ करता था। उस पर तो उन लोगों ने और भी अधिक चिपकाये थे।

आचार्यश्री ने जब यह देखा तो कहने लगे—तारकोल की सड़क पर पैर काले हो जाया करते हैं; परंतु आज कुछ बचाव हो जायेगा।

भेद नहीं है

आदिवासी लोगों में प्रवचन करने के पश्चात् आचार्यश्री अपने किसी दूसरे कार्य में व्यस्त थे। कुछ लोग उनके सामने बैठे हुए थे। एक भील बालक आया और आचार्यश्री से कहने लगा—मुझे मद्यमांस का परित्याग करवा दीजिये। आचार्यश्री ने परित्याग करवा दिया और फिर कार्य में लग गये। वह भी चरणस्पर्श करके एक ओर बैठ गया। थोड़ी देर

देते हुए कहा — एक घड़ी मिली है; जिस सज्जन की हो; वह चिह्न बताकर कार्यालय से इसे ले ले।

वह बैठ भी नहीं पाया था कि आचार्यश्री ने कहा—दिन में हम लोगों से एक घड़ी (समय-विशेष) खोई है। देखें; कौन-कौन उसे वापस ला देते हैं।

हँसी का वह कहकहा लगा कि पण्डाल में काफी देर तक एक मधुर संगीत की-सी मधुर ध्वनि रही।

पर्दा-समर्थकों को लाभ

भरतपुर से विहार कर आचार्यश्री पुलिस-चौकी पर पधारे। वहाँ निकट की एक वाटिका में ठहरे। वहाँ एक वृक्ष पर मधुमक्खियों का छत्ता था। भोजन पकाने के लिए जलायी गई आग का धुँआ संयोगवश वहाँ तक पहुँच गया। उससे क्रुद्ध हुई मधुमक्खियों ने बहुत से भाई-बहिनों को काट लिया। उस काण्ड में पर्दे वाली बहिनें साफ बच गईं।

आचार्यश्री को जब इस बात का पता चला तो हँसते हुए कहने लगे—चलो! पर्दा-समर्थक व्यक्ति इसकी एक उपयोगिता अब निर्विवाद बता सकेंगे।

वक्तृत्व

आचार्यश्री की अन्य अनेक प्रबल शक्तियों में से एक है उनकी वक्तृत्व-शक्ति। किस व्यक्ति को कौन-सी बात किस प्रकार से कही जानी चाहिए, यह वे बहुत अच्छी तरह से जानते हैं। विद्वानों की सभा में जहाँ वे अपनी प्रखर विद्वत्ता की छाप छोड़ते हैं; वहाँ ग्रामीणों पर उनके उपयुक्त सहज और सुबोध बातों की। उनके उपदेशों से सहस्रों जन मद्य, मांस भांग, तम्बाकू तथा धूम्रपान आदि अनैतिकताओं से विमुक्त हुए। अनेक बार ग्रामों में ऐसे दृश्य भी उपस्थित होते रहते हैं, जबकि वर्षों तक मद्य तथा तम्बाकू पीने वाले व्यक्ति आचार्यश्री के सामने अपनी चिलमें फोड़ देते हैं तथा अपने पास की बीड़ियों का चूरा करके फेंक देते हैं।

वाणी का प्रभाव

डा० राजेन्द्रप्रसाद जब २१ अक्तूबर ४६ में आचार्यश्री मिले थे; तब उनकी वाणी से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने अपने एक पत्र में उसका उल्लेख करते हुए लिखा है :

"उस दिन आपके दर्शन पाकर बहुत अनुगृहीत हुआ। इस देश में ऐसी परम्परा चली आई है कि धर्मोपदेशक धर्म का ज्ञान और आचरण जनता को बहुत करके मौखिक ही दिया करते है। जो विद्याध्ययन कर सकते हैं; वे तो ग्रन्थों का सहारा ले सकते हैं; पर कोटि-कोटि साधारण जनता उस मौखिक प्रचार से लाभ उठाकर धर्म-कर्म सीखती है। इस-लिए जिस सहज-सुलभ रीति से आप गूढ़ तत्त्वों का प्रचार करते हैं; उन्हें सुनकर मैं बहुत प्रभावित हुआ और आशा करता हूँ कि इस तरह का शुभ अवसर मुझे फिर मिलेगा।"[1]

उनकी आत्मा बोल रही है

आचार्यश्री साधारण जीवनोपयोगी बातों पर प्रभावशाली ढंग

1. विशेष विवरण

से बोलते हों; सो बात नहीं। वे जिस विषयपर भी बोलते हैं; उसी में इतनी सजीवता ला देते हैं कि उन विषयों से विशेष सम्बद्ध न होने वाले व्यक्ति भी प्रभावित होते देखे जाते हैं।

वि०सं० २००८दिल्ली में भिक्षु-चरमोत्सव के अवसर पर अजमेर के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री हरिभाऊ उपाध्याय उसमे सम्मिलित हुए। आचार्यश्री ने स्वामी भीखणजी के विषय मे जो भाषण दिया उससे वे इतने प्रभावित हुए कि अपने स्थान पर जाकर उन्होंने एक पत्र भेजा। आचार्यश्री की वक्तृत्व-शक्ति पर प्रकाश डालने वाला वह पत्र इस प्रकार है :

"महामान्य श्री आचार्यजी,

सादर प्रणाम। इधर तीन दिनों से आपके दर्शन और संलाप का जो अवसर मिला; वह मुझे सदैव याद रहेगा। मुझे बड़ा खेद है कि आज कुछ मित्रों के अनुरोध करने पर भी मैं वहां कुछ बोल न सका। इधर मेरी प्रवृत्ति बोलने की कम होती जा रही है, लिखने की भी। ऐसा लगने लगा है कि मनुष्य को अपने जीवन से ही लोगों को अधिक देना चाहिए; जिससे हमें अपने जीवन को मांजते रहने का अवसर मिले।

पूज्य स्वामी भिक्षुजी का चरित्र और आपका आज का तद्विषयक व्याख्यान मुझे बहुत प्रभावकारी मालूम हुआ। ऐसा लगा, मानो उनकी आत्मा आप में बोल रही है। आप अपने क्षेत्र के 'युग-पुरुष' हैं। जैन धर्म को मैं मानवधर्म मानता हूं। उसके आप प्रतीक बनेंगे; ऐसा विश्वास है। मैं दिल्ली फिर आऊँगा तब अवश्य मिलूंगा। आप अपने इस जीवन-कार्य में मुझे अपना सहयोगी समझ सकते हैं। इति

विनीत
हरिभाऊ उपाध्याय"

विविध

आचार्यश्री का जीवन विविधता के ताने-बाने से बना है। उसकी

१. विशेष विवरण

महत्ता घटनाओं में बिखरी पड़ी है। घटनाएँ भी इतनी कि समेटे नहीं सिमटती। आदि से ही विविधता उनके जीवन का प्रमुख-सूत्र बनकर रही है, इसीलिए उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के संकलन में भी उसकी अभिव्यक्ति हुई है।

मैं अवस्था में छोटा हूं

मध्याह्न में एक किसान आया और आचार्यश्री के पास बैठ गया। आचार्यश्री ने उससे बातचीत की तो उसने बतलाया—मैं खेत पर काम कर रहा था तब सुना कि गाँव में एक बड़े महात्मा आये है। मैंने सोचा—चलूं, कुछ सेवा-बन्दगी कर आऊं। किसान ने आचार्यश्री के पैरों की ओर हाथ बढ़ाते हुए कहा—लाइये, थोड़ा-सा चरण दबा दूं।

आचार्यश्री ने अपनी पलथी को ओर अधिक समेटते हुए कहा—नहीं भाई! हम किसी से शारीरिक सेवा नहीं लेते।

किसान ने कहा—आप क्यों नहीं दबवाते? मैंने तो अनेक सन्तों के पैर दबाये हैं।

आचार्यश्री ने कहा—यह हमारा नियम है। दूसरी बात यह भी है कि मेरी अवस्था तुम्हारे से छोटी है। मैं तुम्हारे से पैर कैसे दबवा सकता हूँ? मेरे पैर दुखते भी नहीं। युवा हूँ, तब पैर दबवाऊं ही क्यों?

मध्यम मार्ग

बिहार में एक ग्राम के लोगों ने जब यह सुना कि आज प्रातः आचार्यश्री तुलसी पार्श्ववर्ती जी० टी० रोड से होकर गुजरेंगे, तो वे लोग काफी पहले से ही दूध के लोटे भर-भर कर वहाँ से आये। काफी देर बाट देखने पर जब आचार्यश्री वहाँ पहुंचे तो उन्होंने अपनी भेंट आचार्यश्री के सामने रखी। आचार्यश्री सामने लायी गई वस्तु न लेने के नियम से बँधे थे और वे लोग अपनी श्रद्धा की कृतार्थता चाहते थे।

अनेक बार समझाने पर भी जब वे नहीं माने तो साथ में चलने

वाले भाई शोभारामजी ने एक बीच का मार्ग निकाल डाला। उन्होंने उन सब से कहा कि जब महाराजजी का यह नियम है तो तुम उनके सामने वाले बच्चों को ही यह दूध क्यों नहीं पिला देते? इतना दूध फेंकना तो कोई भी नहीं चाहता, सारी जमात को पिलाने के लिये ही तो लाते हो?

यह बात उनके दिमाग में बैठ गई और बड़ा आग्रह कर-करके उन्होंने लोगों को दूध पिलाया। उस मध्यम मार्ग ने आचार्यश्री का कुछ समय बचा दिया, नहीं तो उन्हें समझाने में काफी समय लगाना पड़ता।

फीस और पद

एक भाई ने आचार्यश्री से कहा—ऐसे तो मेरी सन्तों में कोई विशेष श्रद्धा नहीं रहती, किन्तु इस बार कुछ ऐसी भावना आयी कि प्रतिदिन तीनों समय आता रहा हूं। मुझे आपके संघ की दो बातों ने विशेष आकृष्ट किया है। एक तो सदस्यता की कोई फीस नहीं है; दूसरे, पदों का झगड़ा नहीं है।

आचार्यश्री ने उसकी आशा के विपरीत कहा—तुमने सम्भवतः गहराई से ध्यान नहीं दिया। यहां तो फीस भी लगती है और पद भी दिया जाता है।

वह भाई कुछ असमंजस में पड़ा और पूछने लगा—कहां? मेरे देखने में तो कोई ऐसी बात नहीं आई।

आचार्यश्री—अब तक नहीं आई होगी; पर सो अब बताये देता हूं कि हम अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति से संयम की फीस लेना चाहते हैं और अणुव्रती का पद देना चाहते हैं। क्यों है न स्वीकार?

और तब उस भाई को न फीस की शिकायत हुई, न पद की। उसने सहर्ष फीस भी दी और पद भी लिया।

चरणामृत मिले तो

एक व्यक्ति अपने भानजे को लेकर आया। वह अपने साथ गर्म जल

का पात्र तथा चांदी की कटोरी भी लाया था। आचार्यश्री को वन्दन कर वह बोला—महाराज! यह मेरा भानजा है। इसका दिमाग कुछ अस्वस्थ है। कुछ समय पूर्व एक मुनि आये थे। मैंने उनका अंगुष्ठ धोकर इसे चरणामृत पिलाया था। तब से यह कुछ-कुछ स्वस्थ हुआ है; परन्तु रोग पूर्ण रूप से गया नहीं। मैंने सोचा—इस बार यदि आपका चरणामृत पिला दूं तो यह अवश्य ही पूर्ण स्वस्थ हो जायेगा।

आचार्यश्री ने कहा—मैं अपना अंगुष्ठ नहीं धुलवाऊँगा। अंगुष्ठ धोये पानी से रोग में कुछ लाभ होता है, इसका मुझे तनिक भी विश्वास नहीं। मैं इसे एक अन्धविश्वास मानता हूं। आप इसे चरणस्पर्श करा सकते हैं; उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं। उससे अधिक कुछ नहीं।

उस भाई ने अपने भानजे को आचार्यश्री का चरणस्पर्श करवाया और बड़ी प्रसन्नता से अपने घर लौट गया।

छोटे का बड़ा काम

आचार्यश्री की सेवा में आये हुए एक परिवार की मोटर के पीछे बँधी हुई कपड़ों की गठरी मार्ग में गिर गई। उसमें लगभग पाँचसौ रुपये का कपड़ा था। पीछे से एक तांगे वाले ने उसे गिरते देखा तो मोटर के नम्बर ले लिये। गठरी लेकर खोजता हुआ वह वहाँ पहुंचा, जहाँ कि आचार्यश्री की सेवा में आये हुये अनेक परिवार ठहरे हुये थे। उसने वहाँ लोगों को बतलाया कि अमुक नम्बर की मोटर वाले की यह गठरी है। पूछताछ के बाद पता चलते ही गठरी यथा-स्थान पहुँचा दी गई।

कोई भाई उसे आचार्यश्री के पास ले आया। आचार्यश्री ने सारी घटना सुनकर परिचय के रूप में उससे उसका नाम पूछा। उसने अपना नाम 'छोटा' बतलाया। इस पर आचार्यश्री ने सत्यनिष्ठा के प्रति उसका उत्साह बढ़ाते हुए कहा—छोटे ने बड़ा काम किया है। जनता की ओर उन्मुख होते हुए उन्होंने कहा—इस घटना से पता चलता है कि भार-

उपसंहार

आचार्यश्री विश्व की एक विभूति हैं। उनका जीवन व्यक्तिगत से बढ़कर समष्टिगत है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व से समष्टि को प्रभावित किया है। जो केवल अपने में ही समाकर रह जाता है; वह विद्वान् तो हो सकता है; पर महान् नहीं। महत्ता को इयत्ता के किसी भी वलय में घेरा नहीं जा सकता। उन्मुक्त परिव्याप्ति ही उसकी सार्थकता है। यद्यपि महत्ता के मार्ग में इयत्ताएं आती हैं; परन्तु उनका घेरा हर बार टूटता है। कौन कितना महान् है यह परिमाण इयत्ताओं की ही अपेक्षा से होता है। निरपेक्ष महत्ता सदा अतुलनीय ही रही है। संसार के हर महापुरुष की गति उसी निरपेक्ष महत्ता की ओर रही है, इसीलिये हर इयत्ता के साथ उनका सदैव संघर्ष चालू रहा है।

आचार्यश्री ने इयत्ताओं के अनेक वलय तोड़े हैं। वर्तमान इयत्ता से भी उनका संघर्ष चालू है। आज नहीं तो कल; यह वलय अवश्य ही टूटने वाला है। चरमरा तो वह अभी से रहा है। भविष्य के गर्भ में न जाने कितने वलय और हैं तथा उनके साथ होने वाला भावी संघर्ष समय की कितनी अवधि घेरेगा; कहा नहीं जा सकता। आज उसकी आवश्यकता भी नहीं है, वह 'कल' की बात है। 'कल' ही उसे अधिक स्पष्टता से बतलायेगा। यहाँ केवल आचार्यश्री के वर्तमान का दिग्-दर्शन कराया गया है। वर्तमान की जड़ भूतकाल की भूमि में गहराई तक घंसी रहती है। कोरा वर्तमान टिक नहीं पाता; इसीलिये उससे सम्बन्धित भूतकाल की भूमिका पर ही उसे देखा जा सकता है। आचार्यश्री का वर्तमान-कालीन अवस्था की दृष्टि से ४७ और आचार्यत्व की दृष्टि से २१ वर्ष-

प्रमाण भूतकाल की अवगाहित किये गया है।[1] उसी परिप्रेक्ष्य में यहाँ उसका चयन किया गया है।

लगभग ३८ वर्ष के प्रत्यक्ष-सम्पर्क में मैंने आचार्यश्री के जीवन में जो विविधताएं देखी हैं, उन्हें इस जीवन में यथास्थान दिखाने का प्रयास किया है। यदि उन विशेषताओं को किसी एक ही शब्द में अभिव्यक्ति देने के लिये मुझे कहा जाये तो मैं उसे 'जीवन का स्याद्वाद' कहना चाहूँगा। आचार्यश्री के इस स्याद्वादी जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन उनके साथ रहने वाला हर कोई कर सकता है। जैन दर्शन का प्राण स्याद्वाद जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले धर्मों में भी अविरोध पा लेता है; उसी प्रकार आचार्यश्री भी हर परिस्थिति में से समन्वय के सूत्र को पकड़ने के अभ्यासी रहे हैं। उनकी इस प्रवृत्ति ने अनेक व्यक्तियों को अतिशयता से प्रभावित किया है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमारजी के निम्नोक्त उद्गार इसी बात के साक्षी हैं। वे कहते हैं—" "मैंने बहुत नजदीक से अध्ययन करके पाया है कि आचार्यश्री में बहुत से अपूर्व गुण हैं। वे विरोधी से विरोधी वातावरण में भी क्षुब्ध नहीं होते और न विरोध का प्रतिकार विरोध से ही करते हैं। वे अपनी आत्म-श्रद्धा से विरोध-शमन का कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेते हैं।"[2]

आचार्यश्री के जीवन-व्यवहार तथा प्ररूपण में कुछ ऐसी सहज व्यावहारिकता आ गई है कि उससे प्रभावित हुये बिना रह सकना कठिन है। कोई अध्यात्म में विश्वास करे या न करे; परन्तु आचार्यश्री जिस पद्धति से आध्यात्मिकता को जीवन-व्यवहार में उतारने की प्रेरणा देते हैं; उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। सुप्रसिद्ध उपन्यासकार कामरेड यशपाल का अनुभव इस बात को अधिक स्पष्ट करने वाला होगा।

---

१. यह उल्लेख वि० सं० २०१८ का है

२. नवभारत टाइम्स ३१ अक्टूबर १९५४

वे कहते हैं —"मैं साधु-संतों और अध्यात्म से दूर रहता हूँ। इसमे भी एक कारण है; मैंने देखा है वे समाज से दूर हैं। जो हम से दूर हैं, हम भी उनसे दूर हैं। आचार्यश्री जैसे जो संत महात्मा समाज के नजदीक हैं, मैं उनसे उतना ही नजदीक हूँ। हम ससारी हैं, ससार में रहते हैं, ससार से हमें काम है। साधना चमत्कार के लिए नहीं, कार्यों के लिए है। जहां तक मैं समझ पाया हूँ और आचार्यश्री के निकट आ गया हूँ, उसका श्रेय अणुव्रत-आन्दोलन को है। अणुव्रत मेरी दृष्टि में व्यक्ति को परोक्षवादी नहीं; प्रत्यक्षवादी बनाता है। वह स्वार्थमुखी नहीं, व्यक्ति को समाज मुखी बनाता है[1]।"

वे जीवन को जड़ देखना नहीं चाहते। जीवन में परिष्कार और संस्कार को वे नितान्त आवश्यक मानते है। उनकी यही भावना कार्यरूप में परिणत होकर संस्कृति का उन्नयन करने वाली बन गई। भारतीय संस्कृति के अन्यान्य प्रहरियों के समान आचार्यश्री भी उसको पल्लवित पुष्पित व फलित करने में दत्तावधान रहे हैं। उनकी इसी कार्य-पद्धति से प्रभावित होकर सुप्रसिद्ध कवि स्वर्गीय श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अपनी कविता-पुस्तक 'क्वासि' की भूमिका मे आचार्यश्री को सस्कृति का उन्नयनकर्ता या परिष्कर्ता ही नहीं, अपितु अभेदोपचार से स्वय सस्कृति ही कहा है। वे लिखते हैं—"तब संस्कृति क्या है? मेरी मति के अनुसार संस्कृति गाँधी है, सस्कृति विनोबा है, सस्कृति कबीर, तुलसी, सूर, ज्ञान देव, समर्थतुकाराम है, सस्कृति अणुव्रत-प्रचारक जैन-मुनि आचार्य तुलसी है। सस्कृति रमण महर्षि हैं। आप हसेंगे, पर हसने की बात नहीं है। सस्कृति है आत्म-विजय, सस्कृति है राग वशीकरण, सस्कृति है भाव उदात्तीकरण। जो साहित्य मानव को इस ओर ले जाये; वही सत्साहित्य है[2]।"

---

१. जैन भारती वर्ष ६, अं० ३१

२. 'क्वासि' की भूमिका, पृ० २४

इस प्रकार मैंने देखा है कि आचार्यश्री के स्याद्वादी जीवन ने विविध व्यक्तियों तथा विविध विचारधाराओं को अपनी ओर आकृष्ट किया है। वे उनकी पारस्परिक असमानताओं में भी समानता के आधार बने हैं। उन्होंने जन-जन को विश्वास दिया है, अतः वे उनसे विश्वास पाने के भी अधिकारी बने हैं। वस्तुतः जो जितने व्यक्तियों को विश्वास दे सकता है; वह उतने ही व्यक्तियों का विश्वास पा भी लेता है। उन्होंने निश्चित ही वह विश्वास पाया है। यह जीवनी उसी विश्वास का एक संक्षिप्त परिचय है।

प्रथम परिशिष्ट

धवल-समारोह

सम्मान से अधिक मूल्यवान्

कोई भी महापुरुष जनहित का कार्य सम्मान या यश की प्राप्ति के लिए नहीं करता, फिर भी उसमें उन्हें वे अनायास ही प्राप्त होते रहते हैं। यद्यपि उनके कार्यों का महत्त्व उस प्राप्त सम्मान की कसौटी से नहीं परखा जा सकता, उनका मूल्य तो उन सबसे बहुत अधिक होता है, फिर भी कभी-कभी किसी-किसी के लिए सम्मानों की गुरुता अथवा व्यापकता भी व्यक्ति की महत्ता को समझने में सहायक होती पायी गई है।

असाधारण आशा

आचार्यश्री ने जन-हितार्थ अपना जीवन समर्पित किया है। उसमें उन्हें न सम्मानों की अपेक्षा रही है और न अभिनन्दनों की। फिर भी उन्हें जन साधारण से अपरिमेय सम्मान मिला है। वे जहाँ भी गये हैं, प्रायः सर्वत्र उनके कार्यों को अभिनन्दनीय प्रशंसा प्राप्त हुई है। भारत के मनीषियों ने उन्हें बड़ी आशा भरी दृष्टि से देखा है। नव-नालन्दा महाविहार (पालि इन्स्टीट्यूट) के डायरेक्टर डा० नथमल मुकर्जी द्वारा इन्स्टीट्यूट की ओर से आचार्यश्री के अभिनन्दन में पठित पत्र के ये शब्द इस विषय में बड़े ध्यान देने योग्य हैं। वे कहते हैं—"न तो तुलसी जैसे महापुरुषों का भारत-भूमि में अवतरण ही निष्फल हो सकता है और न यहाँ का अन्तिम परिणाम पतन'। इसमें प्रमाण है—आप जैसे

व्यक्तियों का भारत-भूमि में अवतरण।"[1]

'रजत' बनाम 'धवल'

आचार्यश्री का कार्य-क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें उनका व्यक्तित्व सम्प्रदायातीत-रूप में निखार पा चुका है। यद्यपि वे एक सम्प्रदाय के आचार्य हैं, फिर भी उनका आचार्य-काल सम्पूर्ण मानव-जाति के हित में लगता रहा है। जनता उनके चारों ओर घिरती रही है और वे उसके प्रेरणा-स्रोत बनते रहे हैं। इसी प्रक्रिया का फल था कि आचार्यश्री के आचार्य-काल को पच्चीस वर्ष सम्पन्न होने वाले थे, तब सार्वजनिक रूप से उनकी रजत-जयन्ती मनाने का विचार लोगों के मन में उठा।

'रजत' शब्द भौतिक वैभव का द्योतक है, इसलिए 'धवल' शब्द को उसका तथा आचार्यश्री के कार्यों का भाव-बोधक मानकर उसके स्थान पर स्वीकार किया गया। 'रजत-जयन्ती' के स्थान पर 'धवल-समारोह' शब्द का प्रयोग अधिक सात्त्विक तथा भाव-गाम्भीर्य युक्त है। इस दिशा में एक नई परम्परा का प्रारंभ तो यह है ही।

धवल-समारोह-समिति

धवल-समारोह के विचारों को कार्य का रूप देने के लिए एक 'धवल-समारोह-समिति' का गठन किया गया। उसके पदाधिकारी निम्नोक्त व्यक्ति थे :

उ० न० ढेबर, अ० भा० कांग्रेस कमेटी के भूतपूर्व अध्यक्ष   अध्यक्ष
डा० सम्पूर्णानन्द, उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री   उपाध्यक्ष
वाइ० बी० चह्वाण, महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री   उपाध्यक्ष

---

1. नहि पूर्वतनानां महापुरुषाणां भारत-भूमौ जननं निष्फलं भवितुमर्हति। न वा विनिपात एव यार्थान्तिकः परिणामो भवेत्। तत्र च प्रमाणं भवादृशानां भारत-वसुन्धरायां क्रियासमभिहारेणाविर्भावः।
— जैन भारती, २९ जनवरी १९५९

मोहनलाल सुखाड़िया, राजस्थान के मुख्यमन्त्री — उपाध्यक्ष
बी० डी० जत्ती मैसूर के मुख्यमन्त्री — उपाध्यक्ष
श्रीमन्नारायण, योजना-आयोग के सदस्य — सयोजक
जबरमल भंडारी जैन श्वे० तेरापंथी महासभा के अध्यक्ष — सह-सयोजक
सुगनचन्द आँचलिया,
  अ० भा० अणुव्रत समिति के भूतपूर्व अध्यक्ष — सह-सयोजक
गिरधारीलाल जैन,
  दिल्ली जैन श्वे० तेरापंथी सभा के अध्यक्ष — कोषाध्यक्ष

तीन कार्य

धवल-समरोह-योजना की कार्य-परिणति में मुख्यत तीन कार्य सम्पाद्य थे :

(१) धवल-समारोह,
(२) अभिनन्दन-ग्रन्थ,
(३) आचार्य श्री की कृतियों का सम्यक् सपादन ।

व्यक्ति-पूजा या आदर्शपूजा

धवल-समारोह स्थूल रूप मे यद्यपि आचार्यश्री के सम्मान मे आयोजित था, परन्तु अन्तरंग मे वह उनकी लोकोपकारक प्रवृत्तियों का सम्मान था । पर्यायान्तर मे वह अध्यात्म का सम्मान था । इसी विचार ने आचार्य श्री को इस समारोह की स्वीकृति के लिए बाध्य कर दिया था । इस विषय में उनके अपने शब्द ये हैं—"अध्यात्म का अभिनन्दन अध्यात्म की गति का प्रेरक बन सकता है, इसी तर्क से बाध्य हो बहुत सकोच को चीरकर मुझे इस अभिनन्दन में उपस्थित होने व उसे स्वीकार करने की अनुमति देनी पड़ी ।"[१]

कहा जा सकता है कि उपर्युक्त कथन केवल औपचारिक है ।

१. जैन भारती, १८ मार्च १९६२

मूलतः ऐसे समारोहों से आदर्श-पूजा के स्थान पर व्यक्ति-पूजा को ही प्रश्रय मिलता है। इसका सहज उत्तर यही हो सकता है कि आज तक के इतिहास में कोई भी ऐसी आदर्श-पूजा उपलब्ध नहीं होती; जिसमें व्यक्ति को माध्यम नहीं बनाया गया हो। प्रत्येक आदर्श किसी-न-किसी की तपोभूमि में फलित होकर ही जनग्राह्य बना करता है। इसलिए आदर्श की ओर प्रेरित करने वाले किसी व्यक्ति को यदि हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं तो वह उपयुक्त ही है।

नवभारत टाइम्स के सम्पादक श्री अक्षयकुमार जैन इसी बात को यों कहते हैं—"सामान्यतः आज का युग व्यक्ति-पूजा का नहीं रहा है, पर आदर्शों की पूजा के लिए भी हमें व्यक्ति को ही खोजना पड़ता है। अहिंसा, सत्य व संयम की अर्चा के लिए अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी यथार्थ प्रतीक हैं। वे अणुव्रतों की शिक्षा देते और महाव्रतों पर स्वयं चलते हैं।"[1]

सुप्रसिद्ध सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश नारायण कहते हैं—"भारत-वर्ष में सदा ही त्याग और संयम का अभिनन्दन होता रहा है। आचार्य श्री तुलसी स्वयं अहिंसा व अपरिग्रह की भूमि पर हैं और समाज को भी वे इन आदर्शों की ओर मोड़ना चाहते हैं। सामान्यतया लोग सत्ता की पूजा किया करते हैं। इस प्रकार सेवा के क्षेत्र में चलने वाले लोगों का अभिनन्दन समाज करती रही तो सत्ता और अर्थ जीवन पर हावी नहीं होंगे।"[2]

उपर्युक्त सभी उद्धरण मैंने इसलिए दिये हैं कि आचार्यश्री के अभि-नन्दन को श्रद्धातिरेक न उनका शिष्य-वर्ग ही नहीं, अपितु समाज के विचारक व्यक्ति भी आदर्श-पूजा का प्रतीक मानते हैं।

---

१. आचार्य श्री तुलसी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, प्रबन्ध सम्पादक की ओर से
२. आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन-ग्रन्थ, सम्पादकीय

दो चरण

आचार्यश्री के जनोत्थानकारी कार्यों को श्रद्धांजलि अर्पित करने का जब निश्चय किया गया, तब यह विचार सामने आया कि समारोह को दो चरणों में मनाया जाना चाहिए। प्रथम चरण भाद्रपद शुक्ला नवमी को मनाया जाए; जो कि आचार्यश्री के पदारोहण का मूल दिन है और दूसरा चरण शीतकाल में किसी निर्धारित दिन पर मनाया जाए, ताकि सुदूरवर्ती क्षेत्रों में विहार करने वाले अधिकांश मुनिजन भी उसमें सम्मिलित हो सकें। विचार-विमर्श के पश्चात् समारोह को दो चरणों में मनाने का निश्चय हुआ।

प्रथम चरण

धवल-समारोह का प्रथम चरण बीदासर में मनाया गया। उस अवसर पर सहस्रों की संख्या में जनता ने उपस्थित होकर आचार्यश्री का अभिनन्दन किया। उसके अतिरिक्त केन्द्रीय विद्युत्-उपमन्त्री श्री जयसुखलाल हाथी, बीकानेर महाराजा श्री करणीसिंह, पंजाब के सिंचाई व विद्युत्-मन्त्री सरदार ज्ञानसिंह राड़ेवाला, उत्तरप्रदेश-विधान-सभा के उपाध्यक्ष रामनारायण त्रिपाठी, उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व मन्त्री लक्ष्मीरमण आचार्य, सुप्रसिद्ध समाजसेवी डा॰ युद्धवीरसिंह, उपन्यास-लेखक कामरेड यशपाल तथा कवि रामनाथ 'सुमन' आदि ने भी उनके अभिनन्दन में प्रमुख रूप से भाग लिया।

द्वितीय चरण

धवल-समारोह का मुख्य आयोजन द्वितीय चरण में ही रखा गया था। उस अवसर पर जो स्वागत-समिति का गठन किया गया, उसमें राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया स्वागताध्यक्ष थे। समारोह के लिए चोपड़ा हाईस्कूल के मैदान में पण्डाल बनाया गया था। वह स्थान विशाल तो था ही, मौके पर भी था। बीकानेर के सान्निध्य

तथा दोनों ओर सड़कों के कारण जनता के आवागमन के लिए भी काफी अनुकूल था। उपस्थित होने वाले विशाल जनसमूह की सुव्यवस्था के लिए वहां स्वयंसेवक दल का प्रबन्ध किया गया था।

भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष श्री उ० न० ढेबर की अध्यक्षता में वह समारोह किया गया था। तत्कालीन उपराष्ट्रपति (वर्तमान राष्ट्रपति) डॉ० राधाकृष्णन् आदि देश के अनेक गण्यमान्य नेता, साहित्यकार और पत्रकार उसमें सम्मिलित होने और आचार्यश्री को श्रद्धांजलि अर्पित करने को एकत्रित हुए थे। जनता की तो अपार भीड़ थी ही।

ग्रन्थ-समर्पण

आचार्यश्री को उसी समारोह में डॉ० राधाकृष्णन् द्वारा 'आचार्यश्री तुलसी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' समर्पित किया जाना था। मंगलाचरण, स्वागत भाषण आदि के पश्चात् अभिनन्दन-ग्रन्थ के सम्पादक-मण्डल की ओर से जननेता जयप्रकाश बाबू ने आचार्यश्री का अभिनन्दन करते हुए ग्रन्थ समर्पण के लिए उपराष्ट्रपति को निवेदन किया। उन्होंने कहा—"आज हम सब आचार्यश्री के धवल-समारोह में सम्मिलित हुए हैं। इस अवसर पर आचार्यश्री को मानने वालों में मैं भी अपने आपको मानता हूं। मैंने अपना एक ही मत स्थिर किया है और वह है—मानव-धर्म। मुझे जहां-जहां मानवता के दर्शन हुए हैं; मैं वहां झुका हूं। आचार्यश्री में भी मैंने मानवता का साक्षात् रूप पाया है। मैं संपादक-मण्डल की ओर से आचार्यश्री का धवल-अभिनन्दन करता हूं और माननीय उपराष्ट्रपतिजी से निवेदन करता हूं कि अब वे अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करें।"[1]

उपराष्ट्रपति ने ग्रन्थ भेंट करने से पूर्व अपने भाषण में कहा—"राजनीतिक नेताओं और राजे-रजवाड़ों को अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने की पुरानी परम्परा रही है, पर किसी राष्ट्र-संत का अभिनन्दन यह एक

१. १८ मार्च १९६२

नया सूत्रपात है।... मैं अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हूँ कि राष्ट्र-संत का अभिनन्दन मैं कर रहा हूँ... ।"[1]

अपने भाषण की सम्पन्नता के पश्चात् उपराष्ट्रपति ने मंच पर खड़े होकर बड़े ही आदर और विनम्रभावों के साथ आचार्यश्री के कर-कमलों में अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया। मंच पर बैठे सभी आगन्तुक उस समय आदर व भक्ति व्यक्त करने के लिए खड़े हो गए थे। सामने समुद्र की तरह लहराता हुआ जन-समूह उस दृश्य की रमणीयता में अपने आपको विस्मृत किये हुए तल्लीनता से देख रहा था। उस समर्पण के क्षण को हर कोई की आँखें पूर्णतः आत्मसात् कर लेने को आतुर थीं। वस्तुतः वह एक अभूतपूर्व दृश्य था।

अभिनन्दन-ग्रन्थ

अभिनन्दन-ग्रन्थ की सामग्री आचार्यश्री की गरिमा के अनुरूप है। यह विशाल ग्रन्थ लगभग आठसौ पृष्ठों का है। सामग्री-चयन में यह ध्यान रखा गया है कि वह एक प्रशस्तिग्रन्थ ही न रहे; अपितु दर्शन और जीवन-व्यवहार का एक सर्वाङ्गीण शास्त्र बन जाए। उसके चारों अध्याय अपनी पृथक्-पृथक् मौलिकता लिये हुए हैं।

प्रथम अध्याय श्रद्धांजलि और संस्मरण-प्रधान है। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक प्रभाव-क्षेत्र होता है और उससे उसे यथा-समय श्रद्धा भी प्राप्त होती है; परन्तु सबका प्रभाव-क्षेत्र समान नहीं होता। किसी का प्रभाव-क्षेत्र केवल अपना घर ही होता है तो किसी का सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा विश्व। अध्यात्म और नैतिकता के उन्नायक होने के कारण आचार्यश्री का व्यक्तित्व सर्वक्षेत्रीय बन गया है और वह इस अध्याय से निर्विवाद अभिव्यक्त होता है। देश और विदेश के विभिन्न व्यक्तियों ने उनके प्रति जो उद्गार व्यक्त किये हैं; वे उनके व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव डालते हैं।

---

1. जैन भारती, १८ मार्च १९६२

द्वितीय अध्याय में उनका जीवन-वृत्त है। हरएक महापुरुष का जीवन-वृत्त प्रेरणादायी होता है, फिर आचार्यश्री ने तो अपने समग्र जीवन को अहिंसा और सत्य के लिये समर्पित किया है। सर्व-साधारण के लिए यह एक दीप-स्तंभ का कार्य करने वाला कहा जा सकता है।

तृतीय अध्याय में अणुव्रतों की भावना पर प्रकाश डाला गया है। विभिन्न लेखकों ने समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र के आधार पर विभिन्न पहलुओं से समाज की नैतिक आवश्यकता पर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया है। यह अध्याय एक प्रकार से संक्षिप्त नैतिक दर्शन कहा जा सकता है।

चतुर्थ अध्याय का विषय है—दर्शन और परम्परा। इस अध्याय के शोधपूर्ण लेख, बड़ी महत्त्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करते हैं। यद्यपि इस अध्याय के अधिकांश लेख जैन-दर्शन से सबद्ध हैं; फिर भी वे तुलनात्मक अध्ययन करने वालों के लिये जैन-दर्शन-सम्बन्धी विभिन्न जानकारी प्राप्त करने में बहुत उपयोगी हो सकते हैं।

सम्पादक-मण्डल

ग्रन्थ के प्रबन्ध-सम्पादक के कथनानुसार इस ग्रन्थ का संकलन, सम्पादन और प्रकाशन केवल छह महीने में ही सम्पन्न हो गया। यह आशातीत ही कहा जा सकता है। सम्पादक-मण्डल का कार्य-कौशल इस त्वरा में सम्भवतः मुख्य कारण रहा हो। सम्पादक-मण्डल के सदस्य निम्नोक्त व्यक्ति थे—

श्री जयप्रकाश नारायण
श्री नरहरि विष्णु गाडगिल
श्री के० एम० मुन्शी
श्री हरिभाऊ उपाध्याय
श्री मुकुट बिहारी वर्मा
श्री अक्षयकुमार जैन

मुनि श्री नगराजजी
श्री मैथिलीशरण गुप्त
श्री एन० के० सिद्धान्त
श्री जैनेन्द्रकुमार
श्री जबरमल भंडारी
श्री मोहनलाल कठौतिया (व्यव०)

मुनिश्री नगराजजी का परिश्रम तो इसके आद्योपान्त नख महान रूपमें था ही। श्रीजयप्रकाश नारायण ने इस बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"ग्रन्थ सम्पादन की शालीनता का सारा श्रेय मुनिश्री नगराजजी को है। साहित्य और दर्शन उनका विषय है। मैं सम्पादक मण्डल में अपना नाम इसीलिए दे पाया कि वह कार्य इनकी देख रेख में होना है।"[1]

आचार्य श्री का उत्तर

आचार्य श्री ने इस अभिनन्दन को अपना तो नहीं माना, फिर भी जनता ने उन्हीं का अभिनन्दन किया था, अतः उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा—"अध्यात्म से भिन्न मेरा अस्तित्व नहीं है। इसीलिए लोग सोचते हैं कि मेरा अभिनन्दन हो रहा है। मेरे लिए अध्यात्म ही सब कुछ है। इसलिए मैं सोचता हूँ कि उसी का अभिनन्दन है। मैंने दूसरों का विकास या उत्थान करने का कभी दावा नहीं किया, तो उनका अभिनन्दन लेने का अधिकार मुझे कैसे मिल सकता है? मैं अपने विकास व उत्थान के लिए चला; वह दूसरों के विकास का निमित्त बन गया। इसीलिए लोग मानते होंगे कि मैं उनका विकास कर रहा हूँ। अनात्मवान् को जो पूजा प्राप्त होती है; वह उसके हित के लिए नहीं होती और आत्मवान् को जो पूजा प्राप्त होती है, वह उसके हित-सम्पादन में सहायक होती है—भगवान् महावीर की इस वाणी में जो प्रेरक सन्देश है, उससे प्रेरणा लूं; प्राप्त पूजा से और अधिक विनम्र बनूं, यही शब्द मेरे अग्रिम जीवन के प्रकाश-दीप होंगे।"[2]

उपलब्ध तथ्य

अपने आचार्य-काल के पच्चीस वर्षों के अनुभवों के आधार पर उन्हें जो तथ्य उपलब्ध हुए; उनको उन्होंने अभिनन्दन का उत्तर देते हुए इस

1. आचार्य श्री तुलसी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, सम्पादकीय
2. जैनभारती, १८ मार्च १९६२

द्वितीय अध्याय में उनका जीवन-वृत्त है । हरएक महापुरुष का जीवन-वृत्त प्रेरणादायी होता है, फिर आचार्यश्री ने तो अपने समग्र जीवन को अहिंसा और सत्य के लिये समर्पित किया है । सर्व-साधारण के लिए वह एक दीप-स्तम्भ का कार्य करने वाला कहा जा सकता है ।

तृतीय अध्याय में अणुव्रतों की भावना पर प्रकाश डाला गया है। विभिन्न लेखकों ने समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र के आधार पर विभिन्न पहलुओं से समाज की नैतिक आवश्यकता पर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया है । यह अध्याय एक प्रकार से संक्षिप्त नैतिक दर्शन कहा जा सकता है ।

चतुर्थ अध्याय का विषय है—दर्शन और परम्परा । इस अध्याय के शोधपूर्ण लेख, बड़ी महत्त्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करते हैं । यद्यपि इस अध्याय के अधिकांश लेख जैन-दर्शन से सबद्ध हैं; फिर भी वे तुलनात्मक अध्ययन करने वालों के लिये जैन-दर्शन-सम्बन्धी विभिन्न जानकारी प्राप्त करने में बहुत उपयोगी हो सकते हैं ।

सम्पादक-मण्डल

ग्रन्थ के प्रबन्ध-सम्पादक के कथनानुसार इस ग्रन्थ का संकलन, सम्पादन और प्रकाशन केवल छह महीने में ही सम्पन्न हो गया । यह आशातीत ही कहा जा सकता है । सम्पादक-मण्डल का कार्य-कौशल इस त्वरा में सम्भवतः मुख्य कारण रहा हो । सम्पादक-मण्डल के सदस्य निम्नोक्त व्यक्ति थे—

श्री जयप्रकाश नारायण	मुनि श्री नथमलजी
श्री नरहरि विष्णु गाडगिल	श्री मैथिलीशरण गुप्त
श्री के० एम० मुन्शी	श्री एन०
श्री हरिभाऊ उपाध्याय	
श्री मुकुट बिहारी वर्मा	
श्री अक्षयकुमार जैन	

मुनिश्री नगराजजी का परिश्रम तो इसके आलीशान तन महान रूप में था ही। श्री जयप्रकाश नारायण ने इस बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"ग्रन्थ सम्पादन की शालीनता का सारा श्रेय मुनिश्री नगराजजी को है। साहित्य और दर्शन उनका विषय है। मैं सम्पादक मण्डल में अपना नाम इसीलिए दे पाया कि यह कार्य इनकी देख-रेख में होना है।"[1]

आचार्य श्री का उत्तर

आचार्य श्री ने इस अभिनन्दन को अपना तो नहीं माना फिर भी जनता ने उन्हीं का अभिनन्दन किया था, अतः उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा—"अध्यात्म से भिन्न मेरा अस्तित्व नहीं है। इसीलिए लोग सोचते हैं कि मेरा अभिनन्दन हो रहा है। मेरे लिए अध्यात्म ही सब कुछ है। इसलिए मैं सोचता हूँ कि उसी का अभिनन्दन है। मैंने दूसरों का विकास या उत्थान करने का कभी दावा नहीं किया, तो उनका अभिनन्दन लेने का अधिकार मुझे कैसे मिल सकता है? मैं अपने विकास व उत्थान के लिए चला; वह दूसरों के विकास का निमित्त बन गया। इसीलिए लोग मानते होंगे कि मैं उनका विकास कर रहा हूँ। अनात्मवान् को जो पूजा प्राप्त होती है; वह उसके हित के लिए नहीं होती और आत्मवान् को जो पूजा प्राप्त होती है, वह उसके हित-सम्पादन में सहायक होती है—भगवान् महावीर की इस वाणी में जो प्रेरक सन्देश है, उससे प्रेरणा लूं; प्राप्त पूजा से और अधिक विनम्र बनूं, यही भावना मेरे अग्रिम जीवन के प्रकाश-दीप होंगे।"[2]

उपलब्ध तथ्य

अपने आचार्य-काल के पच्चीस वर्षों के अनुभवों के आधार पर उन्हें जो तथ्य उपलब्ध हुए; उनको उन्होंने अभिनन्दन का उत्तर देते हुए इस

१. आचार्य श्री तुलसी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, सम्पादकीय
२. जैनभारती, १८ मार्च १९६२

शब्दों में व्यक्त किया—"मेरे आध्यात्मिक नेतृत्व के २५ वर्ष पूर्ण हुए हैं। इस अवधि में मुझे जो वस्तु-सत्य उपलब्ध हुए, उन्हें मैं आपके सम्मुख प्रस्तुत करना चाहता हूँ। उनमें से कुछ ये हैं :

१. अध्यात्म शून्य बुद्धिवाद मनुष्य को भटकाने वाला होता है।

२. साधना की गहराई में समुदायवाद और व्यवहार की चोटी पर व्यक्तिवाद, ये दोनों ही भ्रान्त हैं।

३. नग्न सत्य के बिना सवस्त्र सत्य कोरा आभास होता है; तो सवस्त्र सत्य के बिना कोरा नग्न सत्य अनुपादेय। इसलिए इन दोनों की सहावस्थिति ही मनुष्य को सत्य की उपलब्धि करा सकती है।

४. धर्म-सस्थान के बिना अध्यात्म प्रगतिशील नहीं रह सकता है।

५. भौतिकता मनुष्य को विभक्त करती है। उसकी एकता अध्यात्म के क्षेत्र में ही सुरक्षित है।

६. धर्म-सस्थान राजनीति और परिग्रह से निर्लिप्त रहकर ही अपना अस्तित्व रख सकते हैं।

७. वर्तमान जीवन में मोक्ष की अनुभूति करके ही कोई धार्मिक या आध्यात्मिक बन सकता है। केवल परलोक के लिए धर्म करने वाला अच्छा धार्मिक नहीं बन सकता।

८. आध्यात्मिक एकता का विकास होने पर ही सह-अस्तित्व का सिद्धान्त क्रियान्वित हो सकता है। जातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद और राष्ट्रवाद की सीमाएँ निर्विकार हो सकती हैं। अभेद बुद्धि को विकसित किये बिना कोई भी व्यक्ति दूसरों को नहीं अपना सकता।

९. धर्म को सर्वोच्च उपलब्धि मानकर ही मनुष्य साम्राज्यवादी आक्रामक मनोवृत्ति को त्याग सकता है।"[1]

[illegible] से

इस अवसर पर आध्यात्मिक विकास के लिए वर्तमान की

---

[1] [illegible], १८ मार्च १९६२

साधु-संस्थाओं को भी कुछ बातें सुझाव के रूप में कही थी। वे इस प्रकार हैं :

१. राजनीति में हस्तक्षेप न करें।

२. परिग्रह से अलिप्त रहें।

३. जातिवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद, राष्ट्रवाद आदि झमेलों में न पड़ें। शान्ति, समन्वय और विश्व की एकता का प्रचार करें।

४. नवीनता या प्राचीनता का मोह न करें, सदा समीचीनता का समादर करें।

५. चारित्रिक विकास को ही अपना कार्य-क्षेत्र बनाएं।

६. सुशिक्षित, सुव्यवस्थित और अनुशासित हों।[1]

गौरव-पूर्ण अस्तित्व के लिए

आज के भौतिक और बौद्धिक युग में साधु-संस्था को अपने गौरव-पूर्ण अस्तित्व के लिए जिन प्रमुख बातों की आवश्यकता है, उनको उन्होंने इस प्रकार गिनाया था :

१. लक्ष्य के प्रति दृढ़ आस्थावान् होना।

२. अपने नेता, सहधर्मिकों व स्वयंभूत सिद्धान्तों के प्रति समर्पित होना।

३. बाह्य उपकरणों व आवश्यकताओं को अत्यल्प रखना।

४. अनुशासन, विनय और वात्सल्य का समुचित समादर करना।

५. पद-लोलुपता व निर्वाचन से मुक्त रहना।

६. श्रम-परायण होना और आरामपरकता से बचना।

७. लोक-संग्रह की अपेक्षा लोक-कल्याण पर अधिक ध्यान देना।[2]

अनुग्रह और आह्वान

आचार्य श्री ने उस अवसर पर तेरापंथ के साधु-साध्वियों को उनकी

---

१. जैन भारती, १८ मार्च १९६२

२. जैन भारती, १८ मार्च १९६२

प्रगति पर साधुवाद देते हुए आह्वान किया था, वह इस प्रकार है—
"मैंने इन २५ वर्षों में जिस साधु-संस्था का नेतृत्व किया है; उसका अतीत उत्तम रहा है, वर्तमान गौरवपूर्ण है और भविष्य उज्ज्वल दिखता है, क्योंकि उसमें अनुशासन है, व्यवस्था है, विनय और वात्सल्य की भावना है, श्रद्धा और बुद्धिवाद का समन्वय है तथा सत्य के प्रति एक अडिग विश्वास है।

मैं अपने साधु-साध्वियों को प्राप्त विशेषताओं के लिए साधुवाद देता हूँ और अप्राप्त विशेषताओं की प्राप्ति के लिए उनका आह्वान करता हूँ।"[1]

आभार प्रदर्शन

सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी के प्रति आचार्यश्री ने इस अवसर पर जो आभार प्रदर्शित किया था, वह इस प्रकार है :

"सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी ! आपसे मुझे बहुत सत्प्रेरणाएँ मिली। मेरे विकास में आपका बहुत योग रहा है। इससे मैं प्रसन्न हूँ। इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं अत्यन्त कृतज्ञ भाव से आपके प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ।"

सम्मान

मुनिश्री चम्पालालजी (मीठिया) और लाडाजी का सम्मान करते हुए उन्होंने ये उद्गार व्यक्त किये थे :

"विनयनिष्ठ मुनि चम्पालालजी (मीठिया) आपकी सहज विनम्रता से मैं प्रसन्न हूँ। इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं आपका विनयनिष्ठ के रूप में सम्मान करता हूँ।

"विनयनिष्ठा सुशिष्या लाडाजी ! तुम्हारी सहज विनम्रता से मैं प्रसन्न हूँ। धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हारा विनय-निष्ठा के रूप में सम्मान करता हूँ।"

---

१. जैन भारती, १८ मार्च १९६२

परामर्शक-नियुक्ति

मुनि बुद्धमल्ल तथा मुनिश्री नगराजजी को आचार्य श्री ने उस अवसर पर क्रमशः अपने साहित्य-विभाग और अणुव्रत-विभाग का परामर्शक नियुक्त किया। नियुक्ति-पत्र इस प्रकार है

"सुशिष्य मुनि बुद्धमल्ल जी ! तुमने साहित्य के माध्यम से धर्म-शासन की श्रीवृद्धि में जो प्रशसनीय योग दिया है, उससे मै प्रसन्न हूँ। इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हे साहित्य-विभाग-परामर्शक के रूप में नियुक्त करता हूँ।"

"सुशिष्य मुनि नगराजजी ! तुमने आन्दोलन के माध्यम से धर्म-शासन की श्रीवृद्धि करने मे जो प्रशसनीय योग दिया है, उससे मैं प्रसन्न हूँ। इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हे अणुव्रत-विभाग-परामर्शक के रूप मे नियुक्त और अग्रगण्य की सागत के रूप गाथाओ से मुक्त करता हूँ।"

आशीर्वाद

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम', मुनि दुलहराजजी और साध्वी कस्तूराँ जी को आचार्यश्री ने आशीर्वाद प्रदान किया। वह इस प्रकार है

"सुशिष्य मुनि महेन्द्र जी ! तुमने अणुव्रत-प्रसार और साहित्य की दिशा में जो प्रयत्न किया है; उससे मै प्रसन्न हूँ। विशेष प्रगति के लिए इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हे आशीर्वाद देता हूँ।"

"सुशिष्य मुनि दुलहराज जी ! तुमने साहित्य के क्षेत्र मे जो प्रगति की है, उसमें मै प्रसन्न हूं। दक्षिण प्रान्तीय एव अग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं के साहित्य में विशेष प्रगति के लिए इस धवल-समारोह के अवसर पर मै तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ।"

"सुशिष्या कस्तूराँ जी ! तुमने सुदूर प्रान्त दक्षिण में अणुव्रत-आन्दोलन की प्रगति के लिये जो यत्न किया; उससे मै प्रसन्न हूँ।

कार्य-क्षमता के लिये इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ।"

वदनांजी के प्रति

मातृवरा वदनाजी के प्रति आचार्यश्री ने जो उद्गार व्यक्त किये थे, वे इस प्रकार हैं.

"ऋजुमना साध्वीवरा वदनांजी ! आपसे मुझे मातृवात्सल्य के साथ-साथ जो पवित्र संस्कार मिले; वे मेरे जीवन-विकास के महा हेतु बने। मैंने जो सत्प्रयत्न किया उसमें आपकी तपःपूत भावनाएँ स मेरे साथ रही हैं।

स्मरण

उस अवसर पर उन्होंने विभिन्न गुणों के आधार पर अनेक व्यक्ति का स्मरण किया था। वह इस प्रकार है.

साध्वी श्री लाडांजी को विनयनिष्ठा के रूप में, पंडित रघुनन्दनजं शर्मा को शासन-सेवी एवं विशिष्ट-अणुव्रती के रूप में, प्रतापमलजं मेहता को शासन-सेवी के रूप में एवं कल्याणमलजी बरड़िया को अणु व्रती एवं त्यागव्रतिक के रूप में स्मरण किया गया था।

विविध गोष्ठियाँ

धवल-समारोह के अवसर पर विभिन्न गोष्ठियों के आयोजन भी रखे गये थे। श्रीमन्नारायणजी की अध्यक्षता में अणुव्रत-विचार-परिषद्, डॉ॰ हरिवंशराय 'बच्चन' की अध्यक्षता में कवि-सम्मेलन, इसी प्रकार दर्शन-परिषद्, साहित्य-परिषद् एवं अणुव्रत-अधिवेशन आदि द्वारा समागत जनता को विशेष रूप से अध्यात्म का पोषण मिलता रहा।

विशेषांक समर्पण

धवल-समारोह के द्वितीय चरण के अवसर पर मुनिजनों द्वारा इग-

लिखित पत्रिका 'जयज्योति' का एक अभिनन्दन-विशेषांक भी निकाला गया था। उसमें विभिन्न लेखकों द्वारा संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन और अर्वाचीन पच्चीस भाषाओं में श्रद्धांजलियाँ तथा लेख लिखे गये थे। सम्पादक-मण्डल की ओर से मुनिश्री मोहनलालजी 'शार्दूल' ने उसे आचार्यश्री के चरणों में समर्पित किया था।

साहित्य-सम्पादन

धवल-समारोह के अवसर पर आचार्यश्री की कृतियों का सम्यक् सम्पादन करने का निश्चय किया गया था। तदनुसार श्रमण सागर और मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' इस कार्य को सम्पन्न करने में लगे। अनेक ग्रन्थ उनकी सम्पादकता में जनता के सामने आये।

साहित्य की भेंट

आचार्यश्री तथा मुनिजनों द्वारा नव निर्मित साहित्य में से अनेक ग्रन्थों को भारत के सुप्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थान 'आत्माराम एण्ड सन्स' ने प्रकाशित किया। धवल-समारोह के दोनों ही चरणों के अवसर पर संस्थान के संचालक श्री रामलाल पुरी ने स्वयं आकर उन प्रकाशित ग्रन्थों को अपनी संस्था की ओर से आचार्यश्री के चरणों में भेंट किया। उन में आचार्यश्री की रचनाओं के अतिरिक्त विभिन्न साधुओं की रचनाएँ भी थीं।

प्रकाशन की दृष्टि से वह भेंट आत्माराम एण्ड सन्स की अवश्य थी; पर लेखन की दृष्टि से तो वह विभिन्न लेखकों की भेंट थी।

द्वितीय परिशिष्ट

आचार्यश्री के चातुर्मासों की सूची

१९९३ गंगापुर	२००७ हांसी
१९९४ बीकानेर	२००८ दिल्ली
१९९५ सरदारशहर	२००९ सरदारशहर
१९९६ बीदासर	२०१० जोधपुर
१९९७ लाडणू	२०११ बम्बई
१९९८ राजलदेसर	२०१२ उज्जैन
१९९९ चूरू	२०१३ सरदारशहर
२००० गंगाशहर	२०१४ सुजानगढ़
२००१ सुजानगढ़	२०१५ कानपुर
२००२ श्री डूंगरगढ़	२०१६ कलकत्ता
२००३ राजगढ़	२०१७ राजनगर
२००४ रतनगढ़	२०१८ बीदासर
२००५ छापर	२०१९ उदयपुर
२००६ जयपुर	२०२० लाडणू

आचार्यश्री के मर्यादा-महोत्सवों की सूची

१९९३ ब्यावर	१९९५ रतनगढ़
१९९४ गंगाशहर	१९९६ सरदारशहर

१९९७ लाडणू
१९९८ सरदारशहर
१९९९ श्री डूंगरगढ़
२००० गंगाशहर
२००१ सुजानगढ़
२००२ सरदारशहर
२००३ चूरू
२००४ बीदासर
२००५ राजलदेसर
२००६ जयपुर
२००७ भिवानी
२००८ सरदारशहर
२००९ सरदारशहर
२०१० राणावास स्टेशन
२०११ बम्बई
२०१२ भीलवाड़ा
२०१३ सरदारशहर
२०१४ लाडणू
२०१५ सैंथिया
२०१६ हाँसी
२०१७ आमेट
२०१८ भीनासर
२०१९ राजनगर

*

तृतीय परिशिष्ट

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

अग्नि-परीक्षा
अणुव्रत-आन्दोलन
अणुव्रत-जीवन-दर्शन
आचारांग
आचार्य तुलसी
आनन्द बाजार पत्रिका
आषाढ़भूति
कालू उपदेश-वाटिका
कालूयशोविलास
'क्वासि
चतुर्वर्ग चिन्तामणि
जनपद विहार, भा० २
जैन भारती
टाईम (पत्र)
तत्त्व चर्चा
दशवैकालिक
दी माइंड ग्रॉफ मि० नेहरू
नव निर्माण की पुकार
नवभारत टाइम्स (पत्र)
नैतिक संजीवन
प्रबुद्ध-जीवन (पत्र)
भरत-मुक्ति
माणक महिमा
मेघदूत
वार्तालाप-विवरण
विशेष विवरण
हरिजन सेवक (पत्र)
हिन्दुस्तान टाइम्स (पत्र)
हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड (पत्र)
ज्ञानोदय (पत्र)

व्यक्तियों के नाम

गाँवों के नाम

सम्मतियां

मुनिवर श्री बुद्धमल्लजी की अभिनव कृति "आचार्य श्री तुलसी-जीवन-दर्शन" वस्तुतः एक सुन्दर जीवन-दर्शन है। विद्वान् लेखक ने आचार्य श्री तुलसी के जीवन के प्रत्येक पहलू पर मार्मिक चिन्तन के साथ सुन्दर प्रकाश डाला है। तेरापंथ सम्प्रदाय के महान् उन्नायक के रूप में आचार्य श्री के भव्य व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हुए यह दिखाया गया है कि किस प्रकार उन्होंने अमुक सीमाओं में चले आ रहे तेरापंथ को मनुष्य मात्र का पथ बनाने के लिए सक्रिय प्रयास किये हैं। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक के रूप में किया गया भावनापूर्ण विश्लेषण भी काफी विचारोत्तेजक है। पुस्तक में यत्र-तत्र आचार्यश्री को इधर-उधर के संघर्षों का दृढ़तापूर्वक सामना करते हुए हम पाते हैं, जो प्रायः प्रत्येक विचारक घर और बाहर में सदा से करता आया है।

मुनिश्री धन्यवाद के पात्र हैं कि वे वर्तमान जीवन-चरित्रों की परम्परा में एक सुन्दर कलापूर्ण एवं विश्लेषणात्मक जीवन-ग्रन्थ जोड़ सके। क्योंकि किसी भी बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी युगपुरुष के जीवन को शब्दों की रेखाओं में बांध देना सहज काम नहीं।

१ नवम्बर' ६१ —उपाध्याय अमर मुनि

"आचार्य श्री तुलसी : जीवन-दर्शन" के अनेक प्रेरक प्रसंग रुचिपूर्वक पढ़ गया। केवल-सैद्धान्तिक विवेचन बहुधा शुष्क रूप धारण कर लेता है, किन्तु इस पुस्तक के पढ़ने से प्रेरणा मिलती है तथा उदात्त भाव

हृदय में जागृत होती है। चरित्र निर्माण के लिए इस प्रकार के ग्रन्थों की आज बड़ी आवश्यकता है। —डा० कन्हैयालाल सहल

१७ अक्टूबर, ६२ प्रिंसिपल

बिड़ला आर्ट्स कॉलेज, पिलानी

आज आचार्यश्री तुलसी को कौन नहीं जानता ? वे देश के एक महान् सन्त हैं। उनके अणुव्रत-आन्दोलन ने उन्हें बड़े से बड़े राष्ट्रीय नेता की तरह इतना अधिक लोक-परिचित बना दिया है कि उनके जीवन-दर्शन को हर व्यक्ति पढ़ना पसन्द करेगा।

प्रस्तुत पुस्तक में उनके बालपन से लेकर इस पुस्तक के प्रकाशन के समय तक की उन सभी मुख्य-मुख्य घटनाओं का वर्णन है जो वस्तुतः उल्लेखनीय हैं। इसके पढ़ने से पाठक का मन ऊबता नहीं, वह उसमें डूब जाता है और उपन्यास के पढ़ने की तरह इसमें रस लेता है। आचार्य श्री तुलसी ने जो तीन प्रबन्ध काव्य—आषाढ़भूति, भरत-मुक्ति और अग्नि-परीक्षा लिखे हैं, उनका भी इस पुस्तक में संक्षिप्त परिचय दिया गया है। भरत-मुक्ति के चौथे सर्ग में हिंसा और अहिंसा के विषय में उनकी स्पष्ट व्यवस्था पढ़िए:—

"है हिंसा आक्रामकता भय खाना भी हिंसा है,
उसमें बर्बरता, इसमें जग में निंदा खिसा है।
दोनों से अभिमिश्रण है, दोनों में है दुर्बलताएं,
क्यों लड़ें किसी से डरकर क्यों मरने से घबराएं ?
हैं आक्रमण पलायन भयभीतों के दो लक्षण,
बचते जो इन दोनों से, वे ही गम्भीर विचक्षण।
वास्तव में अहिंसा होती, जहाँ भय का काम नहीं है,
अत्रस्त भयाकुल प्राणी, लेते *विश्राम* यहीं हैं।"

लेखन, सम्पादन एवं प्रकाशन सभी दृष्टियों से पुस्तक उपादेय है।

३ जनवरी, ६३ —वीरवाणी, जयपुर